दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

प्रधान संपादक

डॉ. व्रज कुमार पाण्डेय

पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

कार्यकारी संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

शैलेन्द्र सेंगर

प्रबंध संपादक, एडिटोरियल इंडिया, दिल्ली

संपादक

निर्मल कुमार सिंह

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 1 **अंक** : 4 ❑ अगस्त 2009

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड

डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरबोरोग, ओन्टारियो

डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची

डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका

डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

समन्वय संपादक

सुरेन्द्र कुमार सिंह (मो. 09334626350)

चन्द्रकांत सिंह (मो. 09931010959)

संपादकीय सम्पर्क:

120, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091

फोन : 011-43015270, 64683387

e-mail : editorialindia@yahoo.com

website: www.editorialindia.in

©Editorial India

मूल्य : रूपये 100.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुंमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई-56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस-2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

शोधपत्रों को छपवाने की बढ़ती मांग और गुणवत्ता का सवाल

व्याख्याता बहाली और विश्वविद्यालयों में रीडर-प्रोफेसर पदों पर प्रोन्नति के लिए प्रकाशित शोधपत्रों की अनिवार्यता ने शोध पत्रिकाओं के महत्व को बढ़ा दिया है। लेकिन शोधपत्रिकाओं खासकर हिन्दी में प्रकाशित होने वाली शोध पत्रिकाओं के अभाव में अभ्यर्थियों की परेशानियां देखने लायक हैं। हिन्दी वॉङमय में शोध की प्रवृत्तियां सत्तर के दशक तक कहीं नजर नहीं आती थी। पहले व्याख्याता बनने के लिए एम॰ ए॰, एम॰ ए॰ सी॰, एम॰ कॉम की डिग्रियां और इन्टरव्यू भी जरूरी होता था। धीरे-धीरे पी-एच॰ डी॰ और डि॰ लिट॰ की डिग्रियां भी मांगी जाने लगीं। फिर क्या था—हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी में शोध होने लगे। पहले हिन्दी भाषा और साहित्य को छोड़कर न तो स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी माध्यम से पढ़ाई होती थी और न हिन्दी में शोध प्रबंध लिखे जाते थे। लेकिन हिन्दी माध्यम से स्नातकोत्तर की पढ़ाई के साथ हिन्दी में शोधकार्य भी होने लगे। उत्तर प्रदेश में यह कार्य पच्चास के दशक में ही शुरू हो गया था। वेदप्रताप वैदिक का जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय में हिन्दी में शोध करने का मामला संसद तक पहुंचा था। विश्वविद्यालय हिन्दी में शोध करने की इजाजत देना नहीं चाहता था। मीडिया ने इस सवाल को खूब उछाला। संसद में लोहिया और उनकी पार्टी ने खूब जोर लगाया। अन्ततः विश्वविद्यालय को झुकना पड़ा और वेदप्रताप वैदिक ने अपने शोधकार्य हिन्दी में संपन्न किये। आज वैदिक अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार करने वाले प्रतिष्ठित और बड़े पत्रकार हैं। करीब-करीब सभी हिन्दी समाचार पत्रों में वैदिक के अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर कालम छपते हैं।

समाज विज्ञान और वाणिज्य जैसे संकायों में हिन्दी में क्या अंग्रेजी में भी शोध पत्रिकाएं कम छपती हैं क्योंकि प्रेस और पेपर की बढ़ती कीमतें इनके मार्ग के बड़े रोड़े हैं। इसके खरीददार वही हैं जिनका विश्वविद्यालयों में पढ़ने-पढ़ाने से संबंध है। अमूमन शोध पत्रिकाएं या तो शोध संस्थान छापते हैं या विभिन्न विषयों के राष्ट्रीय या राज्य स्तर के संगठन निकालते हैं। कुछ विश्वविद्यालय भी यह काम करते हैं। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अनुदान भी देता है। लेकिन कोई भी सरकारी या अर्द्धसरकारी शिक्षण संस्थान शोध पत्रिकाओं के प्रकाशन की निरन्तरता बनाये रखने में समर्थ होता नजर नहीं आता है।

इधर बिहार और झारखंड जैसे राज्यों में 15-20 वर्षों से पढ़ाई-लिखाई के माहौल के बिगड़ जाने के कारण, जिसमें सरकार की भूमिका भी अहम रही है, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में बड़ी संख्या में शिक्षक सेवानिवृत्त हो गये लेकिन उनकी जगह पर नयी नियुक्तियां नहीं हुई। परिणामतः वर्तमान सरकार के सामने व्याख्याताओं की बहाली का सवाल है। इन बहालियों के लिए जो निर्धारित योग्यता मांगी जा रही है उसमें शोधपत्रों के लिए दस अंक निर्धारित किये गये हैं। इस दस अंक के लिए अभ्यर्थियों में मारधाड़ मची है। अभ्यर्थियों के पास एम॰ ए॰ और पी-एच॰ डी॰ की डिग्रियां कैसे मिलती रही हैं और शोधपत्र कैसे लिखे जाते रहे हैं—इसकी जानकारी किसे नहीं है। ऐसे में शोधपत्र की गुणवत्ता का प्रश्न तो बड़ा प्रश्न है। उसके साथ-साथ शोधपत्र लिखे जाने और छपने का सवाल भी बड़ी समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए ही हमने 'दृष्टिकोण' का प्रकाशन शुरू किया है। यह किसी संस्था या किसी प्रतिष्ठान से अलग

निजी प्रयास है। इसका सहयोग हिन्दी वॉङ्मय के विद्वान कर रहे हैं और इसकी गुणवत्ता के कारण कुछ विश्वविद्यालयों में प्राचार्यों की नियुक्ति में चयन समिति ने 'दृष्टिकोण' में प्रकाशित शोधपत्रों को मानक मानकर पूरे अंक दिये हैं और ऐसे अभ्यर्थी प्राचार्य बन भी गये हैं।

यद्यपि हम इसकी गुणवत्ता को बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं। हमारी अपनी सीमाएं हैं। हम स्वयं लिख नहीं सकते। हमारे पास जो शोधपत्र आते हैं उसको ही हमें छापना पड़ता है। इसमें यदि कोई कमी रह जाती है तो संपादक मंडल की नहीं शोधपत्र लिखने वाले की है। मैंने ऊपर ही निवेदित किया है कि शोध पत्रिकाओं की मार्केटिंग नहीं की जा सकती है। अत: यह स्वान्त: सुखाय एक प्रयास है। यह कहां तक और कब तक चलेगा कहना मुश्किल है। प्रयास जारी रहेगा।

–डॉ. अश्विनी महाजन

इस अंक में

भारत की नाभिकीय नीतिः एक विवेचना–एहसान अहमद 7

'साम्प्रदायिकता' राष्ट्र विकास में बाधक–डॉ. अजय कुमार 11

भारत में क्षेत्रीयतावादः पृथक् राज्य के सन्दर्भ में–महेश कुमार पासवान 14

दक्षिण एशिया में भारतीय विदेश नीति की जटिलताः एक विश्लेषण–डॉ. संदीप कुमार एवं डॉ० इकबाल इमाम 21

लोकतंत्र और पंचायती राजः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन–मुन्ना कुमार राम 25

मानवाधिकार की अवधारणा एवं वैश्विक युग में उसकी वास्तविकता–डॉ. पूनम कुमारी 30

भारत में समाजवादी एवं साम्यवादी आन्दोलनः एक अध्ययन–विनोद कुमार 34

चुनाव आचार संहिता और भारतीय राजनीति–डॉ. चन्दन कुमार 38

भारत में आतंकवाद की समस्या और समाधान–मालती शर्मा 41

आतंकवादः मानवता के लिए अभिशाप–विपुल कुमार 46

भारत विभाजन और साम्प्रदायिकता–डॉ. मार्गरेट लकड़ा 51

आध्यात्मिक शोषण के आलोक में महिलाएँः एक विश्लेषण–डॉ. मनोज कुमार 53

आज के युग में नारीवाद–अखलाख अहमद 56

महात्मा गाँधीः सत्याग्रह की अवधारणा–अजय कुमार दास 59

गुलाम भारत के धार्मिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि–डॉ. रीता कुमारी 62

वर्ण व्यवस्था, दास प्रथा और ब्राह्मणवाद–डा. शाहीन अख्तर 67

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में किसान आंदोलन की भूमिकाः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन–डॉ. अब्बास ज़फर 71

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों के सामाजिक आयामः एक ऐतिहासिक अध्ययन–मो. इरशाद खाँ 75

नालन्दा-विश्वविद्यालयः एक ऐतिहासिक विश्लेषण–संजय कुमार एवं अनिल कुमार मिश्रा 80

गाँवों के विकास में दलित महिलाओं की भागीदारी का प्रश्नः एक अवलोकन–शेखर कुमार 84

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन संबंधी औपनिवेशिक काल का साहित्य–डॉ. रघुवंश 86

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की अवधारणाः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में–विपिन चन्द्रा 89

ऋग्वैदिक काल में राजतंत्र, राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन–राजकुमार प्रसाद 93

आधुनिक भारत में निम्न जातीय आन्दोलन–डॉ. संजय कुमार वर्मा 96

धन की निकासी का सिद्धान्त–उपासना 98

बिहार में वेश्याओं के बच्चों में समाजीकरण की प्रक्रियाः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण–
डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल एवं गजनफर आलम 101

वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि मजदूरों की दशाः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण–बिकाश वर्मा 107

देश की आधी आबादीः विकास की राह पर–डॉ. रंजना 112

दृष्टिकोण

भारत में नियोजित परिवर्तनः प्रमुख योजनाएँ–डॉ. लालेश्वर प्र॰ यादव एवं डॉ॰ सूर्यकांत कुमार 119

महिला उत्पीड़न तथा संवैधानिक प्रावधानः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–डॉ. अफरोज एकबाल 127

सामाजिक विकास में गैर सरकारी संगठन की भूमिका एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–
रणवीर कुमार और सुबोध कुमार सुमन 132

आवासीय पृष्ठभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों के सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति का एक अध्ययन–डॉ. आशा कुमारी 134

शिक्षा में तनाव प्रबंधन–पूनम सिंह 137

खेती और उद्योग में टकराव ठीक नहीं–भाव्या सचदेव 141

भूमण्डलीकरण के द्वन्द्व में पिसती ग्रामीण अर्थव्यवस्था–रंजीत कुमार 144

जल संरक्षण की नई चुनौतियां–डॉ. चन्द्र कान्त सिंह 147

दिनकर के काव्य में रस-निरुपण–डॉ. अशोक कुमार सिन्हा 151

माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता में राष्ट्रीय चेतना–श्याम शरण 156

तिगुनी जिम्मेदारी मेहनताना एक–रेणु कुमारी 161

गांधीजी की राष्ट्रभाषा हिन्दी संबंधी परिकल्पना–डॉ. रश्मि सिंह 163

नेह एवं आत्मीयता की भाषाः राष्ट्रभाषा हिन्दी–पंकज कुमार तिवारी 165

हिंदी भाषा के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान–मृत्युंजय कुमार सिंह 167

निराला एवं उनकी परवर्ती कविता में मुक्तिगान–विनय कुमार 171

गणेश शंकर 'विद्यार्थी' का अद्‌भुत 'प्रताप'–डॉ. डी॰ एन॰ सिन्हा 176

भट्टारक संप्रदाय और आचार्य सकलकीर्त्ति–राकेश कुमार चौधरी 178

सृष्टि विषयक वैदिक अवधारणायें–डॉ. प्रसून दत्त सिंह 187

महर्षि पतंजलि की अनुपम कृतिः महाभाष्य–चित्रा भारद्वाज 191

वैदिक काल में नारी-शिक्षा–डॉ. जयप्रकाश पाण्डेय 194

महाकवि कालिदास की शिक्षा विषयक मान्यता–प्रवीण कुमार सिंह 196

शिक्षण में कैरियर–डॉ. विमला सिंह 198

महिलाएं एवं आहार विशेषज्ञ–डॉ. हेमलता 199

वर्तमान समय में भक्ति का औचित्य–डॉ. राजीव रंजन 200

दयनीय स्थिति में बाल श्रमिक–ललन प्रसाद सिंह एवं सुरेश कुमार 202

बिहार की कृषिः प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता–मो. ऐहतसाम सिद्धीकी 204

पर्यावरण सरंक्षण के वैधानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासः एक विवेचन–डॉ. अर्चना 207

विकास के साथ पर्यावरण की सुध का रास्ता–संजय कुमार 212

पर्यावरण की राजनीति–डॉ. बबलू कुमार 215

भारत की नाभिकीय नीतिः एक विवेचना

एहसान अहमद

1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ शीतयुद्ध आरम्भ हो चुका था तथा विश्व नाभिकीय युग में प्रवेश कर चुका था। ऐसी परिस्थिति में हमारे नेतृत्व ने शीतयुद्ध की राजनीति तथा हथियारों की होड़ से अलग रहते हुए गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने का निर्णय लिया। यह नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप थी। स्वतंत्र भारत के समक्ष राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आर्थिक विकास की चुनौतियां थी। वैश्विक शांति तथा सुरक्षा के अभाव में न तो राष्ट्रीय सुरक्षा संभव था न ही आर्थिक विकास। इसके अतिरिक्त भारत राष्ट्रों के समूह में सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने की आकांक्षा भी रखता था। भारत की नाभिकीय नीति को इन्हीं चुनौतियों और आकांक्षा के सन्दर्भ में देखे जाने की आवश्यकता है।

नाभिकीय तकनीक के विकास ने वैश्विक सुरक्षा की प्रकृति में व्यापक बदलाव ला दिया। हिरोशिमा तथा नागासाकी पर परमाणु बम के प्रयोग से विश्व को नाभिकीय अस्त्रों की विभीषिका का ज्ञान हुआ। अतः भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही सार्वभौमिक, भेदभाव मुक्त और प्रभावशाली अनुपालन के सिद्धान्तों पर आधारित परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्नशील रहा है। भारत का सदैव से ही यह विश्वास रहा है कि परमाणु मुक्त विश्व न केवल भारत की अपितु विश्व की सुरक्षा सुनिश्चित करेगा। यही कारण हैं कि भारत पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण की वकालत करता रहा है। परन्तु भारत आर्थिक विकास में परमाणु तकनीक के व्यापक महत्व से भी परिचित रहा है। विशेष रूप से भारत जैसे विकासशील देश के लिए जो लम्बे औपनिवेशिक शोषण के फलस्वरूप आर्थिक तथा तकनीकी रूप से काफी पिछड़ चुका था। अतः भारत ने आरंभ से ही परमाणु उर्जा के शांतिपूर्ण इस्तेमाल तथा परमाणु हथियारों के उन्मूलन पर बल दिया है। भारत की यह सोच 1948 के 'परमाणु उर्जा अधिनियम' में परिलक्षित होती है।

आरंभ से ही भारत संयुक्त राष्ट्र संघ सहित विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से परमाणु निरस्त्रीकरण की मांग करता रहा है। भारत पहला देश था जिसने परमाणु हथियारों के परीक्षण पर रोक लगाने की मॉग की। अप्रैल 1954 में तात्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू ने लोकसभा में बोलते हुए नाभिकीय हथियारों के उन्मूलन के लिए वार्ता करने की मांग की। भारत ने दिसम्बर 1954 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में परमाणु हथियारों के परीक्षण पर पूर्ण रोक लगाने हेतु औपचारिक प्रस्ताव रखा। 1961 में भारत ने अन्य गुटनिरपेक्ष देशों के साथ संयुक्त राष्ट्र महासभा में प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया कि परमाणु हथियारों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का उल्लंघन होगा तथा इन हथियारों का प्रयोग मानवीय कानूनों, मानव समाज तथा मानव सभ्यता के विरुद्ध अपराध होगा। 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के निरस्त्रीकरण पर प्रथम विशेष अधिवेशन में भारत ने एक प्रस्ताव रखा। जिसमें कहा गया कि परमाणु हथियारों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का उल्लंघन होगा तथा माँग की कि जब तक परमाणु निरस्त्रीकरण नहीं होता तब तक परमाणु हथियारों के प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी पर प्रतिबंध लगना चाहिए। यह प्रस्ताव महासभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया। भारत ने परमाणु हथियारों के प्रयोग पर रोक लगाने हेतु वार्ता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाने का प्रस्ताव भी रखा। इसके पश्चात भारत ने 1982 में परमाणु हथियार रहित विश्व के लिए सभी प्रकार के विखंडनीय सामग्री के उत्पादन, परमाणु हथियारों के उत्पादन एवं परमाणु हथियारों के प्रयोग के लिए डिलिवरी सिस्टम पर रोक लगाने की आवाज उठाया। 1983 के लिए डिलिवरी सिस्टम पर रोक लगाने की आवाज उठाया। 1983 के छाड सम्मेलन में भारत ने परमाणु हथियारों के परीक्षण तथा इसके उन्मूलन की मांग की। 1988 में संयुक्त राष्ट्र संघ के निरस्त्रीकरण सम्बन्धी विशेष सम्मेलन में भारत ने परमाणु हथियारों को चरणबद्ध ढंग से समाप्त करने की समग्र कार्य योजना प्रस्तुत किया। परन्तु भारत के इन माँगों तथा प्रस्तावों को सकारात्मक समर्थन नहीं मिला। इसके स्थान पर परमाणु अप्रसार (NPT) तथा परमाणु परीक्षण रोकने (PTBT, CTBT) के सीमित तथा विरूपित कार्यक्रम बनाये गये जिनका उद्देश्य परमाणु अस्त्रों पर परमाणु अस्त्र सम्पन्न देशों का एकाधिकार बनाये रखना था।

भारत परमाणु निरस्त्रीकरण के आधे-अधूरे प्रयासों के स्थान पर पूर्ण निरस्त्रीकरण पर बल देता रहा है। भारत की यह मांग रही है कि एक निश्चित समय सीमा के भीतर क्रमबद्ध ढंग से परमाणु हथियारों का पूर्ण उन्मूलन हो। यही कारण है कि भारत NPT तथा CTBT जैसे आधे-अधूरे प्रयासों का समर्थन नहीं करता। वस्तुतः भारत की चिंता के दो विषय रहे हैं– प्रथम परमाणु उर्जा का शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग, द्वितीय–राष्ट्रीय सुरक्षा। भारत का विश्वास है कि जब तक दुनिया में परमाणु अस्त्र है कोई भी देश सुरक्षित महसूस नहीं कर सकता। भारत की चिंता यह रही है कि उसके पड़ोस में दो परमाणु शक्ति सम्पन देश मौजूद हैं जिसके साथ भारत युद्ध लड़ चुका है तथा जिनका रवैया भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है। चीन द्वारा प्रथम परमाणु परीक्षण

1964 में किया गया था। इससे पूर्व चीन भारत पर 1962 में आक्रमण कर चुका था। उसने परमाणु क्लब में शामिल होकर पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम तथा मिसाइल कार्यक्रम में सहायता करना आरम्भ कर दिया। इससे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया। ऐसी स्थिति में जब तक परमाणु हथियारों का पूरी तरह से खात्मा नहीं हो जाता, भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित नहीं हो सकती। अपने पड़ोस में दो परमाणु शाक्ति सम्पन्न देशों की उपस्थिति के बावजूद भारत लम्बे समय तक परमाणु उर्जा के शांतिपूर्ण इस्तेमाल की नीति पर चलता रहा। 18 मई 1974 को भारत ने शांतिपूर्ण परमाणु परीक्षण किया तथा परमाणु उर्जा के शांतिपूर्ण इस्तेमाल के प्रति अपना दृढ़ संकल्प व्यक्त किया। भारत ने यह स्पष्ट किया कि वह परमाणु हथियार नहीं बनायेगा परन्तु भारत ने यह भी स्पष्ट किया कि वह अपना परमाणु विकल्प खुला रखेगा, अर्थात यदि राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में आवश्यक हुआ तो भारत परमाणु अस्त्र बनायेगा।

भारत और PTBT

परमाणु परीक्षण रोकने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम 1963 में उठाया गया जब आंशिक परीक्षण निषेध संधि पर हस्ताक्षर किया गया। इस संधि में धरती पर, वायुमंडल में तथा जल पर या जल के नीचे सभी परमाणु परीक्षणें पर प्रतिबंध लगा दिया गया परन्तु इसमें धरती के नीचे किये जाने वाले परीक्षणों पर प्रतिबंध नही लगाया गया। भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर कर परमाणु निरस्त्रीकरण सम्बन्धी अपनी प्रतिबद्धता को व्यक्त किया।

भारत और NPT

आंशिक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (PTBT) से परमाणु अस्त्रों की गुणात्मक तथा मात्रात्मक दौड़ और परमाणु प्रसार की समस्या का हल नहीं हुआ। अत: 1968 में परमाणु अप्रसार संधि लाया गया जो मार्च 1970 में लागू हुआ। यह संधि परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्रों का निर्माण करने से रोकती है तथा परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों पर गैर परमाणु शाक्ति सम्पन्न देशों को परमाणु अस्त्र या उसकी तकनीक उपलब्ध कराने पर प्रतिबंध लगाती है, परन्तु यह संधि परमाणु अस्त्र सम्पन्न राज्यों को अपने परमाणु अस्त्रों को समाप्त करने या उनका विघटन करने के लिए नहीं कहती। इस संधि को भेद-भावपूर्ण मानते हुए भारत ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। भारत इसे परमाणु रंगभेद की नीति मानता है क्योंकि परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश न केवल अपने अस्त्रों को बनाये रख सकते हैं अपितु इसका विस्तार भी कर सकते हैं। इससे परमाणु शक्ति के आधार पर एक असमान विश्व का निर्माण होता है। भारत की चिंता यह रही है कि यह संधि भारत के राष्ट्रीय सुरक्षा हितों की अनदेखी करती है। चीन जो एक परमाणु शक्ति सम्पन्न देश था उसने लम्बे समय तक (चीन ने 1992 में संधि-को स्वीकार किया) इस संधि को स्वीकार नहीं किया तथा इस दौरान यह माना जाता है कि इसने पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम में सहायता प्रदान की। भारत की आपत्तियों के बावजूद इस संधि को 1970 में लागू कर दिया गया तथा 1995 में इसे अनिश्चित काल तक के लिए लागू कर दिया गया।

भारत और CTBT

भारत ने जिनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था। इस सम्मेलन ने अपने उद्देश्य प्रस्ताव में परमाणु अप्रसार तथा परमाणु निरस्त्रीकरण इन दो अपेक्षाओं को उल्लेख किया गया था। 1993 में भारत ने अमेरिका के साथ मिलकर महासभा मे परीक्षण निषेध सम्बन्धी प्रस्ताव रखा था ताकि परमाणु अप्रसार तथा परमाणु निरस्त्रीकरण के दोहरे उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। परन्तु 1996 में बातचीत जब निर्णायक दौर में पहुंची तब परमाणु शाक्ति सम्पन्न देशों ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लिया तथा केवल परमाणु परीक्षण पर रोक लगाने के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया और परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रश्न को टालना शुरू कर दिया। अत: भारत ने CTBT पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। भारत का कहना था कि इस संधि को व्यापक परमाणु निरस्त्रीकरण से जोड़ा जाये तथा संधि में समयबद्ध रूप से सभी परमाणु अस्त्रों के उन्मूलन की व्यवस्था की जाए। वास्तव में इस संधि से एक नई गुणात्मक अस्त्र दौड़ को प्रोत्साहन मिलेगा। परमाणु शक्ति सम्पन्न देश कम्प्यूटर सिम्युलेशन (Computer simulation) के द्वारा न केवल अपने परमाणु अस्त्रों की क्षमता का परीक्षण कर सकेगें अपितु इसके द्वारा अपनी परमाणु क्षमता का विस्तार भी कर सकेंगें। अत: यह संधि भी परमाणु अप्रसार संधि की भांति परमाणु अस्त्रों के उदग्र प्रसार की छूट देती है। साथ ही यह संधि क्षैतिज प्रसार का भी कोई प्रभावी निषेध नहीं करती। इस प्रकार भारत CTBT संधि वार्ता में कई वर्षो तक भागीदार रहने के बावजूद इसका सदस्य नहीं बन सका क्योंकि इसमें परमाणु अप्रसार, भूमंडलीय निरस्त्रीकरण के मुद्दे तथा भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सामरिक स्वायत्तता की अवहेलना की गयी थी।

1998 के परमाणु के लिए उत्तरदायी परिस्थितियां

इसी बीच 1980 तथा 1990 दशक में भारत के इर्द-गिर्द सुरक्षा परिवेश में काफी परिवर्तन हुआ। भारत के पड़ोस में परमाणु तकनीक तथा मिसाइल तकनीक के विकास के कारण सुरक्षा स्थिति काफी गम्भीर हो गयी। इस दौरान भारत सीमा पार

आतंकवाद के बावजूद भारत की सुरक्षा चिंताएँ बनी रही। दूसरी ओर इस बात के भी संकेत नही मिल रहे थे कि परमाणु शक्ति सम्पन्न देश परमाणु मुक्त विश्व के प्रति प्रतिबद्ध हैं। इतना ही नहीं NPT को भी अनिश्चितकाल तक बिना शर्त लागू कर दिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश परमाणु अस्त्रों पर अपने एकाधिकार को बनाये रखना चाहते है। ये देश निरन्तर अपने परमाणु अस्त्रों का आधुनिकीकरण कर रहे थे तथा इनमे से कई देश परमाणु अस्त्रों के 'प्रथम प्रयोग के सिद्धान्त' को स्वीकार करते थे।

इस परिस्थितियों में भारत ने अपने परमाणु विकल्प के इस्तेमाल का निर्णय लिया। 1974 में परमाणु क्षमता का प्रदर्शन करने के बावजूद भारत ने लम्बे अरसे तक परमाणु अस्त्रों का विकास इस आशा में नहीं किया कि परमाणु शाक्ति सम्पन्न देश परमाणु मुक्त विश्व के लिए कार्य करेंगें परन्तु जब भारत को ऐसा होता नहीं दिखा तब भारत ने अपने ऊपर लगाये गये स्व-आरोपित प्रतिबंधो को समाप्त करते हुए परमाणु परीक्षण करने का निश्चय किया। 11 और 13 मई 1998 को पॉच परमाणु परीक्षण किये गऐ। इन्हें 'पोखरण-2 अथवा 'शक्ति श्रृंखला' के नाम से जाना जाता है। परीक्षण के पश्चात भारत ने स्वंय को एक परमाणु शक्ति सम्पन्न देश घोषित किया तथा आगे परमाणु परीक्षण न करने का स्वैच्छिक निर्णय लिया। प्रतिक्रिया स्वरूप पाकिस्तान ने भी परमाणु परीक्षण किया। इससे भारत के इस आशंका की पुष्टि हो गयी कि पाकिस्तान ने परमाणु क्षमता प्राप्त कर लिया है। भारत के परमाणु परीक्षण की विश्व में तीखी प्रतिक्रिया हुई तथा कई देशों ने भारत पर आर्थिक प्रतिबंध आरोपित कर दिये।

भारत द्वारा किया गया परमाणु परीक्षण स्वावलम्बन तथा विचारों एवं कार्य की स्वतंत्रता की भारत की नीति के अनुरूप था। परमाणु परीक्षण के बावजूद भारत ने परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की। भारत ने यह स्पष्ट किया कि अपने पड़ोसियों तथा अन्य देशों के प्रति उसकी नीति में परिवर्तन नहीं आया है। भारत ने शान्ति और स्थिरता तथा सभी मुद्दों को द्विपक्षीय बातचीत से हल करने के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त किया। भारत ने यह स्पष्ट किया कि यह परीक्षण किसी देश को लक्ष्य करके नहीं किया गया है अपितु इस लिए किया गया है कि भारत की जनता अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहे। साथ ही यह परीक्षण अपने राष्ट्रीय सुरक्षा हितों के प्रति भारत के दृढ़ संकल्प को व्यक्त करता है।

भारत ने यह स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का जिम्मेदार सदस्य होने के नाते वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को भली-भांति समझता है। भारत ने अपने परमाणु सिद्धान्त में इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि वह अपने परमाणु हथियारों का प्रयोग आक्रमण हेतु नहीं अपितु आत्मरक्षा हेतु करेगा।

भारत ने परमाणु अस्त्रों के 'प्रथम प्रयोग न करने के सिद्धान्त' को स्वीकार किया है। भारत ने अपने परमाणु सिद्धान्त में यह भी प्रावधान किया है कि वह परमाणु हथियारों तथा उससे जुड़ी सामग्री और तकनीक के हस्तांतरण पर कठोर नियंत्रण रखेगा।भारत ने किसी प्रकार के परमाणु अस्त्रों की दौड़ में शमिल होने से भी इनकार किया है। साथ ही भारतीय विदेश नीति के अहम सिद्धान्त परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराया है। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का ध्यान इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि वह जनसंहार के दो हथियारों-जैविक हथियार तथा रासायनिक हथियार के उन्मूलन सम्बन्धी समझौतों को स्वीकार कर चुका है।

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को ध्यान दिलाया कि NPT तथा CTBT का सदस्य नहीं होने के बावजूद इसकी नीतियॉ इन संधियों के अनुरूप है। भारत ने परमाणु अस्त्रों तथा उससे जुड़ी तकनीक के हस्तांतरण पर कठोर नियंत्रण बनाये रखा है। वास्तव में इस क्षेत्र में भारत का रिकार्ड NPT के अनेक सदस्य देशों से बेहतर है। 1998 के पोखरण-2 के बाद भारत ने आगे परमाणु परीक्षण न करने का निर्णय लिया है। इससे CTBT के तहत आधारभूत दायित्व की पूर्ति हो जाती है।

भारत की नाभिकीय नीति का दूसरा प्रमुख पक्ष नाभिकीय उर्जा का शांतिपूर्ण इस्तेमाल है। परमाणु उर्जा विभाग के तत्वावधान में तीन चरणों वाला परमाणु उर्जा कार्यक्रम चलाया जा रहा हैं परन्तु यह कार्यक्रम अपने लक्ष्य से काफी पीछे है। चूंकि भारत NPT तथा NSG का सदस्य नहीं है अत: अन्य देशों से परमाणु रिएक्टर, तकनीक तथा ईंधन प्राप्त करने में भारत को कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। भारत अर्न्तारष्ट्रीय स्तर पर नाभिकीय अलगाव का शिकार था। नाभिकीय अलगाव के फलस्वरूप भारत न केवल उर्जा के क्षेत्र में पिछड़ रहा था अपितु नाभिकीय तकनीक के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले नवीनतम विकास से भी अवगत नहीं हो पा रहा था। इसी सन्दर्भ में भारत-अमेरिका नागरिक परमाणु समझौता काफी महत्त्वपूर्ण हो जाता हैं। इस समझौते से भारत का नाभिकीय अलगाव समाप्त हुआ। इस समझौते का ढांचा 18 जुलाई 2005 को भारत के प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह तथा अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश के संयुक्त वक्तव्य से तैयार हुआ। इसके तहत एक ओर भारत अपने परमाणु अस्त्र कार्यक्रम तथा नागरिक परमाणु कार्यक्रम को अलग करने तथा नागरिक परमाणु प्रतिष्ठानों को IAEA के सेफगार्ड के तहत लाने के लिए सहमत हुआ दूसरी ओर अमेरिका ने भारत को उसके नागरिक परमाणु कार्यक्रम मे पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया। हाइड एक्ट के तहत अमेरिका ने अपने घरेलू कानून में बदलाव किया। इसके पश्चात 45 सदस्यीय NSG ने अपने नियमों को शिथिल किया ताकि भारत की अन्य देशों से परमाणु तकनीक तथा ईंधन की प्राप्ति हो सके। 2 फरवरी 2009 को IAEA ने भारत

के साथ विशेष सेफगार्ड समझौता किया। भारत अमेरिका नागरिक परमाणु समझौता के प्रभावी होने के साथ भारत विश्व का एकमात्र देश हो गया है जो NPT का सदस्य नहीं होने के बावजूद शेष विश्व के साथ नाभिकीय व्यापार कर सकता है।

इस समझौते की भारत के अनेक राजनीतिक दलों, नागरिक समूहों तथा विशेषज्ञों ने आलोचना की। इनका विचार है कि इस समझौते से भारत का परमाणु अस्त्र कार्यक्रम प्रभावित होगा, भारत की विदेश नीति की स्वतंत्रता जाती रहेगी तथा भारत की सम्प्रभुता प्रभावित होगी। इस आधार पर भी आलोचना की गयी कि परमाणु उर्जा काफी खर्चीला साबित होगा। परन्तु भारत के प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने संसद में देश को आश्वस्त किया। किसी भी प्रकार भारत की सामरिक स्वायत्तता को प्रभावित नहीं करेगा।

निष्कर्ष:

किसी भी देश की विदेश नीति राष्ट्रीय हितों पर आधारित होती है। भारत की विदेश नीति भी इसका अपवाद नहीं है। यदि भारत की नाभिकीय नीति की समीक्षा की जाए तो स्पष्ट होता है कि यह भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप रही है। जब भारत स्वतंत्र हुआ तब परमाणु अस्त्रों की दौड़ आरम्भ हो चुकी थी। भारत ने स्वंय को इस दौड़ से अलग रखा। भारत जैसे नवस्वंत्रत तथा विकासशील देश के यह स्वाभाविक था कि अपने सीमित संसाधनों को परमाणु अस्त्र के खर्चीले कार्यक्रम में लगाने के बजाय आर्थिक विकास में लगाता। अत: भारत ने विवेक का परिचय देते हुए स्वंय को परमाणु परीक्षणों से दूर रखा। लेकिन जब अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय ने भारत की चिंताओं पर ध्यान नहीं दिया तब भारत ने 1974 में परमाणु परीक्षण कर अपनी परमाणु क्षमता का परिचय दिया। इस परमाणु परीक्षण के बावजूद भारत ने स्वंय को परमाणु अस्त्रों की होड़ से दूर रखा। लेकिन जब 1990 के दशक में भारत की सुरक्षा स्थिति गंभीर हो गयी तथा परमाणु मुक्त विश्व के लक्ष्य के प्रति परमाणु अस्त्र सम्पन्न देशों में प्रतिबद्धता का अभाव दिखा तब भारत ने 1998 में परमाणु परीक्षण किया। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ के अर्न्तगत 'सामूहिक सुरक्षा' की व्यवस्था कारगार होती, परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश 'प्रथम प्रयोग न करने' के सिद्धान्त पर सहमत होते तो भारत को परमाणु अस्त्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं होती। परन्तु ऐसी स्थिति नहीं थी अत: भारत ने यथार्थवाद का परिचय देते हुए परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश बनने का निश्चय किया।

भारत जिस तेज गति से आर्थिक विकास कर रहा है उसकी गति बनाये रखने के लिए बड़े पैमाने पर उर्जा की आवश्यकता है। इसमें परमाणु उर्जा की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। चूँकि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से परमाणु ईंधन तथा तकनीक प्राप्त करने में कठिनाई हो रही थी अत: भारत का परमाणु उर्जा कार्यक्रम अपने लक्ष्य से पीछे रह गया था। परमाणु ईंधन के अभाव में भारत के परमाणु प्रतिष्ठान अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पा रहे थे। इन परिस्थितियों के आलोक में भारत ने अमेरिका से नागरिक परमाणु समझौता किया। यह समझौता 2020 तक 25 हजार मेगावाट परमाणु उर्जा क्षमता प्राप्त करने के भारत के लक्ष्य को पूरा करने में सहायक होगा। अत: भारत की उर्जा सुरक्षा की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार भारत की नाभिकीय नीति अमूर्त सिद्धान्तों पर आधारित होने के बजाय निरंतर परिवर्तनशील वैश्विक तथा क्षेत्रीय वास्तविकताओं पर आधारित है। यह नीति भारत के सर्वोच्च राष्ट्रीय हितों के अनुरूप हैं राष्ट्रीय हितों की माँग के अनुरूप इसमें निरन्तरता तथा परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ सूची:

(1) Draft Report of National securityAdvisory Board on Indian Nuclear Doctrine, August 17, 1999.
(2) Stcatements Made by Mr Arundhati Ghose-Permanant Representative of India to the UN offices at Genena, in the plenary of the conference on Disarmament on June 20, 1996, August-8,1996,August 20,1996.
(3) Nuclear Non-Proliferation-A note of the Embassy of India.
(4) CTBT-Policy Statement by Embassy of India.
(5) Statements made by I.K. Gujral Mimister of External Affairs in the parliament on CTBT-July 15,1996, July 31, 1996, August 2- 1996, August 26, 1996, sep 11, 1996.
(6) Evolution of India's Nuclear Policy- Paper laid on the table of the house on may 27,1998.
(7) Prime Minister statement and Interview-May 11, 1998, May 1998, May 27 1998, May 29 1998, June 8 1998, August 4 1998.
(8) India's Nuclear Policy- Bharat Karnad- 2008.
(9) India's foreign Policy and its Neighbours- J.N Dixit.

यू. जी. सी. (नेट)

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

'साम्प्रदायिकता' राष्ट्र विकास में बाधक

डॉ. अजय कुमार

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के व्यवहारिक विकास को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के समक्ष एक बड़ी आन्तरिक चुनौती है। साम्प्रदायिकता के अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ है धर्म निरपेक्ष भारत के अस्तित्व को नकार देना और इसी अर्थ में विभाजनकारी प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज के प्रति सबसे शक्तिशाली और वास्तविक खतरा है। यह होना चाहिए था कि औद्योगिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के द्वारा हमारे समाज में धर्म निरपेक्ष शक्तियाँ अधिक सशक्त होतीं और धार्मिक कठमुल्लापन की भावना में कमी आती, लेकिन हुआ इसके विपरीत, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियाँ अत्यधिक बलवती होती गईं।

समकालीन भारत में साम्प्रदायिकता दो विशिष्ट कारणों से खतरनाक आयाम ग्रहण कर चुकी है–

1. साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति शहरों की दीवारों को तोड़कर सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों के सौहार्दपूर्ण वातावरण में तेजी से फैल रही है।
2. इसने क्रमशः जन-आन्दोलन का रूप ले लिया है। जैसे– रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद।

साम्प्रदायिकता "साम्प्रदायिक मस्तिष्क" की उपज है। यह धार्मिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी है। इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है, बल्कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय भी जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का सहारा लेती है, जिससे तनाव बढ़ता है।

साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक स्वरूप

भारत में उग्र साम्प्रदायिकता का उदय चाहे उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी में हुआ हो, किन्तु इसका इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीन समय से ही अनेक आक्रमणकारी समूहों के रूप में भारत आते रहे, लेकिन मुस्लिम आए, तो वे एक नई सस्कृति और धर्म लेकर आए जिसका संघर्ष हिन्दू संस्कृति से हुआ। दोनों में समन्वय की भावना बढ़ी, लेकिन मौलिक मतभेद समाप्त नहीं हुए। कहीं धार्मिक असहिष्णुता, धार्मिक कट्टरवादिता ने आग में घी का काम किया।

हिन्दू साम्प्रदायिकता के आलोचकों ने इसके मूल की खोज दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज आन्दोलन से की जो ईसाईयत और इस्लाम के खिलाफ रहा। बंकिम चन्द्र चटर्जी का वन्देमातरम् गीत विशुद्ध रूप से राष्ट्र पूजन का एक हिन्दू तरीका था। इसने मूर्त रूप 1907 में स्थापित 'हिन्दू महासभा' से ग्रहण किया। हिन्दू महासभा के नेता वीर सावरकर ने हिन्दू को परिभाषित करते हुए कहा– "जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि और पुण्यभूमि समझता है।" ऐसी व्याख्या इस्लाम विरोधी थी, क्योंकि मुसलमान भारत वर्ष को पुण्यभूमि स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते। 1925 में डॉ. केशव राव वलिराम हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की जिसने हिन्दू समुदाय को सैन्य प्रशिक्षण प्रदान करना शुरू किया। संगठन ने हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए गैर-हिन्दुओं को इससे विमुख कर दिया। स्वामी करपात्री जी ने रामराज्य परिषद् की स्थापना की जो धर्मनिरपेक्षता को अस्वीकार करती है। परिषद् धर्म के आधार पर नए संविधान निर्माण की बात करती है।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उद्भव 1820 में अहमद बरेलवी द्वारा चलाए गए जिहाद आन्दोलन से हुआ। 1875 में अलीगढ़ आन्दोलन ने वैमनस्यता को बढ़ाया। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में 1942 में मौलवी मौदूदी द्वारा स्थापित जमाते इस्लामी, 1953 में अलीगढ़ और 1961 में नई दिल्ली में हुई मुस्लिम कन्वेन्शनों ने

साम्प्रदायिकता बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठनों ने मुस्लिम समुदाय को सक्रिय करके एक दबावकारी गुट बना दिया ताकि विशेष अधिकार प्राप्त किए जा सकें।

सिख साम्प्रदयिकता का उदय इस अज्ञात भय से हुआ कि यदि सिखों को हिन्दुओं के साथ मिला दिया गया, तो वह अपना अस्तित्व खो देंगे। 1955 में मास्टर तारासिंह ने कहा कि पंजाब कांग्रेस और राज्य विधानसभा में हिन्दुओं का प्रभुत्व है जो सिखों को समाप्त कर देना चाहते हैं। 1960 में मास्टर तारासिंह ने अलग पंजाबी सूबा बनाए जाने की माँग की। 1966 में पंजाब विभाजन हुआ।

ईसाई साम्प्रदायिकता अस्तित्व में तब आई जब सरकार ने धर्म प्रचार की आजादी को नियन्त्रित करने का प्रयास शुरू किया। 1954 में मध्य प्रदेश सरकार द्वारा नियुक्त नियोगी कमीशन ने सरकार को सुझाव दिया कि वह ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार को राके। 1978 के धार्मिक स्वतन्त्रता विधेयक का ईसाईयों ने विरोध किया।

अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति ने उग्र साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। डॉ राजेन्द्र प्रसाद का कहना था– 'यदि साम्प्रदायिकता के इतिहास का तटस्थ अध्ययन करें, तो यह ज्ञात होगा कि जब-जब हिन्दू मुस्लिम एकता के करीब पहुँचे, कार्यों में साम्य हुआ, अधिकारों की माँग की तब-तब साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हुआ। 'बाँटो और खाओ' की नीति का पहला लाभांश 'मार्ले मिटों सुधार' के रूप में देखने को मिला, लेकिन मूलरूप से 1919 के सुधारों ने आधुनिक राजनीतिक साम्प्रदायिकता का उद्घाटन किया। फलतः देश दो भागों में बँट गया।

के.वी. कृष्ण ने 'Problem of Meaniritize' में कहा है कि– "कहीं-कहीं साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में आर्थिक कारकों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जैसे– बंगाल में, किसान मुसलमान थे और जमींदार हिन्दू। इन दोनों के बीच संघर्ष को साम्प्रदायिकता संघर्ष के रूप में देखना आसान था।"

प्रभा दीक्षित ने 'साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ' में लिखा कि– 'यह जान-बूझकर रचा गया एक राजनीतिक सिद्धांत है जिसका प्रचार पुराने स्थापित विशिष्ट समुदाय का एक वर्ग लोकतान्त्रिक शक्तियों को क्षीण करने के लिए करता है। प्रभा दीक्षित यह मानती है कि साम्प्रदायिकता का मूल सत्ता के द्वन्द्व में था धर्म में नहीं।

धर्म को आधार बनाकर 'वोट की राजनीति' अस्तित्व में आई। धार्मिक समुदाय दबाव गुट का कार्य कर रहा है। कभी-कभी इसने अपने पक्ष में निर्णय भी करवा लिए जैसे– हिन्दू कोड बिल, मुस्लिम पर्सनल लॉ, शाहवानो प्रकरण केस आदि।

साम्प्रदायिकता के उदय के कारण

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि स्वाधीनता के बाद साम्प्रदायिकता के तत्व क्यों दिखाई देता है ? इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना
2. आर्थिक पिछड़ापन
3. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद
4. पाकिस्तानी प्रचार
5. सरकार की उदासीनता एवं तुष्टीकरण की नीति।

दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिकता भारत के सामाजिक राजनीतिक जीवन का एक अंग बन गई है। गौर करने लायक बात यह है कि यह दोनों प्रकार के लोगों को आकर्षित करती है–

जो उन्नति के आकांक्षी हैं।

जो अवनति की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं।

साम्प्रदायिकता एक विशेष स्तर पर पहुँचकर हिंसा का रूप ग्रहण कर लेती है। धर्म स्वयं साम्प्रदायिकता कटुता का मूल नहीं है, लेकिन जो लोग इसके द्वारा अपना हित साधना चाहते हैं उनके लिए यह एक सशक्त हथियार है। 1947 में भारत विभाजन के दौरान उमड़े साम्प्रदायिक दंगों के जुनून के बाद 1984 में पंजाब समस्या के आँचल में हुए दंगों की विभीषिका सामने आई है। अस्सी का दशक पंजाब में अशान्ति, अराजकता, आतंकवाद एवं विघटनकारी तत्वों का दशक रहा।

प्राकृतिक सौन्दर्य शक्ति और पर्यटन के लिए विख्यात हिमालय पर्वत के साये में अवस्थित कश्मीर भारत विभाजन से ही बाह्य एवं आन्तरिक शक्तियों के कुत्सित आतंकवादी कारनामों से आक्रान्त है। 1990-92 के बीच रामजन्म भूमि बाबरी मस्जिद ढाँचों को लेकर एक बार फिर साम्प्रदायिकता का मंजर उठ खड़ा हुआ। गुजरात दंगे की विभीषिका हमारे सामने है। आज काशी, मथुरा का मामला गूँज रहा है। इन घटनाओं से शुरू होता है हिंसा और मौत का खेल जिसका न कोई अन्त है और न कोई परिणाम।

कश्मीर और गोधरा की साम्प्रदायिकता 1947 के विभाजन की साम्प्रदायिकता से कहीं अधिक घातक थी, क्योंकि तब हम राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में थे और आज बन चुके हैं । उस समय विभीषिका हम पर थोपी गई थी, लेकिन आगे इसे हमने एक सीमा तक स्वीकार कर लिया है। इतने वर्षों बाद भी 'बाबर और महमूद गजनवी भारत की तकदीर बनेंगे, हिन्दुओं का है हिन्दुस्तान, मुसलमानों जाओ पाकिस्तान सरीखे अलगाववादी नारों का क्या मतलब है? इन सबसे आपसी द्वेष आर्थिक हानि, राजनीतिक अस्थिरता एवं राष्ट्रीय सुरक्षा को बाधा पहुँचाती है ।

साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का सुझाव

साम्प्रदायिकता मानव के लिए अभिशाप और राष्ट्र निर्माण में आने वाली बाधाओं में सर्वोपरि है। शब्दकोष में यह चाहे जिस तरह परिभाषित हो, लेकिन "यह हिन्दू-मुस्लिम तनाव का जनक है"। यह एक राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इसको समाप्त करने के लिए निम्नलिखित सुझाव हैं–

1. सरकार को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिले।
2. कानून निर्माण सभी के लिए समान हो। समान नागरिक आचार संहिता लागू की जाए।
3. सभी लोग मिल-जुलकर कार्य करें ऐसा वातावरण बनाएं की कोई अपने को उपेक्षित न समझे।
4. भाषा के संदर्भ में सरकार नई नीति तैयार करें।
5. शिक्षण में विवेकशील मानवीय मूल्यों का समायोजन किया जाए।

हमारा देश धर्मनिरपेक्ष है। हमारी संस्कृति सर्व धर्म समभाव और धार्मिक सहिष्णुता की है। हमें इस बात पर गर्व है, लेकिन इस शब्दावली को व्यवहारिकता प्रदान नहीं की गई है। राजनीतिक दल इसे साधन के रूप में अपनाते हैं। दंगे के उन्माद या पागलपन में किसी इंसान पर आक्रमण करना, उसकी हत्या करना सिर्फ इसलिए कि वह दूसरे समुदाय का है। राजनीति का यह घिनौना एवं वीभत्स रूप है।

विभिन्न समुदायों को चाहिए कि वे स्वार्थी कुत्सित हितों का त्याग करते हुए राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हों। समुदाय को राष्ट्र में बदलें। राजनीतिक संचेतना की वृद्धि करें और लोकतान्त्रिक मूल्यों के साथ धर्मनिरपेक्षता की भावना को मन से स्वीकार करें तभी भारत एक विवेकशील राष्ट्र बन सकेगा और विकसित देशों की श्रेणी में आ सकेगा ।

संदर्भ सूची:

- रजनी कोठारी: पॉलिटिक्स इन इंडिया
- एस०एम० सईद: भारतीय शासन और राजनीति
- डा० बी०एल० फाडिया: भारतीय शासन और राजनीति
- डा० पुखराज जैन: भारतीय राजव्यवस्था
- इंडिया टुडे
- दैनिक हिन्दुस्तान
- आउटलुक।

तदर्थ व्याख्याता
राजनीति विज्ञान विभाग, बी०एन० कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारत में क्षेत्रीयतावाद: पृथक् राज्य के सन्दर्भ में

महेश कुमार पासवान

सारांश

15 अगस्त, 1947 में भारत को आजादी मिली। अखण्ड भारत का निर्माण लगभग 562 रियासतों को मिला कर किया गया। भारत को 26 जनवरी, 1950 को गणतंत्रात्मक घोषित कर यहाँ संघात्मक शासन व्यवस्था कायम की गयी। इसके बाद भारत में पृथक् राज्यों की माँग कई कारणों से जैसे–भाषायी, क्षेत्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आधार पर उठने लगी, जिससे विकास के आधार पर मुख्यत: क्षेत्रवाद का जन्म हुआ।

यह क्षेत्रीयतावाद वर्तमान समय में पृथक् राज्य आन्दोलन के रूप में पुन: जन्म लेने लगा है, जिसके कई ऐसे दुष्परिणाम जैसे कि राष्ट्र की एकता अखण्डता पर प्रश्न चिह्न लगना, संकीर्ण राजनीतिक नेतृत्व का उदय होना, क्षेत्रीय मामलों को तुल देकर लोकप्रियता अर्जित करना, असहिष्णुता को बढ़ावा देना एवं राष्ट्रीय प्रगति के लिए रुकावट पैदा करना इत्यादि उभर कर सामने आ रहे हैं। फिर भी इस क्षेत्रीयतावाद के कुछ अच्छे परिणाम सामने आए हैं, जिनमें रोजगार को बढ़ावा मिलना, प्रशासन का दुरूस्त होना, भ्रष्टाचर का धीरे-धीरे लोप होना, राज्य का आर्थिक दृष्टि से मजबूत होना इत्यादि। कई कारण, कई अच्छे परिणाम, कई दुष्परिणाम के आधार पर पृथक् राज्य आन्दोलन के सन्दर्भ में केन्द्रीय सरकार को सही कदम उठाने की आवश्यकता है। इसके लिए केन्द सरकार को कुछ सुझाव दिया जा सकता है। केन्द्र सरकार पृथक् राज्य आन्दोलन के सन्दर्भ में सर्वदलीय बैठक बुला कर विचार-विमर्श करें, पिछड़ेपन को दूर करें, स्थानीय विकास पर जोर दें, सभी वर्गों के लिए समान योजनाएँ लागू करें, भ्रष्टाचार पर रोक लगाएँ एवं राजनीतिक दलों में व्याप्त खामियों को दूर करने का प्रयास करें, जिससे भारत में एकता और अखण्डता कायम किया जा सके। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारत विविधताओं से परिपूर्ण वाला देश है। यहाँ के नागरिकों को मिल-जुलकर नई सोच पैदा करने की जरूरत है एवं पृथक् राज्य के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को वैचारिक एवं व्यवहारिक दोनों स्तर पर पहल करने की आवश्यकता है।

विशिष्ट शब्द

संघात्मक व्यवस्था, क्षेत्रवाद, पृथक् राज्य, विकास, केन्द्रीय सरकार।

भूमिका

ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति के साथ ही 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। इसके बाद लगभग 562 रियासतों को मिलाकर एक अखण्ड भारत का निर्माण किया गया। 26 जनवरी, 1950 को भारतवर्ष ने अपने आप को विश्व समुदाय के सामने गणतन्त्रात्मक घोषित किया और इसके साथ ही भारत में विकास की नई धारा का सूत्रपात भी हुआ। भारतीय संविधान के प्रथम भाग के प्रथम अनुच्छेद में लिखा गया है कि "भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा।" अनुच्छेद तीन में उल्लेख किया गया है कि "संसद विधि द्वारा नए राज्यों का निर्माण तथा वर्त्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों में परिवर्तन कर सकेगी।"[1] उपर्युक्त विधियों से स्पष्ट है कि भारत में कनाडा की तरह संघीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। इसी व्यवस्था के आधार पर विकास की प्रक्रिया तेज की गई तथा विकास जैसे मुद्दों के बदौलत ही भारत में पृथक् राज्यों की माँग उठी–चाहे वो भाषा के आधार पर हो या क्षेत्र के आधार पर या अन्य मुद्दें जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आधार पर। इन मुद्दों भारत में क्षेत्रीयतावाद को जन्म दिया तथा इसका प्रथम प्रकटीकरण भाषायी राज्य माँग के रूप में उभरा।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोधकार्य विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक प्रकृति की है। शोधकार्य के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों स्रोत का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत मुख्यत: भारत में क्षेत्रवाद से सम्बन्धित पृथक् राज्यों के माँग एवं आन्दोलन के सन्दर्भ में अध्ययन किया गया है तथा कारण, परिणाम एवं सुझाव को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत मुख्यत: प्रकाशित ग्रन्थ, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे निबन्ध एवं लेख इत्यादि को आधार बनाया गया है।

उद्देश्य

क्षेत्रीयतावाद एक विश्वव्यापी समस्या है। भारत में जिस तरह से आजादी के बाद क्षेत्रवाद के आधार पर पृथक् राज्यों की माँग की जाने लगी और इसकी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया गया, वह पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया है। किसी न किसी रूप में पृथक् राज्य की माँग तेलंगाना, विदर्भ, हरित प्रदेश, बुन्देलखण्ड, गोरखालैण्ड, मिथिलांचल के रूप में पुन: उठने लगी है, जिसका स्पष्ट प्रमाण तेलंगाना क्षेत्र को केन्द्र सरकार द्वारा राज्य का दर्जा देने के हामी भरने से हुई है। वर्तमान समय में यह भारतीय राजनीति के लिए प्रमुख चुनौती बन गयी है। धीरे-धीरे तेलंगाना के साथ-साथ भारत के सभी क्षेत्रों में अलग राज्यों की माँग होने लगी है, जो भारतीय शासन व्यवस्था के लिए एक समस्या खड़ी कर दी है। यह समस्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। अत: लोगों को यह जानना आवश्यक हो जाता है कि क्षेत्रवाद क्या है तथा इसके आधार पर अलग राज्यों की माँग क्यों की जाती है ? इसलिए क्षेत्रवाद से सम्बन्धित रुचि रखने वाले लोगों के लिए नवीन एवं मौलिक तथ्यों को प्रस्तुत करना इस शोध-कार्य का प्रमुख उद्देश्य है।

विश्लेषण

भारत में पृथक् राज्यों की माँग की समस्या कोई नवीन समस्या नहीं है, बल्कि इसका मूल आधार क्षेत्रीयतावाद है। जो वर्तमान समय में दिन-प्रतिदिन काफी तीव्रता से उभर कर सामने आ रही है। आमतौर पर क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है, जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।[2] अर्थात् क्षेत्रवाद को राष्ट्रीय भावना का विलोम कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य अपने संकीर्ण क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना होता है, जिसमें क्षेत्र विशेष के लोग अपने लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की अधिकाधिक माँग करते हैं, यह चाहे राष्ट्रीय हितों पर कुठाराघात क्यों न हो।[3] अत: क्षेत्रीयतावाद को विश्लेषित करते हुए कहा जा सकता है कि क्षेत्रवाद एक स्वभाविक प्रवृति या मनोवृत्ति है। एक व्यक्ति जिस स्थान पर पैदा होता है, जो भाषा बोलता है, जिस धर्म को वह अपनाता है, जो उसका इतिहास और संस्कृति है, उन सबके प्रति उसका भावनात्मक लगाव और वचनबद्धता होती है। हितों की समानता उनमें एकजुट होकर रहने की भावनात्मक इच्छा उत्पन्न करती है और संगठित होकर अपनी समस्याओं का निराकरण करने के लिए प्रेरित करती है। अपने क्षेत्र का अधिकाधिक विकास करना और अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखना तथा अपनी पहचान बनाए रखना उनका मूल लक्ष्य होता है। जब लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो पाती है, तो यह अलगाववाद का रूप धारण कर लेती है और यह आगे चल कर क्षेत्रीयतावाद के रूप में उभर कर सामने आती है।[4]

डॉ० रूपा मंगलानी एवं एस०एम० सईद के पुस्तक के आधार पर भारत में क्षेत्रीयतावाद के कई सामान्य कारण बताये जा सकते हैं, जिनमें आर्थिक कारण, राजनीतिक कारण, भाषा एवं सांस्कृतिक कारण, धार्मिक तथा जनजातीय कारण, भूमिपुत्र सिद्धान्त, जातिगत कारण तथा भौगोलिक कारण प्रमुख माने जा सकते हैं।[5]

आर्थिक कारण के अन्तर्गत आर्थिक विषमता क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने का प्रमुख कारण माना जाता है। भारत में क्षेत्रीयतावाद उन्हीं राज्यों में ज्यादा उग्र रूप धारण कर रहा है, जो राज्य आर्थिक दृष्टि से ज्यादा पिछड़े हैं। वर्तमान में नये राज्यों के माँग में भी आर्थिक कारण ही मूल रूप से छिपा है। इस प्रकार की माँग करने वालों का यह विश्वास होता है कि यदि उनके क्षेत्र को एक राज्य का दर्जा प्राप्त हो जाता है, तो उनके क्षेत्र का विकास तेजी से हो पायेगा।

राजनीतिक कारण के अन्तर्गत अगर देखा जाए तो अपनी निजी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजनेता या क्षेत्रीय नेता क्षेत्रवाद के आधार पर पृथक् राज्यों की माँग करते हैं। भूमिपुत्र की अवधारणा का जन्म राजनीतिक कारण का

ही परिणाम है। इस अवधारणा के अनुसार राज्य में रोजगार पाने और सम्पत्ति रखने का अधिकार सिर्फ और सिर्फ राज्य के मूल निवासियों का ही हक है, दूसरे राज्यों से आने वाले लोगों के लिए नहीं। इसका उदाहरण असम, महाराष्ट्र, नागालैण्ड, तमिलनाडु आदि राज्यों में देखने को मिलता है। इस आन्दोलन के पीछे विशेषकर राजनीतिज्ञों का ही हाथ होता है। जैसे–झारखण्ड में शिबू सोरेन, महाराष्ट्र में मनसे नेता राज ठाकरे, तेलंगाना में के० चन्द्रशेखर राव आदि। 2008 में महाराष्ट्र में मनसे कार्यकर्त्ताओं द्वारा उत्तर प्रदेश और बिहारियों पर जुल्म ढाया जाना राजनीतिक कारण का ही परिणाम था।

भाषा एवं सांस्कृतिक कारण भी क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा देने का प्रमुख कारक माना जाता है। भारत विविधताओं का देश है। यहाँ अलग–अलग मजहब, भाषा, जाति–जनजाति और विचारधारा वाले लोग रहते हैं। कभी–कभी इनके बीच इनके निर्देशों, मूल्यों और आदर्शों पर एक राय कायम करना मुश्किल होता है, जिसके लिए राजनीतिज्ञ भाषा एवं सांस्कृतिक आधार पर अलग राज्यों की माँग करने लगते हैं। इसका उदाहरण स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात् देखने को मिलता है, जब 1956 में भाषायी आधार पर ही राज्यों का पुनर्गठन किया गया था। महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हरियाणा, असम, मेघालय आदि राज्यों का गठन भाषायी आधार पर ही हुआ है।

भौगोलिक कारण भी क्षेत्रीयतावाद का प्रमुख कारक माना जाता है। भारत में जब राज्यों का पुनर्गठन किया गया तो आकार की विशिष्टता को ध्यान में नहीं रखा गया और राज्यों के आकार में असमानता के कारण नए राज्यों की माँग उभरने लगी। एक तरफ जहाँ राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे बड़े राज्य थे, तो दूसरी तरफ छोटे राज्यों में नागालैण्ड, मिजोरम, केरल आदि राज्य शामिल थे। बड़े राज्यों में संसाधनों का असंतुलित आवंटन, प्रशासन में शिथिलता तथा धार्मिक पिछड़ेपन के कारण अनेक क्षेत्रों में पृथक् राज्यों की माँग उठने लगी और 2000 में उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड जैसे नवीन राज्यों का गठन किया गया।[6] इन राज्यों का गठन भौगोलिक और पिछड़ेपन के कारण ही हो पाया है।

उपर्युक्त कारणों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि क्षेत्रवाद का मूल कारण किसी न किसी रूप में क्षेत्र विशेष के हक के लिए लड़ाई लड़ना और क्षेत्रीयता को आधार बना कर नवगठित राज्यों का निर्माण करना है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के रूप की चर्चा करें, तो अध्ययन की सुविधा के दृष्टि से इनके रूप को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[7] **प्रथम,** भारतीय संघ से अलग हो जाने अर्थात् पृथक् होने की माँग **द्वितीय,** भारतीय संघ के अन्तर्गत नए राज्यों अर्थात् पृथक् राज्यों के निर्माण की माँग **तृतीय,** कुछ केन्द्र–शासित राज्यों को पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग **चतुर्थ,** विभिन्न राज्यों के बीच पारस्परिक अर्थात् क्षेत्रीय, भाषायी विवाद के साथ–साथ अन्तर्राजीय विवाद आदि क्षेत्रीयतावाद के रूप के अन्तर्गत आते हैं।

वर्तमान में इन्हीं रूपों में से एक पृथक् राज्यों की माँग ने भारतीय शासन व्यवस्था एवं राजनीति में हलचल मचाए हुई है। आन्ध्रप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री डा० वाई०एस०आर० रेड्डी की हेलिकॉप्टर दुर्घटना में दिनांक 2 सितम्बर, 2009 को मृत्यु के बाद तमाम राजनीतिक गतिविधियों के बीच जिस तरह अलग तेलंगाना राज्य की माँग ने यकायक जोर पकड़ा है, इसे अप्रत्याशित ही कहा जा सकता है। आन्ध्रप्रदेश से अलग तेलंगाना राज्य की माँग लगभग पाँच दशक पुरानी है। राज्यों के गठन की बहस आजादी के बाद तेलंगाना के मांग के साथ ही शुरू हुई थी। पोट्टी श्रीरामुलु की मौत के बाद जैसे ही फसाद शुरू हुआ, सरकार ने तेलगु प्रदेश की घोषणा कर दी। राज्य पुनर्गठन आयोग बना और सरकार ने तेलंगाना के सिफारिश को नकारते हुए आन्ध्रप्रदेश राज्य का गठन कर दिया।[8] वर्तमान में तेलंगाना राज्य समर्थक के० चन्द्रशेखर राव के अनशन के ग्यारहवें दिन ही केन्द्र सरकार ने अलग राज्य की प्रक्रिया शुरू करने के प्रति अपनी सहमति दे दी। इससे भारत के सभी क्षेत्रों के लोगों में जो अलग राज्य की माँग कर रहे हैं, के बीच खुशी की लहर दौड़ पड़ी और देश के अन्य अनेक हिस्सों में अलग राज्य की पुरानी माँगे नए सिरे से उभर कर फिर से केन्द्र सरकार के सामने आने लगी है। उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, हरित प्रदेश और बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, असम में बोडोलैण्ड, पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड, बिहार में मिथिलांचल एवं पूर्वांचल, मध्यप्रदेश में विंध्याचल, कर्नाटक में कोडगु, जम्मू–कश्मीर का तीन हिस्सों में विभाजित करना आदि इलाकों से अलग राज्य गठन की माँग बुलन्द होने लगी है।[9]

वर्तमान में पृथक् राज्यों के माँग के पीछे के तर्क को अगर देखा जाए तो क्षेत्रीय पृथक्तावादी राजनीतिज्ञों की अलग मंशा है। इनका मानना है कि बड़े राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्यों का विकास करना आसान होगा। बड़े राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्यों

में प्रशासन व्यवस्था बेहतर होगी। रोजगार के साधन बढ़ेंगे और छोटे राज्य अपने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग अपने विकास के लिए कर सकेंगे। इन राजनीतिज्ञों के तर्क को क्रमवार रूप में लिपिबद्ध किया जाए, तो पाँच तरह के मुद्दे उठते हैं।[10]

प्रथम, नये राज्य बनाने के किसी भी सुझाव के साथ भावनात्मक मुद्दे उठते हैं और तरह-तरह की फूट पैदा होती है। इसलिए धर्म, जाति, भाषा, विकास, प्रशासनिक सुविधा आदि के आधार पर अलग राज्यों की माँग की जा सकती है। अलग-अलग इलाकों के लिए ज्यादा स्वायत्तता और उपेक्षित इलाकों के विकास के लिए विशेष कोशिशें की जा सकती है।

द्वितीय, पृथक्तावादी राजनीतिज्ञों का एक तर्क बेहतर प्रशासन है। इसका उदाहरण हरियाणा में देखा जा सकता है, पंजाब से अलग होने के बाद इसकी आर्थिक तरक्की ज्यादा हुई। इसके अलावा उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़, झारखण्ड में अपने मूल राज्यों से ज्यादा तरक्की हुई है। झारखण्ड में खराब प्रशासन और व्यापक भ्रष्टाचार के बावजूद ऐसा हुआ। तर्क यह दिया जाता है कि छोटे राज्यों में नीति निर्माताओं को ज्यादा ध्यान देने का मौका मिलता है, प्रशासनिक फैसले तेज होते हैं और प्रशासन जनता के ज्यादा करीब आती है।

तृतीय, विशेषज्ञों का कहना है कि भारत की जनसंख्या 1947 में 36 करोड़ थी, जो 2001 के जनगणना आंकड़ों के हिसाब से एक अरब दो करोड़ हो गई और अभी एक अरब बीस करोड़ हो सकती है। इसलिए यह तर्क दिया जा सकता है कि पाँच करोड़ जनसंख्या के लिए अलग प्रशासनिक इकाई होनी चाहिए, जिसका भौगोलिक दायरा 50 हजार वर्ग किलोमीटर हो।

चतुर्थ, राज्यों की राजधानी नजदीक होगी। फैसले करने वाले समस्या और समाधान से अच्छी तरह से परिचित होंगे और राजनीतिक चेतना के साथ-साथ जनता की भागीदारी बढ़ेगी।

पंचम्, आर्थिक स्वावलम्बन तार्किक पुनर्गठन का एक और जरिया हो सकता है। जैसे बिहार से अलग हुआ झारखण्ड खनिज सम्पदा के मामले में समृद्ध है और उसमें जातीय विशिष्टता भी है, जो पृथक् राज्यों के लिए एक उदाहरण है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर विवेचन किया जा सकता है कि पृथक् राज्यों की माँग करने का सिर्फ एक आधार बनता है और वो है विकास एवं प्रशासन। विकास की सही प्रक्रिया सुचारू रूप से अगर संचालित होगी तो बेरोजगारी अपने-आप दूर हो सकती है। आर्थिक असन्तुलन दूर किया जा सकता है।

वर्तमान में पृथक् राज्यों के माँग के कई परिलक्षित दुष्परिणाम उभर कर सामने आ रहे हैं।

प्रथम, नए राज्यों की माँग संघीय व्यवस्था के विरुद्ध है, जो राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है।

द्वितीय, राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

तृतीय, संकीर्ण राजनीतिक नेतृत्व का उदय होता है, जिससे राजनीतिज्ञों द्वारा क्षेत्रीय मामलों को तूल देकर लोकप्रियता अर्जित करना एवं अपना राजनीतिक भविष्य सुरक्षित करना होता है।

चतुर्थ, असहिष्णुता को बढ़ावा मिलता है, जिससे राजनीतिज्ञों में स्वहित एवं स्वश्रेष्ठता की हठधर्मिता बढ़ती है एवं **पंचम्,** दुष्परिणाम यह है कि यह राष्ट्रीय प्रगति के लिए रुकावट पैदा करती है।[11]

इसके लिए कुछ राज्यों के उदाहरण लिए जा सकते हैं। उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड के दुष्परिणाम सामने नजर आ रहे हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे ने कुछ अन्य तथ्यों को जोड़ कर निष्कर्ष निकाला कि नए राज्यों ने ऐसा कुछ भी सही काम नहीं किया, जिसका उल्लेख किया जा सके। आर्थिक और सामाजिक विकास भी इन इलाकों में सही रूप से नहीं हो पाया है, इन इलाकों की जनता की भावनाएँ भी राज्यों के प्रति पूरी निष्ठा के साथ नहीं जुड़ सकी है, प्रशासन तथा शासन जनता के करीब सही रूप से नहीं पहुँच पायी है। छत्तीसगढ़ और झारखण्ड में नक्सली गतिविधियाँ नए राज्य बनने के बाद पहले के अपेक्षा कहीं ज्यादा बढ़ गयी है। इन छोटे राज्यों में क्षेत्रीय दलों की संख्या बेशुमार बढ़ रही है। झारखण्ड पर सही तरह से नजर दौड़ायी जाए तो यहाँ की जनता सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों के भ्रष्टाचार का शिकार हुई। झारखण्ड में चार हजार करोड़ रुपये का घोटाला हुआ। यहाँ के एक संगठन ने पूर्व विधायकों के हलफनामों की पड़ताल की तो पता चला कि इस दौरान 37 विधायकों की सम्पत्ति में तीन हजार चार सौ चौवन प्रतिशत की वृद्धि हुई है अर्थात् छोटे राज्य के निर्माण ने किसी न किसी रूप में राजनीतिक दलों के हित के लिए ज्यादा उपयोगी सिद्ध हुई है। स्पष्ट रूप से देखा जाए, तो जहाँ छोटे राज्य बनने से विधायकों की संख्या में बढ़ोत्तरी होती है, नई आयोग का निर्माण होता है वहीं अलग मुख्यमंत्री भी बनते हैं।[12] इसके अलावा राज्यों की संख्या बढ़ने

से देश में विखण्डन की आशंका बढ़ने लगती है। अधिक राज्यों के होने का मतलब होता है अधिक अन्तर्राज्यीय विवादों की उत्पत्ति और प्रशासनिक खर्चों में वृद्धि होने से आम जनता पर ज्यादा बोझ।

नए राज्यों के निर्माण के बाद उपर्युक्त दुष्परिणाम सिर्फ एक-दो राज्यों पर लागू होता है, लेकिन छोटे राज्यों के निर्माण पर गौर किया जाए तो क्षेत्रीयतावादी राजनीतिज्ञों का तर्क सही प्रतीत लगता है। भावना से ऊपर उठकर क्षेत्रीयतावादी राजनीतिज्ञों का विश्लेषण करें तो पता चलता है कि ये तर्क तथ्यों पर आधारित है। पुराना असम नेफा राज्य वर्तमान में सात राज्य असम, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा व मणिपुर में विभाजित है, पर इस पर कोई बोझ नहीं बढ़ा है और देश के विखण्डन की आशा भी निर्मुल साबित हुई है। सच तो यह है कि छोटे राज्य में सत्ता का अधिक विकेन्द्रीकरण हो सकेगा, अधिक लोकतंत्र होगा और जनता की भागीदारी से प्रशासन पर अंकुश भी लगा रहेगा। जहाँ तक प्रशासनिक खर्चों जैसे परिणाम की बात है, तो इनमें वृद्धि स्वभाविक है।

यदि राज्यों के पुनर्गठन के साथ-साथ दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किए जाएँ, तो इसकी क्षतिपूर्ति की जा सकती है। खर्च को कम करने के लिए दीर्घगामी सुधार योजना के तहत् मन्त्रिमण्डल के आकार को छोटा रखने के प्रावधान को पुनः संशोधन करके अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए। छोटे राज्य बनने से बढ़ने वाले खर्चों की अपेक्षा उससे होने वाले लाभ कहीं अधिक हैं। छोटे राज्य होने से लोगों तक प्रशासन की पहुँच सुविधाजनक ढंग से होती है तथा सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किए जाने वाले नियमों व कानूनों को आसानी से लागू किया जा सकता है।[13] जहाँ तक पृथक् राज्य की माँग उचित हो, वहाँ उनकी स्थापना प्रशासनिक कार्यकुशलता, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और आर्थिक समरूपता के आधार पर करके लगभग समरूप क्षेत्रीय आकार के राज्यों का गठन हो सकता है। इससे जहाँ उच्च सदन (राज्यसभा) में लगभग सम प्रतिनिधित्व के कारण संघीय भावना को बल मिलेगा, वहीं लोगों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति कर उग्र क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणामों से भी बचा जा सकेगा। इससे देश के सभी क्षेत्रों को विकास का समुचित अवसर उपलब्ध हो सकेगा।

सुझाव

क्षेत्रीयतावाद के बल पर नए राज्यों के गठन की भावना का प्रसार भविष्य में न हो पाए, इसके लिए विचारधारा के साथ-साथ बेहतर शासन की जरूरत है। अतः विचारधारा के स्तर पर क्षेत्रीयतावाद की भावना को कम करने के लिए निम्नलिखित उपायों का सहारा लिया जा सकता है।[14]

1. दूसरा राज्य पुनर्गठन आयोग बनाने का सफल प्रयास किया जाए, जिसमें सर्वदलीय बैठक के द्वारा लचीली सहमति बनाने का प्रयास किया जाए, जो प्रशासनिक सुविधा, भाषिक समानता, जातीयता और सबसे ऊपर आर्थिक विकास पर आधारित हो।
2. राजनीतिक दलों को एक साथ बैठकर पृथक् राज्य आन्दोलन के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए कि उन लोगों तक कैसे पहुँचा जाए, जिन्हें शासन की ओर से कोई लाभ नहीं मिल पा रहा है। चुनावी सुधारों के द्वारा यह निश्चित करने का प्रयास किया जाए कि निर्वाचन प्रक्रिया में छोटे समूहों की भी सहभागिता हो। इसके लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सहारा लिया जा सकता है।
3. स्थानीय संस्थाओं को सशक्तीकृत करने का प्रयास किया जाए। इसके लिए पंचायती तंत्र की तुलना में ग्राम सभाओं को ज्यादा से ज्यादा व्यापक अधिकारों से शक्ति सम्पन्न कर प्रत्येक स्थानीय व्यक्ति को अपने विकास का अधिकार दिया जाना चाहिए।
4. राज्य सरकारों व योजना अयोग को आर्थिक क्षेत्र में कुछ क्षेत्रों या राज्यों द्वारा किए गए खराब प्रदर्शन की जाँच करनी चाहिए और निराकरण के लिए सुझाव देना चाहिए। इसके लिए योजना आयोग द्वारा स्पष्ट मानदण्ड निर्धारित किए जाने चाहिए।
5. आर्थिक असन्तुलनों को दूर करने के लिए उन राज्यों के प्रशासनिक तन्त्र को सुदृढ़ किया जाए, जिनमें ऐसे पिछड़े क्षेत्र हों जहाँ विकास नाममात्र का हुआ है। कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधारों के विभागों को ऐसे राज्यों के संगठनात्मक संरचनाओं की दुर्बलताओं पर विशेष ध्यान रखना चाहिए और उसके सुधार हेतु मूर्त सुझाव देना चाहिए।

6. पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक सुधार हेतु क्षेत्र विशेष के पर्यावरण, संसाधन और उनकी आवश्यकताओं के आधार पर विशेष परियोजनाएँ और कार्यक्रम बनाए जाने चाहिए, न कि पूरे देश के लिए एक योजना।
7. सरकार के द्वारा सभी वर्गों के लिए समान योजनाएँ लागू की जानी चाहिए, वर्ग विशेष के लिए योजना तैयार करने से अन्य वर्गों के अन्दर स्वत: तनाव उत्पन्न होने लगती है।
8. जातिवाद के आधार पर चल रही संस्थाओं में प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए। इस तरह के संगठन जातिवाद का विष समाज में फैलाने के साथ-साथ विभिन्न जातीय संगठनों के बीच लड़ाई-झगड़े भी कराते हैं।
9. सरकार के द्वारा उग्रवादी प्रवृतियों पर व्यवस्थित रूप से रोक लगाई जानी चाहिए तथा जितने भी उग्रवादी संगठन क्षेत्रीय आधार पर बने हैं, उनसे शांतिपर्वूक बात करनी चाहिए।
10. बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया जाना चाहिए तथा निचले स्तर की नौकरियों के लिए जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय लोगों को ही लिया जाना चाहिए, क्योंकि 'भूमिपुत्र सिद्धान्त' का आन्दोलन चलाने के लिए स्वार्थी राजनीतिज्ञ तथा साम्प्रदायिक तत्व साधाराणतया स्थानीय लोगों के साथ-साथ स्थानीय विद्यार्थियों का ही प्रयोग करते हैं।
11. उग्र क्षेत्रीयतावाद की भावना के पोषक संकीर्ण प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता तथा क्षेत्रीयतावाद के आधार पर गठित एवं कार्य करने वाले राजनीतिक दलों का बहिष्कार किया जाना चाहिए।
12. शिक्षा एवं जागरूकता से क्षेत्रीयतावाद के आधार पर फैलायी जा रही भ्रान्तियों को दूर करना चाहिए। विभिन्न राज्यों एवं क्षेत्रों के मध्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आदान-प्रदान किया जाना चाहिए। इससे परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का विकास होगा, प्रेम की भावना बढ़ेगी और क्षेत्रीय कटुता कम होगी।
13. अलग राज्य के नाम पर अशांति फैलाने वाले दलालों को शान्त करने के लिए संविधान में संशोधन करके भारत में राज्यों की संख्या कुछ समय सीमा तक निर्धारित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के अलावा केन्द्र सरकार को यह भी देखना चाहिए कि नए राज्य राजनीतिक अस्थिरता का शिकार न हो पाएँ, जो झारखण्ड में देखने को मिल रहा है। बेहतर यह होगा कि एक ओर जहाँ केन्द्र सरकार यह देखें कि नए राज्यों के गठन के लिए उचित आधार क्या हो सकते हैं वहीं दूसरी ओर ऐसी माँग करने वाले संगठनों और दलों को यह देखना होगा कि क्या उनका क्षेत्र पृथक् राज्य के रूप में सही तरह से विकसित होने के पर्याप्त आधारों से लैश है।

आलोचनाएँ

वर्तमान में अब, जब अलग राज्यों की माँग देश के चारों तरफ होने लगी है तब फिर समझदारी इसी में है कि सरकार को पिछड़े क्षेत्रों पर ध्यान लगाना चाहिए। यह किसी से छिपा नहीं है कि देश के कुछ हिस्से न केवल बुरी तरह पिछड़े हुए हैं, बल्कि कुछ क्षेत्र घोर निर्धनता से ग्रस्त हैं। भले ही मुम्बई शहर चकाचौंध भरी समृद्धि के लिए जाना जाता है, लेकिन विदर्भ का इलाका पिछड़ेपन की शर्मनाक मिशाल पेश कर रहा है। यही हाल उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड क्षेत्र का है। यह सही है कि देश के तमाम शहर समृद्धि का केन्द्र बन गया है, लेकिन तथ्य यह भी है कि इनसे कुछ किलोमीटर की दूरी पर अकल्पनीय पिछड़ापन नजर आता है।

यह ठीक है कि छोटे प्रदेश आर्थिक सम्पन्नता दे सकता है, लेकिन इसके लिए केन्द्र सरकार के पास सही निर्णय के साथ-साथ पूर्ण तैयारी भी हो। केवल राज्यों का बँटवारा कर देने से समृद्धि नहीं आयेगी, इसके लिए वास्तविक विकास, जन कल्याण, अच्छी योजनाएँ एवं इसके क्रियान्वयन के लिए ईमानदारीपूर्वक सही प्रयासों की आवश्यकता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि छोटा परिवार सुखी परिवार होता है, लेकिन यह भी होना चाहिए कि उस परिवार में आ रही सामग्रियों का बँटवारा सबके बीच बराबर हो।

अनेक विद्वान वर्तमान दौर में यह मान रहे हैं कि विकास के लिए छोटा राज्य जरूरी है और इसके लिए एक आयोग बनाया जाना चाहिए। पं० जवाहर लाल नेहरू ने इसके सम्बन्ध में कहा था कि यह बर्रे के छत्ते में हाथ डालने जैसा होगा क्योंकि आयोग निर्माण से रिपोर्ट आने तक पूरा भारत फिर से अशांत हो जाएगा। यह तो भारत को गृहयुद्ध में धकेलने के समान हो सकता है।[15] आज जिस उत्तर प्रदेश को मायावती तीन भागों में बाँटने की वकालत कर रही है, उसी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री

रहे गोविन्द बल्लभ पंत से जब राज्य पुनर्गठन आयोग ने पूछा था कि क्या उत्तर प्रदेश को बाँट दिया जाना चाहिए ? तो पंतजी ने अपने भाषण में कहा था कि मुझसे कहा जाता है कि प्रदेश बड़ा है इसे छोटा कर दो। मेरी समझ में नहीं आता कि मैं अपना सिर काटूँ या पैर या धड़ अलग करूँ ? मैं मुख्यमंत्री हूँ एक पिता की तरह हूँ। मैं इस प्रदेश के टुकड़े कैसे कर दूँ ?[16] अर्थात् इससे यह साबित होता है कि किसी राज्य की दुर्दशा इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य के शासन को चलाने वालों का दिमाग कितना बड़ा है, न कि राज्य कितना बड़ा है। चिन्ता की यह बात है कि अलग राज्य के गठन करने वालों की भीड़ में आम जनता नहीं के बराबर दिखती है। इस भीड़ में तो सिर्फ वे लोग दिखते हैं जिन्होंने विधायक, मंत्री या मुख्यमंत्री बनने के सपने पाल रखे हैं।

निष्कर्ष

स्पष्ट रूप से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत विविधताओं से परिपूर्ण वाला देश है। विविधता वाली इन स्थितियों के बीच केन्द्र सरकार के सामने छोटे राज्यों के सवाल को अखिल भारतीय स्तर पर हल करने की चुनौती है, वहीं क्षेत्रीय लोगों के स्थानीय भावनाओं को उन्माद बनने से रोकना भी है। इस काम के लिए केन्द्र सरकार को वैचारिक एवं व्यवहारिक दोनों स्तर पर पहल करनी होगी। एक तरफ क्षेत्रीय असमानताओं को मिटाने और उसके निदान के तौर पर राज्यों के स्वरूप पर सघन बहस की जरूरत है, तो दूसरी तरफ क्षेत्रीय स्तर पर ऐसे कर्मठ और ईमानदार नेतृतव की जरूरत है, जो उन्माद और बिखराव दोनों को रोक सकें। यह संयोग ही कहा जाएगा कि 1953 में भी तमिलभाषी और तेलंगाना को लेकर पृथक राज्य की माँग उठी थी और पूरे देश में राज्य पुनर्गठन आयोग बना था। वर्तमान में भी शुरुआत वहीं से हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, 2009
2. कौशिक, सुशीला–भारतीय शासन और राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, चतुर्थ संस्करण, 1990, पृष्ठ-421
3. मंगलानी, डॉ० रूपा–भारतीय शासन और राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण, 2007, पृष्ठ-471
4. सईद, एस०एम०–भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेन्टर लखनऊ, 2009
5. मंगलानी, डॉ० रूपा, पूर्वोक्त
6. वही
7. कौशिक, सुशीला, पूर्वोक्त
8. जोशी, प्रमोद–नए राज्यों से जरूरी है नई राजनीति, हिन्दुस्तान दैनिक, 24 दिसम्बर, 2009
9. सिंह, एस०के०–देश के आन्तरिक पुनर्गठन का वक्त, हिन्दुस्तान दैनिक, 25 दिसम्बर, 2009
10. वही
11. मंगलानी, डॉ० रूपा, पूर्वोक्त
12. जयसवाल, श्री प्रकाश–नए राज्य बने पर इसकी राजनीति न हो, हिन्दुस्तान दैनिक, 23 दिसम्बर, 2009
13. प्रतियोगिता दर्पण, उपकार प्रकाशन, जून, 2007
14. वही
15. नैयर, कुलदीप–मुसीबत का पिटारा, दैनिक जागरण, 23 दिसम्बर, 2009
16. किशोर, गिरिराज–पुनर्गठन बँटवारे की भी कोई हद होगी, हिन्दुस्तान, 24 दिसम्बर, 2009
17. तीवारी, शिवानन्द–असल मुद्दा है गरीबी खत्म करने का, दैनिक हिन्दुस्तान, 26 दिसम्बर, 2009
18. गुप्त, संजय–अलग राज्य के आधार, दैनिक जागरण, 25 दिसम्बर, 2009
19. मिश्र, कलराज–भाषा से आगे बढ़ कर सोंचने का समय, दैनिक हिन्दुस्तान, 22 दिसम्बर, 2009
20. अम्बेडकर, बाबा साहब भीम राव–थाट्स ऑन लिंग्विस्टिक स्टेट्स, 1955
21. नारंग, ए०एस०–भारतीय शासन और राजनीति, गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, 2004
22. कोठारी, रजनी–पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ओरिएन्ट लाँग मैन।

शोधप्रज्ञ, नेट (यू०जी०सी०),

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)

दक्षिण एशिया में भारतीय विदेश नीति की जटिलता: एक विश्लेषण

डॉ. संदीप कुमार एवं डॉ० इकबाल इमाम

राजनीति व प्रशासन पर लिखी गयी चर्चित पुस्तक 'अर्थशास्त्र' के लेखक चाणक्य के समय से अब तक 'यथार्थवाद' किसी भी देश की विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त रहा है। इसके विपरीत भारतीय विदेश नीति आरंभ से ही आदर्शवादी रही है। नेहरू युग में यह आदर्शवादी विदेश नीति अपने चरम पर रही और कमोबेश आज तक भारतीय विदेश नीति में आदर्शवाद का यह पूट मौजूद है। भारतीय विदेश नीति की चुनौती यह है कि वह अपने राष्ट्रीय हितों को लेकर दृढ़ता दिखाये। यह दृढ़ता घोषित की जानेवाली विदेश नीति में दिखनी चाहिए, विशेषकर उनके सन्दर्भ में जो हमारे राष्ट्रीय हितों का अतिक्रमण कर रहे हों। यह आवश्यकता विदेश नीति के सूत्रों को संस्थागत रूप देने की मांग करती है। यदि इतिहास की रौशनी में आज की भारतीय विदेश नीति के संस्थानों की व्यख्या की जाए तो यह त्रासदी ही लगेगी।

विंस्टन चर्चिल के शब्दों में द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व जिन्होंने बदलते रणनीतिक यथार्थों की उपेक्षा की "वे विचित्र विरोधाभास में पंफसे थे। वे अनिर्णय में रहने का निर्णय लेते हैं, संकल्पहीन होने का संकल्प लेते हैं, ढुलमुल होने से लिए अड़ियल बनते हैं, पिघल जाने के लिए ठोस बनते हैं।" भारत को किसी भी वक्त से आज ज्यादा जरूरत इस बात की है वह अतीत के दकियानूसी विचारों से मुक्त होकर दुनिया में खासकर दक्षिण एशिया में अपनी भूमिका की समीक्षा करे। हेनरी किसिंजर ने इतिहास के सिलसिले में अन्तर्राष्ट्रीय राजनय की व्याख्या करते हुए लिखा है, "राजनय इतिहास की गति का अनुमान लगाते हैं। घटनाओं से आगे रहने का संघर्ष करते हैं।"

लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज हम संस्थाओं, नीति निर्माण प्रक्रियाओं, उनकी संरचनाओं, बौद्धिकों और शोध संस्थाओं के रूप में इस तरह से संगठित नहीं हैं कि घटनाओं से आगे रह सकें और इतिहास को देख सकें।

संप्रति दक्षिण एशिया का जैसा हाल है वैसा पिछले साठ सालों में कभी नहीं रहा। भारत अपनी जगह दृढ़ स्तंभ की तरह खड़ा है, जबकि उसका पास-पड़ोस उत्थान-पतन और परिवर्तन की लपटों में झुलस रहा है। नेपाल से ईरान तक और तिब्बत से मालदीव तक नजर घुमाएँ तो पायेंगे की लगभग सभी देशों में या तो सरकारें बदल गयी हैं या वे बगावतों के दलदल में फंस गयी हैं। ईरान और अफगानिस्तान दोनों देशों में चुनाव हो चुके हैं।

इन चुनावों में सरकारें तो नहीं बदलीं, लेकिन इन चुनावों को लेकर जो विवाद हुए वे अपूर्व थे। ईरान में तो इस्लामी क्रांति के बाद ऐसा विवादास्पद कोई चुनाव ही नहीं हुआ। हामिद करजई भले ही अपने पद पर बरकरार रह गये, लेकिन अफगानिस्तान के अन्दर और बाहर उनकी स्थिति कमजोर हुई है। पाकिस्तान में यद्यपि फौजी सरकार चली गयी और उसकी जगह नागरिक सरकार आ चुकी है। मुशर्रफ की कुर्सी पर आसिफ अली जरदारी बैठ चुके हैं। नेपाल में नरेश की छुट्टी हो चुकी है। चुनाव की लहर ने वहां माओवादियों को सत्ता में पहुँचाया और कमल दहल प्रचंड को शासक बनवाया, हालांकि उन्होंने त्याग-पत्र भी दे दिया। भूटान में नरेश की जगह उनके बेटे ने ली और पहले लोकतांत्रिक चुनाव में नयी सरकार बनी। उधर बांग्लादेश में फौजी अंतराल समाप्त हुआ। शेख हसीना वाजिद वहाँ पुनः प्रधानमंत्री बन चुकी हैं। मालदीव में अब्दुल क्यूम का लंबा शासन समाप्त हुआ और उनके विरोधी सत्तारूढ़ हुए। श्रीलंका में महिंदा राजपक्षे ने नया नेतृत्व दिया और वे श्रीलंका को लिट्टे की कातिल सयाह रात से छुटकारा दिलाने का महती काम कर रहे हैं। लिट्टे का अंत श्रीलंका में नयी सुबह के आगाज की मुनादी कर

रहा है। तिब्बत और म्यांमार की बगावतों की प्रतिध्वनि सारी दुनिया में हुई। हमारे पड़ोसी राष्ट्रों में इतनी गहमागहमी एक साथ इतना व्यापक पैमाने पर पहले कभी नहीं देखी गयी। इन देशों का एक स्थायी और प्रिय शौक है भारत विरोध। वे जब भी मजे में होते हैं भारत के विरुद्ध नफरत की आग उगलते और भारत विरोध का ढोल पीटते हैं। भारत विरोधी महाशक्तियों से हाथ मिलाने की कोशिश करते हैं और भारत के विरुद्ध कुचालें चलने से बाज नहीं आते। लेकिन इस समय दक्षिण एशिया की चौपड़ उलटी हुई है। लगभग सभी देश चाहते हैं या उनके अन्दर आपस में लड़ रही पार्टियाँ चाहती हैं कि भारत उनकी मदद करे। नेपाल के पूर्व प्रधानमंत्री पुष्प कमल दहल प्रचंड ने खुलेआम स्वीकार किया कि वे अपने सेनापति रूक्मांगत कटवाल को बर्खास्त करने से पहले भारत की सहमति चाहते थे। यह रहस्योद्घाटन इसलिए अपूर्व था कि कथित 'भारतीय साम्राज्यवाद का विरोध' माओवादी राजनीति का प्रमुख मुद्दा रहा है। प्रचंड को अफसोस रहा कि भारत ने अपना कोई नेता या विदेश सचिव काठमांडू नहीं भेजा। हालांकि अन्य माओवादियों के साथ प्रचंड ने यह आरोप भी लगाया कि भारत के इशारे पर ही नेपाली राष्ट्रपति डॉ० रामबदन यादव ने बर्खास्त सेनापति को बहाल कर दिया।

भारत के लिए यह कम बड़ी उपलब्धि नहीं कि पाकिस्तानी नेता अब स्वीकार कर रहे हैं कि भारत से उन्हें कोई खतरा नहीं और वे अपनी सेनाएँ भारतीय सीमाओं से हटाकर अफगानिस्तान की सीमा पर तैनात कर रहे हैं। हालांकि इसमें भी शक नहीं कि 26/11 के मुम्बई पर हमले के बाद से ही दोनों देशों के संबंध में कड़ुवाहट और तल्खियों का शिद्दत से अहसास होने लगा है। आपसी विश्वास बढ़ाने वाले प्रयास कम हुए हैं। ट्रैक-टू डिप्लोमेसी पटरी से उतर गयी है और मुशर्रफ के पद छोड़ने और पाकिस्तान में लोकतांत्रिक शासन आने के बाद दोनों देशों के संबंधों में जिस गर्मजोशी की अपेक्षा की जा रही थी 26/11 ने उस भावना पर पानी फेर दिया।

भारत की बढ़ती आर्थिक शक्ति और कुछ अमेरिकी दबाव में पाकिस्तान के नेता वह कहने और स्वीकार करने लगे हैं जो पहले वहाँ के नेताओं द्वारा नहीं कहा और स्वीकारा गया। स्वतंत्रता के बाद यह शायद पहला ऐसा मौका हैं जब भारत, पाकिस्तान और अफगानिस्तान तीनों राष्ट्र किसी एक वैश्विक महाशक्ति के साथ काम कर रहे हैं। अन्यथा शीत युद्ध के दौरान भारत और अफगानिस्तान सोवियत संघ के साथ होते थे, जबकि पाकिस्तान अमेरिका के साथ। काठमांडु में जिस दिन सेनापति की बहाली और प्रधानमंत्री के इस्तीफे का घटनाक्रम चल रहा था, कई प्रेक्षक यह बता रहे थे कि नेपाल के संबंध में भारत और अमेरिका की चिन्ताएं और उपाय एक जैसी हैं। लगभग यही स्थिति श्रीलंका के बारे में भी है। निर्दोष तमिलों और लिट्टे की सफाई के बारे में भारत और अमेरिका की राय एक ही है।

अमेरिकी सरकार खुलेआम कहती है कि चाहे पाकिस्तान हो, नेपाल हो या श्रीलंका अमरीका भारत के साथ सतत संपर्क में रहता है। बराक ओबामा के विशेष दूत रिचर्ड हालब्रुक से 'कांग्रेस की सुनवाई' में पूछा गया कि पाकिस्तान और अफगानिस्तान मामले में भारत कहाँ होता है, तो उन्होंने कहा "दोनों राष्ट्रों के साथ हुई बातचीत से भारत को पूर्णतः अवगत कराया जाता है। वे दिन लद गये जब ताशकंद में पाकिस्तानी नेता भारतीय नेताओं की बराबरी में बैठते थे, अब उन्हें अफगानिस्तान के नेता के साथ बैठना पड़ता है। उस अफगानिस्तान के नेताओं के साथ, जिसे कल तक वे अपना पांचवां प्रांत समझते थे। यह पाकिस्तान की गिरावट का सबसे बड़ा सबूत है। पाकिस्तान को मजबूर होकर अपनी नयी घटी हुई हैसियत को स्वीकार करना पड़ रहा है। अमेरिका ने अब भारत को दक्षिण एशिया की महत्तम शक्ति मान लिया है।

"1971 में रिचर्ड निक्सन ने बांग्लादेश बनने के बाद भारत को दक्षिण एशिया का प्रमुख देश" कहा था। अब ओबामा ने उसे क्षेत्रीय महाशक्ति का दर्जा दे दिया है। इस मामले में चीन की नीति वह नहीं हैं जो अमेरिका की है। पड़ोसी राष्ट्र होने के नाते चीन कुछ-न-कुछ दखलंदाजी जरूर करता रहता है। क्योंकि कश्मीर पर चीन ने अपने रुख में काफी परिवर्तन किया है और श्रीलंका में वह भारतीय विदेश नीति का विरोध नहीं करता है। लेकिन म्यांमार और नेपाल में उसका रवैया भारत से फर्क है। वास्तव में वह इन दोनों राष्ट्रों में भारत को चुनौती देता रहता है। नेपाल के पूर्व प्रधानमंत्री कमल दहल प्रचंड ने स्वीकार किया कि उनके सत्तारूढ़ होने के बाद से चीनियों ने पहल करके अनेक प्रतिनिधिमंडल काठमांडु भिजवाये। म्यांमार में भी चीनी सरकार ने बौद्ध भिक्षुओं के दमन का पूर्ण समर्थन किया था। वहां उसके आर्थिक स्वार्थ उसे भारत के साथ प्रतिस्पर्धा में घसीटते हैं। इसी प्रकार अफगानिस्तान में उसने अभी पन्द्रह हजार करोड़ का निवेश एक तांबे की खाद्यान में किया है।

भारत की विदेश नीति, विशेषकर दक्षिण एशिया नीति की प्रमुख विशेषता रही है सामरिक रूप से सुरक्षित, राजनीतिक रूप से स्थायी, सौहार्द्रपूर्ण और आर्थिक सहयोग पर आधारित पड़ोसी को पनपने में सहायता की जाए। भारत ने पड़ोसियों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों पर सदा बल दिया है।

भारत आरंभ से ही संघर्षों से दूर रहना चाहता है, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान का इच्छुक है और सभी पड़ोसी देशों के साथ मित्रता रखना चाहता है। भारत के कई पड़ोसी देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य हैं और सामान्यत: भारत की शांति के प्रति वचनबद्धता के समर्थक हैं। फिर भी कई पड़ोसियों के साथ विवाद उत्पन्न हुए हैं और युद्ध भी करने पड़े हैं। भारत ने चीन के साथ पूर्ण मित्रता के प्रयास किये, तिब्बत पर उसके संप्रभु अधिकारों को स्वीकार किया, फिर भी चीन से 1962 में एक युद्ध करना पड़ा। अब भी भारत के कुछ प्रदेश उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम में, चीन के अधिकार में हैं। लगभग तीन दशकों के पश्चात् 1996 के अन्त में भारत-चीन संबंधों को सामान्य बनाने की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये गये।

पाकिस्तान भी गाहे-बगाहे भारत के साथ अपने संबंधों को उलझाता रहा है। वह निरंतर कश्मीर के प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से उठाने का प्रयास करता रहता है। पाकिस्तान समय-समय पर भारत के सद्भावना बढ़ाने के प्रयासों को अस्वीकार करता रहा है। भारत ने असंख्य बार जम्मु-कश्मीर के प्रश्न पर संवैधानिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह राज्य भारतीय संघ का अभिन्न अंग है। परन्तु, पाकिस्तान कश्मीर को फिर भी विवादास्पद प्रदेश कहता है। अन्य देशों के साथ भारत के मधुर संबंधों का विकास होता रहा है। नेपाल, श्रीलंका व बांग्लादेश की सरकारों ने पड़ोसियों के प्रति भारत की सकारात्मक पहल को स्वीकारा है। भारत दक्षिण एशिया में राजनीतिक-आर्थिक पहल को स्वीकारा है। भारत दक्षिण एशिया में राजनीतिक-आर्थिक सहयोग के विस्तार के लिए निरंतर प्रयत्नशील है।

भारत ने कई पड़ोसी देशों को 'फेवर्ड नेशन' का दर्जा दे रखा है। साथ ही सार्क के माध्यम से भारत क्षेत्र में आर्थिक एकीकरण के लिए एकतरफा पहल करता रहा है। हालांकि पड़ोसी देशों की ओर से उत्साहजनक प्रतिक्रिया अब तक नहीं आयी है। भारत ने नेपाल, बांग्लादेश और अफागानिस्तान में आधारभूत संरचनाओं के विकास के लिए काफी निवेश किया है। बांग्लादेश, नेपाल और पाकिस्तान के साथ जल विवादों को सम्मानजनक तरीके से निबटाने में सफलता मिल चुकी है। भारत भूटान तथा म्यांमार के साथ भी मित्रता को बढ़ाने के प्रयास जारी रखे हुए है।

हर देश अपने राष्ट्रहित को परम महत्वपूर्ण समझता है। हमें कभी भी इस भ्रम को नहीं पालना चाहिए कि हमारे मित्र देश, चाहे वे कितने ही घनिष्ठ से और गाढ़े समय के आजमाये हुए ही क्यों न हों हमारे राष्ट्रहित को अपने स्वार्थों से अधिक महत्वपूर्ण समझेंगे। ब्रिटेन हो, अमेरिका, चीन या फिर कोई अन्य देश उनके सामरिक हित और राजनयिक लक्ष्य हमेशा भारत के अनुकूल हों, यह सोचने का कोई कारण नहीं।

अमेरिका द्वारा लंबे समय तक पाकिस्तान की तरफदारी शीतयुद्ध के दबाव के कारण रही, तो ब्रिटेन की मजबूरी सिर्फ इतनी थी कि वह पाकिस्तानी तानाशाहों को सैनिक साजो-सामान खरीदने के लिए फुसलाना जरूरी समझते थे। 1965 में कच्छ के रण में ब्रिटेन का आचरण भी ऐसा ही रहा था। कश्मीर समस्या के विवाद के निबटारे में मध्यस्थता की पेशकश वे दबी जुबान में कभी जोर-शोर से यह सुझा कर करते रहे हैं कि दक्षिण एशिया के मामलों की जानकारी उन्हें औरों से अधिक है। मीलिबैंड हों या कोंडोलिसा राईस, हॉलब्रुक हों या हिलेरी क्लिंटन भारत को अपने राष्ट्रहित या संवेदनशील सामरिक हितों व मुद्दों के बारे में किसी दूसरे के बताये रास्ते पर चलने की जरूरत नहीं है।

यद्यपि पाकिस्तान में जनतंत्र की राह उतनी आसान नहीं, फिर भी मुम्बई कांड के बाद फौज और आईएसआई दोनों ही वहाँ दबावग्रस्त हैं। उधर आंशिक रूप से ही सही, इस्लामी विरासत से जुड़े अमेरिका के नये राष्ट्रपति बराक हुसैन ओबामा आतंकवाद के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चाबन्दी के मामले में पाकिस्तान के कट्टरपंथियों पर नकेल कसने के मामले में कोई कोर-कसर छोड़ने वाले नहीं। जो भी हो क्षेत्रीय महाशक्ति होने के कारण दक्षिण एशियाई देशों के प्रति भारत का दायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। पड़ोसी देशों में चल रही उठा-पटक के बारे में उसका यह कहना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तों के

अनुकूल है कि 'वह उनका आन्तरिक मामला' है। लेकिन यदि नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका में वहाँ की स्थिति वहाँ की सरकारों के काबू के बाहर हो गयी, तो उनका आन्तरिक मामला अपने आप बाहरी मामला यानी भारत का मामला बन जायेगा। भारत को इस संभावना के प्रति हमेशा सतर्क रहना चाहिए।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दक्षिण एशिया में शांति, स्थिरता, सुख व समृद्धि इन सब में भारत की महती भूमिका है। भारत का सफल लोकतंत्र इन देशों के लिए एक उपयुक्त मॉडल प्रस्तुत करता है। दक्षिण एशिया के सामाजिक, सांस्कृतिक सन्दर्भ विविधता के साथ-साथ एकरूपता को भी समेटते हैं। यहाँ की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ कमोबेश एक जैसी रही है।

भारतीय लोकतंत्र और उसकी आर्थिक शक्ति इन देशों के राजनीतिक-आर्थिक विकास और समृद्धि का आधार हो सकती है। भारत की पड़ोसी देशों के प्रति शांतिपूर्ण और सहयोगात्मक नीति तभी अंजाम तक पहुँच सकती है, जबकि पड़ोसी देश भी भारत की सदाशयता और समझ के साथ कदमताल करे। लेकिन इन देशों का बार-बार भारत पर शक करना भारत की सार्थक पहल को कहीं न कहीं आगे बढ़ने से रोकता है। सैनिक तानाशाही भी दक्षिण एशिया की राजनीति को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती रही है। भारत को भी अपने पड़ोसियों के प्रति जिम्मेदारी के साथ-साथ राष्ट्रहित और विदेश नीति के बुनियादी सिद्धान्त से जुड़े रहना चाहिए। किसी भी विदेश नीति का सार राष्ट्रहित से ही तय होता है। भारत कई बार विदेश नीति की यथार्थताओं को नजरअंदाज करने की नादानी कर चुका है।

तिब्बत का मामला उसका ठोस उदाहरण है। भारतीय विदेश नीति की यह कोशिश होनी चाहिए कि एक सीमा तक ही भारत अपने पड़ोसियों को सुरक्षा और आर्थिक सहायता की छतरी दे सकता है। यदि ये पड़ोसी देश ही उस सुरक्षा छतरी में नहीं आना चाहें तो इसमें भारत का क्या दोष हो सकता है। भारत को हमेशा यह ख्याल रखना चाहिए कि पड़ोसियों को 'सुरक्षा छतरी' उपलब्ध कराने के क्रम में उसके अपने सुरक्षा सरोकार और राष्ट्रहित से जुड़े सवाल कहीं गौण न बन जाएँ और उपेक्षित न रह जाएँ।

संदर्भ सूची

1. दत्त, वी०पी०, बदलती दुनिया में भारत की विदेशनीति, 2003, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि०वि०, दिल्ली
2. खन्ना, वी०एन० एवं अरोड़ा, लिपाक्षी, भारत की विदेशीनीति, 2000, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
3. पंत, डॉ० पुष्पेश एवं जैन, श्रीपाल, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, 2000, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
4. गांधी, इन्दिरा, सेलेक्टेड स्पीच एवं राइटिंग 1982-84, 1986, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
5. प्रभात खबर, पटना, 19 मई 2009, डॉ० वेद प्रताप वैदिक का आलेख
6. दैनिक हिन्दुस्तान, पटना 14 अगस्त, 2009, एन०के० सिंह का आलेख
7. फ्रंट लाइन, दिसम्बर 18, 2009
8. वही, नवंबर 20, 2009
9. वही, दिसंबर 04, 2009
10. वही, दिसंबर 07, 2007
11. वही, फरवरी 15, 2008
12. खन्ना, वी०एन०, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, 2005, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डॉ० संदीप कुमार

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ० इकबाल इमाम

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

लोकतंत्र और पंचायती राज: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

मुन्ना कुमार राम

महात्मा गाँधी एक बहुआयामी लेखक एवं दार्शनिक थे। मानव जीवन से सम्बन्धित कोई भी पहलू ऐसा नहीं होगा जिसपर उन्होंने अपना मत प्रकट न किया हो। उल्लेखनीय बात यह है कि उनके विचार अत्यन्त उदारवादी व लोक कल्याण की भावना से प्रेरित है। गाँधीजी लोकतंत्र शासन व्यवस्था के अनन्य समर्थक थे। वे व्यस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था मानते थे, उनका कहना था कि बुनियादी स्तर पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र एवं राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधि लोकतंत्र होना चाहिए। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी लोकतंत्र की इस व्यवस्था को अपनाया। इस व्यवस्था में दोष ढूँढ़ना आज एक रिवाज हो गया है। यदा-कदा यह कहा जाता है कि हमारे देश में संसदीय प्रजातंत्र लोगों की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाया है। अत: इसके स्थान पर राष्ट्रपति प्रणाली स्थापित की जाए। परन्तु हमारी समस्याओं का समाधान संविधान में परिवर्तन करके नहीं अपितु स्वस्थ परम्पराओं को विकसित कर संविधान के अन्तर्गत निष्ठापूर्ण सेवा-भावना से ही किया जा सकता है। यदि हम नियंत्रण और प्रतिनियंत्रण की यथोचित व्यवस्था को विकसित कर लें और तदनुसार कानूनों की स्थापना करें तो यह काम करना कठिन नहीं होगा। इससे हमारे लोकतंत्र की जड़े दृढ़ होगी। साथ ही जो स्वस्थ परम्पराएँ विकसित होगी उनसे न केवल हमारे राष्ट्र के निर्माण में सहायता प्राप्त होगी, बल्कि एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित देश भी उनसे प्रेरणा ले सकेंगे। आज एशिया एवं अफ्रीका के देशों को संवैधानिक पथ प्रदर्शन की आवश्यकता है। अनेक देशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद लोकतंत्र की स्थापना हुई परन्तु बाद में उनका झुकाव तानाशाही की ओर होता गया। इस प्रकार गाँधीजी की लोकतंत्र की धारणा पर चलकर हम अपने विकास के साथ अन्य देशों के विकास में भी योगदान दे सकने में समर्थ हो सकते हैं।

गाँधीजी ने राजनीतिक व आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण करके आत्मनिर्भर व स्वशासित ग्राम पंचायतों की स्थापना की वकालत की। उनका कहना था कि आत्मनिर्भर ग्राम-पंचायत उनके अहिंसा पर आधारित राज्य की एक महत्वपूर्ण इकाई होगी। कुछ लोग यह सोचते हैं कि पंचायती राज का आशय प्राचीन भारत में प्रचलित छोटे-छोटे गणराज्यों की पुनर्स्थापना है। परन्तु यह गलत है। गाँधीजी का कहना था कि कोई भी व्यवस्था समय व परिस्थितियों के अनुकूल होनी चाहिए। जब हम आज ग्राम पंचायतों की बात करते हैं तो हमें आज की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। हाँ यह आवश्यक है कि प्राचीन काल में ग्रामपंचायतों में लोकतंत्रीय आदर्श, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के अंकुर रहे हैं। इस व्यवस्था ने परस्पर सहयोग, सामाजिक सद्भाव व प्रत्यक्ष लोकतंत्र को संभव बनाया है। आज भी यह पुरानी व्यवस्था लोकतंत्र का महत्वपूर्ण आधार है।

जब भारत का संविधान बनाया जा रहा था तो गाँधीजी ने माँग की थी कि संविधान में पंचायती राज व्यवस्था को अंगीकार किया जाए। उन्होंने 21 दिसम्बर 1947 को 'हरिजन' में लिखा था कि ''मुझे ज्ञात हुआ है कि संविधान में ग्राम पंचायतों के बारे में कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष व्यवस्था नहीं की जा रही है; मेरे विचार में यह एक गंभीर भूल है। पंचायत व्यवस्था अति आवश्यक है। यह छोटे-छोटे ग्रामों के लोगों को असली प्रजातंत्र की शिक्षा देती है, हाँ यह आवश्यक है कि अच्छे स्तर को बनाये रखने के लिए हमें शिक्षा के स्तर को भी सुधारना होगा।''

गाँधीजी के जोर देने पर ही संविधान के भाग-IV में नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत अनुच्छेद-40 की व्यवस्था की गई। इसमें कहा गया है कि ''राज्य ग्राम पंचायत के गठन के लिए कदम उठायेगा और उन्हें स्वशासित इकाईयों के रूप में कुशलता से कार्य करने के लिये आवश्यक शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा।''

शक्ति के विकेन्द्रीकरण के संदर्भ में गाँधीजी के विचार काल्पनिक नहीं थे। आज पश्चिम के अनेक लेखक इनकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर सी॰ई॰एम॰ जोड ने लिखा है कि ''अगर मानव को सामाजिक प्रक्रिया में विश्वास उत्पन्न करना है तो राज्य की शक्ति को कम कर देना चाहिए और उसमें कार्यों का विभाजन कर देना चाहिए। प्रो॰ हक्सले ने लिखा है कि केवल विकेन्द्रीकरण एवं उत्तरदायी स्वशासन की वयवस्था से ही बेहतर समाज की स्थापना हो सकती है। डॉ॰ एडम्स ने आधुनिक सरकारों की दुर्बलताओं पर विचार करने के बाद कहा कि बुराई की जड़ शक्तियों का केन्द्रीकरण है। समय आ गया है कि अब कठोर कदम उठाकर सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाए। ब्राइस ने लोकतंत्र की विशद व्याख्या की। उसने बताया कि लोकतंत्र का आरम्भ छोटे-छोटे समूहों से हुआ, जहाँ लोग आपसी विचार विमर्श से कार्य करते थे। सत्ता को छोटे-छोटे समूहों में बाँटने से न केवल उनका समाधान सरल हो जाता है, लोगों में आत्मविश्वास भी उत्पन्न होता है।

ग्रामीण स्वराज की चर्चा करते हुए गाँधीजी ने लिखा कि इसके अन्तर्गत अनेक गाँव होंगे जो आत्मनिर्भिर होंगे जीवन का आधार ऐसा स्तूप हीं होगा जिसके शीर्ष को आधार पर खड़ा किया जायेगा। इसके विपरित समाज की संरचना विभिन्न छोटी-छोटी इकाईयों द्वारा होगी, जिसमें हर इकाई अपने निर्धारित कार्यों को सम्पन्न करेगी। निश्चय ही इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आयेगी। परन्तु यदि स्वराज्य के सच्चे आदर्श को प्राप्त करना है तो इन कठिनाइयों का कोई न कोई हल निकालना ही होगा। यह कार्य सतत् प्रयास और निःस्वार्थ लगन द्वारा ही कर पाना संभव होगा, तभी हम गाँधीजी के ग्रामीण स्वराज्य के स्वप्न को साकार कर सकेंगे।

बापू की स्वराज्य संबंधी स्थिति

बापू ने कहा था कि-''स्वराज्य का अर्थ विदेशी शासन-मात्र से ही मुक्ति नहीं प्रत्युत प्रत्येक प्रकार के शोषण से देश को मुक्ति दिलाना है।'' उनका अभियान था ''सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिये लगातार प्रयास करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। यदि स्वराज्य हो जाने पर भी लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दे, तो वह स्वराज्य सरकार के किसी काम की नहीं होगी।''

बापू ने हिन्द स्वराज्य के लिए राम-राज्य की कल्पना की थी। ''राम राज्य की कल्पना में तीन-बाते निहित थीं जिसमें जनता का सर्वांगीण विकास हो, जहाँ शासन अहिंसा और प्रेम पर चलता हो, जहाँ एक वर्ग या देश दूसरे वर्ग या देश का शोषण नहीं करता हो। हम सब इस बात से भली भाँति परिचित है कि उनकी तीनों ही बातों की देश में क्या स्थिति है।''

आज सत्ता और शक्ति राज नेताओं के चंगुल में बन्द होकर कराह रही है। आज जनता स्वराज्य के हक एवं सुविधाओं से वंचित है। आबादी के 15 प्रतिशत लोगों को ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध करायी गई है, जिनकी सामान्य लोग कल्पना भी नहीं कर पाते। मात्र 15 प्रतिशत लोगों को श्रेष्ठतम् सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिये शेष 85 प्रतिशत लोगों को अपना सर्वस्व लुटाना पड़ा है। अधिकाधिक लोगों को उनके हक और सुविधाओं से वंचित कर कुछ लोगों को साधन सम्पन्न बनाना ही इसकी नीति है।

सत्ता की हवस ने आज देश को अगड़े-पिछड़े और बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक के मकड़जाल में फांस दिया है। ''फूट डालो और शासन करो'' की नीति पर अवलम्बित स्वराज्य, सरकार जनमानस में ताजीयता, साम्प्रदायिकता एवं धर्मान्धता का विष घोलकर समाज को टुकड़े-टुकड़े में विघटित कर रही है, जिसमें आज जन-समुदाय पारस्परिक द्वेष एवं कलह से आक्रांत है। आज भाई-भाई आपस में लड़ रहे हैं। खाने और कपड़े की भयंकर तंगी है। आजादी के 62 वर्ष बाद भी आज यही स्थिति है।

बापू के अनुसार ग्राम-स्वराज्य गाँव स्तर पर छोटा गणराज्य है, जिसमें ग्रामवासियों की आवश्यक जरूरतों के विषय में हर एक गाँव की स्वयं शासित और स्वयं पूर्ण बनाने वाली ग्राम प्रवृतियों के हर विभाग का समावेश होगा, ताकि अपने हित के लिए एक दूसरे के साथ शांतिपूर्ण ढंग से सहयोग करने वाले ऐसे छोटे गणराज्यों की विशाल रचना की मजबूत नींव पर समूचे राष्ट्र का जीवन खड़ा किया जा सके और वह अपने-निश्चित ध्येय को बिना किसी रूकावट के प्रगति कर सके।

बापू के ही शब्दों में 'ग्राम स्वराज्य के समाज में जात-पात और क्रमागत अस्पृश्यता जैसे भेद हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम समाज में बिल्कुल नहीं रहेंगे।

बाबू के अनुसार ग्राम-स्वराज्य ही स्वतंत्र भारत का आधार हैं, जिसमें राजनीति स्वतंत्रता से अधिक आत्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, वैचारिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता एवं स्वायतता अधिक महत्वूपर्ण है, जो आज नहीं है।

बापू द्वारा निरूपित पंचायत राज

बापू द्वारा कल्पित ग्राम स्वराज्य की तस्वीर पंचायत राज द्वारा ही संरचित होगी। बापू ने कहाँ है कि ''अगर हिन्दूस्तान के हर एक गाँव में कभी पंचायत राज कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तस्वीर की सच्चाई साबित कर सकूँगा।''

बापू द्वारा संचालित पंचायत-आंदोलन स्वातंत्र्योपरान्त शिथिल हो गया। स्वतंत्र भारत के लिए निर्मित संविधान-प्रारूप में पंचायत का नामोनिशान भी नहीं आया। यह जानकर बापू बहुत दुखी हुए संविधान निर्माताओं से अनुरोध किया ''अगर हम भारत की स्वाधीनता को देश की समस्त जनता की भावनाओं का प्रतिफल मानते हैं, तो देश के संविधान में पंचायतों को उचित स्थान मिलना ही चाहिए, क्योंकि पंचायतों को जितना ही अधिक अधिकार प्रदान किया जायेगा, जनता के लिए वह उतना ही अधिक कल्याणकारी सिद्ध होगा।''

संविधान के अनुच्छेद 243 'घ' के तहत ग्यारहवीं अनुसूची में 29 प्रकार के कार्य पंचायतों को सौंपे गये हैं, किन्तु इन कार्यों को राज्य की कार्य-सूची में विलोपित नहीं किया गया है, जिसमें राज्य सरकार की इच्छा एवं स्वीकृति से ही पंचायती राज कोई कार्य कर सकता है। इस प्रकार पंचायती राज अपने कार्य क्षेत्र के अन्दर भी स्वायत्तता एवं स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर रहा है बल्कि राज्य सरकार पर ही निर्भर कर रहा है। आजादी के 62 वर्षों में भी पंचायत संबंधी बापू की कल्पना साकार नहीं हो सकी है। फिर भी ग्राम सभा को संविधान के सम्मानित स्थान मिलने से प्रत्येक ग्रामीण नागरिक को स्थानीय विकास एवं प्रशासन संबंधी कार्यों में सहभागी बनने के सुअवसर अवश्य मिला है, जिसके लिए जनता को जागने की जरूरत है।

महिला विकास संबंधी गाँधी विचार

महात्मा गाँधी जिन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका को एक क्रांतिकारी दिशा दी थी, महिलाओं को घर की चहारदीवारी और पर्दे से बाहर ले आये थे। नारी की गुलामी देश की आजादी के लिये खतरा था। गाँधीजी ने सबसे पहले आजादी के रण क्षेत्र में नारी को बंद कमरे के दरवाजे से निकाला और उन्हें अग्रणी बनाया। नारी को परिवार की प्रथम शिक्षिका मानकर नारी-शिक्षा पर विशेष जोर दिया। भारत में लगभग आधी जनसंख्या महिलाओं की है, जिन्हें आधी भागीदारी जीवन विकास के प्रत्येक क्षेत्र में रहने से ही राष्ट्र अधिक समृद्ध होगा, परन्तु आज महिलाओं पर बलात्कार, अपहरण एवं शोषण हो रहा है। इसे रोकना राष्ट्रीय चुनौती बन गया है।

विश्व-शांति संबंधी गाँधी विचार

भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई में गाँधीजी का उद्देश्य मात्र भारत को आजादी दिलाना ही नहीं था, बल्कि विश्व में शांति स्थापित करने के लिये दुनिया की आजादी की राह को वे प्रशस्त करना चाहते थे। गाँधीजी ने जुलाई 1942 में क्रीडमेन को लिखा था कि ऐसे विश्व संघ की नींव अहिंसा पर खड़ी होगी और विश्व-क्रियाकलाप में हिंसा को सदा सर्वदा के लिए समाप्त कर देना चाहिए। गाँधी को पूर्ण विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय संघ तभी सफल हो सकता है, जब सभी राष्ट्र स्वतंत्र हो और राष्ट्र किस हद तक अहिंसा के मार्ग पर चल रहा है... विश्व में शांति, स्थापित करने के लिये अहिंसक सेना अर्थात शांति सेना के वे पक्षधर थे, जिसका उद्देश्य सहयोग होगा न कि ताकत का इस्तेमाल। जब तक संयुक्त राष्ट्र संघ में गांधी विचार का अनुसरण नहीं किया जायेगा, तब तक विश्व शांति की स्थापना संभव नहीं है।

सामुदायिक हित और कल्याण की भावना

नए समाज की रचना करना है जिसमें सामुदायिक हित और कल्याण को प्राथमिकता दी जाएगी। इसका अर्थ यह है कि व्यक्तिगत कल्याण के लिए पूर्ण अवसर होगा। परन्तु टकराव के समय सामुदायिक हित को प्राधान्य देते हुए यदि आवश्यक हो तो व्यक्तिगत हित को त्यागना भी होगा अर्थात यह विचार पश्चिमी संकल्पना जिसमें अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक कल्याण किया जाए, यदि आवश्यक हो तो- अल्पसंख्यक के लोगों की कीमत पर भी- इसके बिल्कुल विरूद्ध है।

असमानता निर्मूलन

नई समाज रचना में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता को जितना कम किया जा सके उतना कम करने का प्रयास किया जाना चाहिए। यह गाँधीजी की अत्यंत महत्वपूर्ण मान्यता केवल किसी क्षेत्र विशेष के लिए नहीं, परन्तु सम्पूर्ण देश में यह परिस्थिति निर्माण की जाए, ऐसी कल्पना थी। सम्पूर्ण भारत के अर्थ में उनका बल ग्रामीण भारत पर अधिक था। कारण वे ग्रामीण भारत को ही वास्तविक भारत मानते थे। जाति-विहीन, वर्ग-विहीन, अहिंसक समाज जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को किसी प्रकार की जाति, आर्थिक प्रतिष्ठा, पूजा-पद्धति, सामाजिक प्रतिष्ठा, लिंग आदि भेद के बिना अपनी उन्नति और विकास के समान अवसर मिल सकेंगे, इस प्रकार के समाज की स्थापना केवल भारत में ही नहीं, परन्तु अखिल विश्व में स्थापित हो, ऐसा गाँधीजी का नए समाज रचना के विषय में विचार था।

बेरोजगारी निर्मूलन

रोजगार अवसर के अभाव में वर्तमान पूर्णकालिक बेकारी और अंशकालिक बेरोजगारी की समस्या गाँधीजी के लिए बड़ी चिन्ता का विषय था। ग्रामीण भारत का आर्थिक पिछड़ापन और दयनीय गरीबी का प्रमुख कारण वहाँ की कल्पनातीत पूर्णकालिक तथा अंशकालिक रोजगार अवसर के अभाव की स्थिति हैं। चरखा गाँधीजी के लिए ग्रामोद्योग का प्रतीक तो था हि। परन्तु उसके उपयोग के पीछे कुछ भावना एवं दर्शन भी था। विज्ञान की सहायता से चरखे का जो आधुनिकीकरण अम्बर चरखे के रूप में किया गया है उसके उपयोग को कृषि के साथ रोजगार अवसर न तो तब कुटीर उद्योग के रूप में रोजगार अवसर के लिए ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ावा देने से बेकारी निर्मूलन में बहुत सहायता होगी। यानी भारत में वर्षा निर्भर कृषि और उसके मौसमी रोजगारों के अवसर कम अधिक प्राप्त होने का चरित्र भविष्य में भी बना रहने वाला है। इस स्थिति में भी कृषि कार्य में जब रोजगार के अवसर न हो तब पुरक व्यवसाय के रूप में खादी-ग्रामोद्योगों को एवं अन्य व्यवसायों का ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान सदा-सर्वदा बना रहेगा।

शिक्षा

पश्चिमी पद्धति की शिक्षा प्रणाली जिससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। उसके स्थान पर गाँधीजी द्वारा ''नई तालीम'' या ''बुनियादी शिक्षा'' के नाम से जानी जाने वाली नई शिक्षा पद्धति का प्रसार किया गया था। किसी भी देश की शिक्षा पद्धति वहाँ के नागरिकों को उत्तम मानव व नागरिक बनाने का महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा प्रणाली में वह क्षमता आवश्यक है जिसके परिणाम से राष्ट्रीय परिस्थिति के परिपेक्ष्य में वहाँ के नागरिक सफलता पूर्वक जीवन संघर्ष का सामना कर सकें। ''जहाँ नई तालीम पद्धति से बालक और बालिकाओं को शिक्षा दी जायेगी वहाँ के बालक ही अपने घर के प्रौढ़ों के शिक्षक बन जाएँगे, अन्यथा ग्राम कार्यकर्त्ता को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को क्रियान्वित करना चाहिए।'' गाँधीजी के लिखने का अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव इस कार्यक्रम के लिए भी स्वावलंम्बी तथा आत्मनिर्भर बने। गाँवों में प्रौढ़ शिक्षा हेतु 'एक दूजे को शिक्षित करें यह सिद्धांत गाँधीजी को मान्य था, अर्थात् प्रारंभ ग्राम कार्यकर्त्ता को करना होगा।

महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम

भारतीय स्वतंत्रता के सेनानियों में महात्मा गाँधी का एक अनोखा स्थान है। राजकीय संघर्ष के साथ महात्मा गाँधी ने ग्रामवासियों के उत्थान हेतु विभिन्न कार्यक्रमों का विकास किया। उन्होंने अपनी कल्पना और कुछ प्रयोगों से अनुभव प्राप्त कर अनेक कार्यक्रमों को प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। कुछ इने-गिने कार्यक्रमों से प्रारंभ किया और अन्त तक ऐसे कार्यक्रमों की संख्या बीस तक पहुँच गई। इनकी सहायता से और इन्हीं के माध्यमों से आर्थिक और सामाजिक पुनर्निमाण कर भारत में विशेषत: ग्रामीण भारत में नए समाज के निर्माण का गाँधीजी का स्वप्न था। गाँधीजी के बीस रचनात्मक कार्यक्रम में निम्नलिखित को सम्मिलित किया गया था।

1. खादी, 2. ग्रामोद्योग, 3. ग्रामीण स्वरूछता एवं स्वास्थ्य रक्षा, 4. जातीय एकता, 5. अस्पृश्यता निवारण, 6.मद्यपान निषेध, 7. बुनियादी शिक्षा, 8. प्रौढ़ शिक्षा, 9. महिला उद्धार, 10. स्वास्थ्य शिक्षा, 11. राष्ट्रभाषा, 12. स्थानीय भाषाएँ, 13. आर्थिक समानता, 14. कृषक-उत्थान, 15. श्रमिक उद्धार, 16. बनवसी आदिवासी उद्धार, 17. कुष्ठ मुक्ति, 18. छात्र, 19. पशुधन

सुधार, 20. प्राकृतिक चिकित्सा। इस प्रकार गाँधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम भारतवासियों को विशेषत: ग्रामवासियों को आर्थिक तथा सामाजिक वंचना से सक्रिया सहजीवन का मार्ग प्रशस्त करने का बलशाली एवं प्रभावी माध्यम भी है।

आत्मनिर्भर ग्राम व्यवस्था

ग्रामों की आत्म-निर्भरता ही ग्राम-पुनर्निर्माण का आधार है। इसके द्वारा गाँधी पृथकता की बात नहीं कर रहे हैं वरन् वे कहते हैं कि ग्राम पुनर्निर्माण के लिए हमें जनता के साथ ऐसे घुलमिल जाना है जैसे दूध में चीनी। एक ग्राम स्वयं में 'पूर्ण आत्मनिर्भर' नहीं हो सकता, अत: सामूहिक रूप में ग्राम आत्मनिर्भर होंगे। एक ग्राम के द्वारा जिन वस्तुओं के उत्पादन संभव नहीं होगा, दूसरे गाँव से अपना उत्पादन देकर उन वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकेगा। ग्राम-पंचायतों एवं ग्राम सेवकों का यह कर्त्तव्य है कि जनता को जड़ता एवं आलस्य से दूर करने एवं रचनात्मक कार्यक्रम की ओर प्रेरित करने का कार्य करें जिससे ग्राम-विकास में जनता की अधिकाधिक सहभागिता संभव हो सके।

इस प्रकार भारत के ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने तथा बेकारी और निर्धनता जैसे दानवों से उनकी रक्षा के लिए गाँधीवादी मॉडल व्यावहारिक तो है ही, प्रासंगिक भी है। गाँधी के सम्पूर्ण विचारों को सूक्ष्म अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रचलित विचारों, प्रथाओं रूढ़ियों को छोड़कर आगे बढ़ने की चिंता गाँधी के कार्यक्रमों में है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती। गांधी हमें बीसवीं सदी से पंद्रहवी सदी में ले जाने का प्रयास नहीं करते वरन हमें ऐसा मार्ग दिखाते हैं जिसपर चलकर बीसवीं शताब्दी का जन-समाज और मानव संस्कृति विनाश के गर्त में जाने से बच जाए और इक्कीसवीं शताब्दी में गर्व के साथ प्रगति करता जाए।

संदर्भ स्रोत

1. Narayan Sriman (ed.): The Selected works of Mahatma Gandhi, vol. IV, P. 240.
2. Young India : P- 20
3. M.K. Gandhi : 1 Jec Dock, K P-7
4. M.K. Gandhi : Hindu religion, P- 260
5. डॉ॰ रामनारायण घोष: व्यास धर्म दर्शन, पृ॰-280
6. जैन, यशपाल (1997): निस्तेल स्वर्ण जयन्ती वर्ष, पटना।
7. दत्त, विजय रंजन (1990): पंचायती राज का वैचारिक आधार, राष्ट्रीय विकास संस्थान, हैदाबाद।
8. अनिल, सी॰ मित्र (1997): विकास की अवधारणा पर पुनर्विचार, हिन्दूस्तान, पटना।
9. सिंह, राजेन्द्र प्रसाद (1987): बिहार में ग्राम पंचायत, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना।
10. मो॰ क॰ गाँधी (1969): मेरे सपनों का भारत, सर्वसेद्या संघ, वाराणसी
11. राजेन्द्र प्रसाद सिंह: बापू के आईने में ग्रामीण विकास समीक्षा, पृ॰- 9
12. सुधीर देवदान: भारतीय संविधान और गाँधी
13. मोहन सुरेन्द्र सादी: पूर्ण आजादी, हिन्दुस्तान, पटना '71, 1997, पृ॰- 1
14. सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय: खण्ड-16, पृ॰-441-442
15. पाण्डेय जर्नादन (1994): शांतिमय विश्व का गाँधीय प्रतिष्ठान गाँधी ज्योति, गाँधी विचार विभाग ति॰ मा॰ भागलपुर वि॰वि॰, भागलपुर, 2 अक्टुबर, पृ॰- 39-43
16. कुमार, नन्द किशोर (1986): गाँधी क्रांतिकारी का दशास्थितिवादी सिथत गाँधी नीति, भागलपुर वि॰वि॰ पत्रिका
17. सौगित्र, अनिल: विकास की अवधारणा पर पुनर्विचार क समय, पृ॰-6

शोधर्थी

यू॰जी॰सी॰ आर॰ जी॰ एन॰ एफ॰ एस॰

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय

मानवाधिकार की अवधारणा एवं वैश्विक युग में उसकी वास्तविकता

डॉ. पूनम कुमारी

मनुष्य प्रकृति की एक अतुलनीय कृति मानी जाती है अत: इसके सर्वोष्कृष्ट विकास के लिये आवश्यक है कि उसे जन्म के साथ ही कुछ अधिकार प्राप्त हो जाए। मानव अधिकारों का जन्म भी पृथ्वी पर मनुष्य के विकास के साथ ही हुआ, क्योंकि इन अधिकारों के बिना वह न तो गरिमा के साथ अपना जीवन यापन कर सकता था और न ही अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास कर सकता था, लेकिन शाश्वत सच्चाई यह रही कि मानव के इन अधिकारों के जन्म के साथ ही इनके दमन का चक्र भी प्रारम्भ हो गया, क्योंकि प्रत्येक काल में समाज का एक शक्तिशाली वर्ग दूसरे शक्तिहीन वर्ग का दमन कर ही अपना वर्चस्व बनाए रख सकता था। पिछले पाँच हजार सालों से इस वर्चस्व का रूप बदलता रहा है और दूसरी तरफ यह आवश्यकता महसूस की जाती रही है कि मानव अधिकारों की सार्वभौमिकता को सही रूप में परिभाषित किया जाए और उसके सुरक्षा के वास्तविक और व्यावहारिक उपाय स्थापित किये जाएँ।

वर्तमान शताब्दी में मानवाधिकार का प्रश्न एक वैश्विक मुद्दे के रूप में उभरा है। यह सही है कि इसे आज एक सार्वभौमिकता की परिभाषा दी जा रही है किन्तु यही विशेषता आज मानवाधिकारों को विवादास्पद भी बना देती है क्योंकि जहॉ आधुनिक विश्व व्याख्याओं ने मानवाधिकारों को सार्वभौमिक मान लिया है, वहाँ व्यवहार में इनकी क्रियान्वित किसी समाज विशेष को आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मानवाधिकारों की वर्तमान धारणा पश्चिमी देशों के राजनीतिक और सामाजिक तथा आर्थिक मानदंडों पर आधारित है, विवाद की स्थिति तो तब उठती है जब इन पश्चिमी मानदंडों पर आधारित इन सार्वभौमिक सिद्धांतों को विश्व के अन्य समुदायों पर लागू किया जाता है जिनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, पृष्ठभूमि पश्चिमी मापदंडों से बिल्कुल अलग है। यह सही है कि मानवाधिकार के सम्बन्ध में अनुपालन के अधिकार की सीमा समस्त राज्यों की अपनी है किन्तु उदारीकरण और वैश्विकरण के इस युग में पश्चिमी मानदंडों से विश्व का कोई हिस्सा आज अलग नहीं रह सकता। आज विश्व का कोई ऐसा कोना नहीं है जहॉ मानवाधिकारों के संरक्षण, जागरूकता हेतू आंदोलन नहीं चलाए जा रहे हों और यही कारण है कि यह मुद्दा आज तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अर्न्तराष्ट्रीय समुदाय का प्रमुख लक्ष्य बन गया है। इस परिपेक्ष्य में मानवाधिकार के सैद्धांतिक अवधारणा तथा इसकी वास्तविकता का विश्लेषण सहज ही आवश्यक बन जाता है।

मानवाधिकार का अर्थ

मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो सभी व्यक्तियों को मानव होने के नाते प्राप्त है, अर्थात् मानव अधिकार (जीवन की) वे परिस्थितियॉ हैं जो मानव जाति के रूप मे सभी व्यक्तियों की बिना किसी भेद-भाव, ऊॅच-नीच, जाति-पॉति, जन्म, लिंग के प्राप्त होते हैं। मानव अधिकारों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये अधिकार सार्वभौमिक हैं और बिना किसी भेद-भाव के प्रत्येक देश के मानव प्राणी को प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं ये अधिकार व्यक्ति के रूप में उसके विकास हेतू अतिआवश्यक है, क्योंकि इनके अभाव में व्यक्तियों के व्यक्तित्व तथा समताओं का विकास नहीं हो सकता।। मानवाधिकार की एक विशेषता यह भी है कि ये अधिकार नैसर्गिक है और व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हैं। इसके लिये मौलिक अधिकारों की भॉति संवैधानिक व्यवस्था नहीं की गयी है और न ही राज्य कानून बना कर इन अधिकारों को छीन सकता है। मानवाधिकारों के अन्तर्गत जो सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक अधिकार आते हैं, वे समस्त एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और सारे अधिकार मानव के सर्वागीण विकास से जुड़े हैं।[1]

मानवाधिकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मानवाधिकार की अवधारणा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। इन अधिकारों का जो वर्तमान स्वरूप आज दिखने को मिल रहा है वह एक लम्बे विकास और दीर्घकालीन संघर्ष का परिणाम है। मानवाधिकारों की यह अवधारणा इतिहास की लम्बी अवधि में विकसित हुई। यह अवधारणा सत्ता के स्वेच्छाकारी इस्तेमाल को रोकने के उपकरण के रूप में विकसित हुई। आरम्भ में यह राज्यों के भीतर लागू होती थी, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे लागू करने की व्यवस्था नहीं थी। राज्यों के भीतर भी यह उच्च वर्गो के अधिकारों तक सीमित लगती थी। वर्ग और नस्ल का ख्याल किये बिना सभी मनुष्यों के अधिकारों के रूप में इस अवधारणा के विकसित होने में एक लम्बा वक्त लगा। 13 वीं सदी का प्रसिद्ध मैग्नाकार्टा राजा और सामंतशाही के बीच का एक समझौता था। हालॉकि इसमें कुछ ऐसी धाराएँ अवश्य थी जो आम लोगों के लिये भी लागू होती थीं पर इसका मुख्य मकसद ब्रिटेन के सामंतों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा करना था। मानवाधिकारों की इससे अधिक विस्तृत अवधारणा ब्रिटिश क्रांतिकारियों ने पेश की, जब 1689 में राजा को पद्च्यूत करने तथा उसे मौत के घाट उतारने के बाद 'बिल ऑफ राइट्स' में उन्होंने नागरिकों के न्यूनतम अधिकारों का वर्णन किया। लगभग एक सदी बाद 1776 में अमेरीकी क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश राजा की दासता से 'अहरणीय' मानवाधिकारों को शामिल किया। इनमें 'जीवन', स्वतंत्रता और खुशी की तलाश के अधिकार शामिल थे। इसके कुछ ही समय उपरांत फ्रांस के क्रांतिकारियों ने स्वतंत्रता संपत्ति, सुरक्षा और दमन के विरोध' का नारा दिया जिनमें मानवाधिकारों की पुष्टि है। इस अवधारणा में एक नया आयाम तब जुड़ा जब धीरे-धीरे और कुछ अंतरालों पर यह महसूस किया जाने लगा कि मानवाधिकारों की रक्षा सिर्फ उन राज्यों की चिंता का विषय नहीं है, जहॉ इनका उल्लंघन होता है, बल्कि पूरी दुनियॉ में मानवाधिकारों के संरक्षण और प्रोत्साहन को सुनिश्चित करना पूरी मानवता की चिंता का विषय है। मानवाधिकारों के लिए यह अंतर्राष्ट्रीय चिंता हाल का विषय है और संचार के विकास के साथ 'वैश्विक ग्राम' का परिणाम है।[2]

न्छ० में मानवाधिकारों की उद्घोषणा

व्यक्ति के मानवाधिकारों का मामला 26 सितम्बर 1926 तक पूर्णतः राष्ट्रीय विषय रहा, लेकिन उसके बाद यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय हो गया। उसके चार वर्ष बाद 28 जून 1930 को विश्वसम्मेलन (बलात्श्रम के बाद) राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में मानवाधिकारों की रक्षा एवं बढ़ावा देने में अंतर्राष्ट्रीय प्रयास कई गुणा बढ़ गये। प्रथम विश्व युद्ध समाप्ति पर L.O.N. की स्थापना हुई, तब मानवाधिकारों की अवधारणा अपने विषयवस्तु में समृद्ध हो रही थी। शुरू में मानवाधिकारों का अर्थ समझा जाता था व्यक्ति की स्वतंत्रता पर से प्रतिबंधों को हटाना। मानवाधिकारों के समर्थक अल्पमत राज्य चाहते थे - एक ऐसा राज्य, जो कानून व्यवस्था को बनाये रखना अपना मुख्य कर्त्तव्य माने और विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सम्पत्ति की स्वतंत्रता, संगठन निर्माण की स्वतंत्रता, धार्मिक आस्था की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने से बाज आए। मानवाधिकारों की रक्षा और विकसित करने की दिशा में राष्ट्रसंघ ने अत्यंत प्रभावी भूमिका निभायी। द्वितीय विश्व काल में इटली एवं जर्मनी में फासीवाद के उभार ने मानवाधिकार पर गंभीर प्रश्न उठा दिये और मानवाधिकारों के अनवरत् उल्ल्ंघन ने इस सम्बन्ध में अपने प्रयास को अत्यावश्यक बना दिया।[3]

अतः 10 दिसम्बर 1948 को UNO के मंच से मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की गयी। इस घोषणा में सभी देशों के प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम 30 अधिकारों को प्रदान करने की घोषणा की गयी। इन अधिकारों को मोटे तौर पर तीन वग्रों में विभाजित किया गया है। पहली श्रेणी में आर्थिक अधिकारों को रखा गया है, जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र, आवास, रोजगार तथा सामान्य जीवन स्तर सुनिश्चित कराना है। इन सभी अधिकारों को सभी नागरिकों को उपलब्ध कराना सम्बन्धित देशों की सरकारों का मूलभूत दायित्व होता है। दूसरी श्रेणी में राजनीतिक अधिकारों को शामिल किया गया है, जिनके अन्तर्गत कानून के समक्ष सभी लोगों को बराबर माना गया है। इसके अन्तर्गत लोगों को विचार व्यक्त करने का अधिकार, गोपनीयता, राष्ट्रीयता, चुनाव और शासन में भागीदारी का अधिकार तथा संगठन बनाकर शांतिपूर्ण सभा कराने की स्वत्रंता दी गई है। तीसरी और अंतिम श्रेणी में सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को रखा गया है जिनके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने की आजादी दी गयी है। इस प्रकार मानवाधिकार की परिधि में आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का समावेश कर यह सुनिश्चित किया गया है कि किसी भी जाति, धर्म,

लिंग या अन्य किसी सामाजिक पहचान के आधार पर व्यक्तियों में किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार न किया जाए और सभी व्यक्तियों को समुचित शिक्षा, रहन-सहन, जीवन-यापन, मान-मर्यादा और आत्म-सम्मान के साथ समाज में रहने को समान अवसर प्रदान किया जाए।[4]

मानवाधिकारों की वास्तविकता

मध्यकालीन मनुष्य जहॉ मानव कर्त्तव्यों की छाया में जीता था वहॉ आज का मनुष्य मानवाधिकारों की छाया में जीता है। आज किसी भी देश के सभ्य और सुंसस्कृत होने की कसौटी यह नहीं रही कि वह कितना अमीर या शक्तिशाली है बल्कि उसकी कसौटी यह है कि वहॉ मानवाधकारों का कितना सम्मान होता है। यह सही है कि शीतयुद्धीन काल में मानवाधिकारों के पश्चिमी मानदंडों का जो ग्रहण लगा था वह आज भी पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है किन्तु इसके बावजूद आज दिनों-दिन मानवाधिकारों की चेतना व्यापक होती जा रही है। इन सबके बावजूद मानवाधिकारों की वास्तविकता के प्रति लोगों में एक संशय की अवस्था है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर UNO द्वारा मानवाधिकारों की घोषणा तथा राष्ट्रीय स्तर पर अनेक कानूनों के रहते हुए भी मानवाधिकारों का लगातार हनन हो रहा है। सत्य तो यह है कि बर्बरता और आम लोगों पर कहर ढ़ाने में बीसवीं शताब्दी ने मध्ययुगीन बर्बरता को कभी का पीछे छोड़ दिया है। राज्य सर्वशक्तिमान संस्था का रूप धारण कर चुका है। इसी प्रकार आज बहुत से निजी समूह हिंसा पर उतारू हो गये हैं जिनके सामने व्यक्ति बौना होकर रह गया है। आज पूरा विश्व कबायली, साम्प्रदायिक, नस्लवादी और साम्राज्यवादी हिंसा की चपेट में है। धार्मिक कट्टरवाद अपनी चरम सीमा पर है। महिलाओं और दलितों पर भयानक हमले हो रहे हैं।

आज विश्व में मानवाधिकारों का संकट कितना गंभीर है इसका अनुमान विकसित देशों की स्थिति को देखकर हो जाता है। दुनिया में मानवाधिकार की सबसे अधिक पैरवी करने वाले राज्य अमेरीका में नस्लवाद और धार्मिक कट्टरता के कारण अल्पसंख्यकों, अवेस्त नागरिकों का जीवन दुभर हो गया है। एमनेस्टी इन्टरनेशनल के ताजे अध्ययन में एक बात उभर कर आयी है कि अमेरिका में किसी गोरे के हत्यारे को फॉसी की सजा निश्चित है जबकि किसी काले या भूरी नस्ल के व्यक्ति को प्राणदंड मिलना जरूरी नहीं है। अमेरीकी कांग्रेस ने भी अक्टूबर 1993 में एक रिपोर्ट में इसे माना है। अमेरीका के बड़े शहरों न्यूयार्क, मियामी, लॉस एंजिल्स ने काले और भूरे नस्ल के अल्पसंख्यकों पर पुलिस का अत्याचार बढ़ा है।[5]

इंगलैंड में स्थितियॉ अमेरीका से अलग नहीं है। एशियाई और अप्रीकी मूल के नागरिकों के खिलाफ वहॉ की पुलिस द्वारा किये गये अत्याचार की खबरें लगातार अखबारों में छपती रहती हैं। पुलिस वहॉ बसने की इच्छा लिये गैर-गोरे पर तरह-तरह का अत्याचार करती है। इंगलैड में गैर प्रोटेस्टैंट इसाईयों पर अत्याचार किये जाते हैं और इस मानवाधिकार के उल्लंघन पर सरकार चुप रहती है।[6]

फ्रांस और जर्मनी यूरोपीय उदारवाद के गढ़ माने जाते हैं। वहॉ भी मानवाधिकारों की हालत बहुत अच्छी नहीं है। दोनों ही देशों में एशियाई और अफ्रीकी मूल के नागरिकों के मानवाधिकारों का सरेआम उल्लंघन किया जा रहा है। बर्लिन की पुलिस गैर-गोरे लोगों पर दमन के लिये सारी दुनिया में चर्चा का विषय है। इन दोनो ही देशों में पुलिस द्वारा अफ्रीकी और ऐशियाई मूल की महिलाओं के साथ गलत व्यवहार सम्बन्धी घटनाओं में तेजी से वृद्धि हुई है। ऑस्ट्रेलिया में विदेशियों खासकर भारतीय मूल के निवासियों के साथ जिस तरह अत्याचार किये जा रहे हैं वह आज पूरे विश्व में चर्चा का विषय बना हुआ है।[7]

अफ्रीकी महाद्वीप भयानक कबायली हिंसा की चपेट में हैं। ब्रूंडी तथा खांडा दोनों देशों में सरकारी और नीजि शस्त्र समूहों की टोलियों द्वारा लगभग 8 लाख लोगों का कत्लेआम हो चुका है। दोनों देशों के सैनिकों ने विरोधी कबीले के लोगों के खात्मा अभियान के दौरान राजनैतिक विरोधियों की ही बड़े पैमाने पर हत्या की है, चाहे उनका सम्बन्ध उनके अपने कबीले से ही हो। अंगोला में गृहयुद्ध की आग में कितने निर्दोष मारे गये हैं।[8]

लैटीन अमेरीका में मानवाधिकारों का उल्लंघन एक आम बात है। ब्राजील, बोलिबिया, ग्वातेमाला, मैक्सिको इत्यादि जगहों में पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की हत्याऍ रोज ही होती रहती है। रूस और पुराने समाजवादी खेमे के देशों में या तो गृहयुद्ध की स्थिति है या पड़ोसी देश आपस में आक्रमण करने में जुटे हैं। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के देशों में जो हाल तक साम्यवादी देश थे उनमें कभी मानवाधिकार और राजनैतिक अधिकार दिये ही नहीं गये। जार्जिया में राजनैतिक विरोधियों को जेल में रखा जाता है। कजाकिस्तान में अनिवार्य सैनिक सेवा का विरोध करने पर लम्बी सजा दी जाती है। 'जिहवाज विटनेस' सम्प्रदाय के काफी लोग इस कारण जेल भोग रहे हैं। आरमिनिया में हरेकृष्ण सम्प्रदाय के कई अनुयायी जेल में बंद

हैं।[9] विश्व के मुसलमान देश भी हिंसा, अत्याचार तथा मानवाधिकार हनन का केन्द्र बन कर उभरे हैं। इस्लामी देशों में ईरान, सउदी अरब, पाकिस्तान, अफगानिस्तान में मानवाधिकारों का बुरी तरह से हनन हो रहा है। कुछ ऐसे भी देश हैं जहॉ कई मुस्लिम कठमुल्लावादियों ने सत्ता हथियाने के लिये पूरी देश को आग में झोंक दिया है। अफगानिस्तान में तो नारियों पर धर्म के नाम जितनी अत्याचार किये जा रहे हैं उसको सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मलेशिया, इंडोनेशिया, बंगलादेश, ईराक, टर्की ऐसे देश हैं जहॉ अल्पसंख्यक समुदाय को हर तरह के अधिकारों से वंचित रखा गया है। बंगलादेश में लज्जा की लेखिका तसलीमा नसरीन के तथा ब्रिटिश लेखक सलमान रूश्दी की हत्या का फतवा मानवाधिकारों के स्थिति का ज्वलंत उदाहरण है। मुस्लिम देशों में महिलाएँ धार्मिक पागलपन का शिकार भयंकर रूप में हो रही है। इसका उदाहरण तेहरान विश्वविद्यालय की बाल मनोवैज्ञानिक और प्रोफेसर डॉ. डमा वाराबी हैं जिन्होंने 1994 को ताजरिश चौक पर आत्मदाह की। मुस्लिम देशों में बुरका पहनना, शिक्षा प्राप्त न करना, पुरूष चिकित्सकों से न दिखाना इत्यादि ऐसी बातें हैं जो मानवाधिकारों की वास्तविक स्थिति को दर्शाती है।[10]

जहाँ तक भारत की बात है तो मानवाधिकारों का हनन यहॉ भी विभिन्न स्तरों पर होता रहता है। व्यक्ति की गरिमा की संवैधानिक गारंटी तथा लोगों को न्याय दिलाने के कई कानूनी प्रावधान होने के बावजूद उच्च वर्ग तथा राजनैतिक प्रभुत्व वर्ग निर्भर होकर मानवाधिकारों का हनन करते हैं। मानवाधिकार संगठनों तथा समाचार पत्र की रिर्पोटों ने यह साफ कर दिया है कि यही मानवाधिकारों की स्थिति अत्यन्त चिंताजनक है। वास्तविकता तो यह है कि 1993 में बने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के लाख प्रयास के बावजूद मानवाधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित मामले रोज घट रहे हैं। स्त्रियों, दलितों तथा जेल में मौत के किस्से तो यहॉ आम बात है। बढ़ती सांप्रदायिकता, विभिन्न समुदायों में कट्टरपंथी प्रवृतियों के मजबूत होने से मानवाधिकारों के हनन के हालात और भी बढ़ गये हैं। सच पूछे तो मानवाधिकार के प्रति प्रतिबद्धता जितनी कागजों पर दिखाई देती है, उतनी प्रतिबद्धता भारतीय परिवेश में कहीं भी नहीं दिखाई देती।[11]

विश्व में और भारत में यद्यपि कि मानवाधिकारों की स्थिति अभी बहुत मजबूत नहीं हो सकी है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संभावनाएँ खत्म हो गयी है बल्कि वर्तमान शताब्दी में मानवाधिकारों के प्रति चेतना तीव्र गति से व्यापक हुई है। आज यह चेतना सिर्फ संगठनात्मक नहीं रह गयी है बल्कि एक संवेदनशील व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी स्तर पर मानवाधिकारों के प्रति अत्यन्त जागरूक हो गया है।

श्रोत

(1) डा. जे. पी.. नेमा : मानवाधिकार
डा. के. के. शर्मा: सिद्धांत एवं व्यवहार
(2) सक्सेना, के. पी.: ह्यूमेन राइटस
(3) कॉटर जे. एल.: ह्मेन राइटस एण्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स
: यूनिवर्सिटी ऑफ नेवस्का, प्रेस, नवरास्का, 1983
(4) जॉहरी, जे. सी.: ह्यूमेन राइटस एण्ड न्यूवर्ल्ड ऑडर
(5) काजमी, फरीद: ह्यूमेन राइटस, मिथ एण्ड रियालिटी
(6) राजकिशोर मानवाधिकारों का संघर्ष
(7) आई. बिड
(8) आई. बिड
(9) आई. बिड
(10) काजमी फरीद: ह्यूमेन राइटस: मिथ एण्ड रियालिटी
(11) झा, आर. सी.: रिसरेक्टिंग ह्यूमेन राइटस इन इंडिया

वरीय व्याख्याता: पी. जी. डिपार्टमेंट ऑफ
पॉलिटिकल साइंस,
जे. डी. वीमेंस कॉलेज, पटना।

भारत में समाजवादी एवं साम्यवादी आन्दोलन: एक अध्ययन

विनोद कुमार

भारत में साम्यवादी आन्दोलन का जन्म नवम्बर 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद के युग में हुआ। इस आन्दोलन से सारे प्राच्य जगत में भयंकर विस्फोटक परिणाम हुए थे। दलित तथा शोषित वर्ग मास्को को एक नया स्वर्ग समझने लगे और लेनिन की एक नए पितामह और मसीहा के रूप में पूजा करने लगे। सुनयात-सेन, मानवेन्द्रनाथ राय, होची मिन्ह, माओत्से तुंग, चाऊ-एन-लाई, जे०एल० नेहरू आदि प्राच्य के महत्वशाली राजनीतिक नेताओं को रूस से प्रेरणा मिली और पूर्वी जगत के परम्परानिष्ठ तथा पाण्डित्यवादी देशों में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा प्रवेश करने लगी। मानवेन्द्रनाथ राय भारतीय साम्यवाद के संस्थापकों में से थे।

भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना दिसम्बर 1925 में कानपुर में हुई थी। इससे पूर्व 1921 और 1924 के दौरान भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रयासों के परणिामस्वरूप भारत में और अन्य देशों में साम्यवादी गुटों का उदय हुआ। ये भारतीय क्रान्तिकारी सोवियत संघ की अक्टूबर की समाजवादी क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण कर राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु नए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। ये सभी गुट दिसम्बर 1925 में आयोजित कानपुर सम्मेलन में एक दूसरे के सम्पर्क में आए और उन्होंने भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना की।

समाजवादी आन्दोलन का उदय और विकास: भारतीय समाजवादी दल के बदलते आयाम

भारत में साम्यवादी चिन्तन के बीज तो अति प्राचीन काल से ही पाए जाते हैं और ऋग्वेद तथा धर्म ग्रन्थों में, विशेषकर 'धम्मपद' में मानव एकता, भ्रातृत्व और आध्यात्मिक समानता के सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं, तथापि आधुनिक अर्थ में भारतीय समाजवादी चिन्तन बीसवीं शताब्दी की उपज है "आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के दर्शन के रूप में समाजवाद भारत में पश्चिम के प्रभाव से ही विकसित तथा लोकप्रिय हुआ है। पश्चिम के आधुनिक समाजवादी विचारों को भारतीय समाजवादी नेताओं ने भारतीय परिस्थितियों, वातावरण और चिन्तन के अनुरूप ढालने की कोशिश की" भारत में आधुनिक समाजवाद के उदय चिह्न को लें तो कहना होगा कि समाजवादी तत्वों का प्रथम दर्शन हमें अरविन्द के उन सात लेखों में मिलता है जिन्हें 1893 में उन्होंने इन्द्रप्रकाश नामक पत्र में 'पुराने के बदले नवीन दीप' (New Lamp for the Old) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित कराया था। इन लेखों में अरविन्द ने कांग्रेस की मध्यवर्गीय मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए सर्वहारा की दशा को सुधारने का आग्रह किया था।

लाला लाजपतराय सम्भवत: वे प्रथम भारतीय थे जिन्होंने समाजवाद और 'वोल्शेविकवाद' के विषय में कुछ लिखा था। उन्होंने अपनी पुस्तकों में कांग्रेस पर पूँजी आधिपत्य की कटु आलोचना की थी। 1920 में 'इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के अधिवेशन का सभापतित्व भी लाला लाजपत राय ने किया था। एम०एन० राय, जिन पर मार्क्सवाद का प्रभाव था, ने भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बुर्जुआ वर्ग द्वारा संचालन की आलोचना की थी। चितरंजन दास 1917 की रूसी क्रान्ति से प्रभावित हुए तथापि क्रान्ति के प्रति उनमें कोई सहानुभूतिपूर्ण आकर्षण नहीं था। दास यद्यपि समाजवादी नहीं थे। किन्तु उन्होंने भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलन के सम्बन्ध में बड़ी सहायता की थी। भारत में समाजवादी चिन्तन को प्रोत्साहन देने में पण्डित मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू ने 'सोवियत रशिया' नामक अपनी एक लघु पुस्तिका में रूस की तत्कालीन उपलब्धियों का प्रशंसात्मक वर्णन किया और विश्व इतिहास की झलक तथा आत्मकथा में कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक एवं आर्थिक पद्धति की भारी प्रशंसा

की थी। इन पुस्तकों में हमें आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की मार्क्सवादी व्याख्या पर जवाहरलाल नेहरू के विचारों का सुनहरा परिचय मिलता है।

भारत में समाजवादी चिन्तन का प्रारम्भ तो काफी पहले ही हो गया, लेकिन समाजवादी आन्दोलन का वास्तविक श्रीगणेश मई, 1934 में हुआ जब कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। यह भारत में समाजवाद के संगठनात्मक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। 1932-33 में नासिक के केन्द्रीय कारावास में और 1933-34 में उत्तर प्रदेश तथा मुम्बई प्रान्तों में समाजवादी गुट स्थापित हो चुके थे और इन्हीं गुटों ने वास्तव में कांग्रेस समाजवादी दल के बीच कार्य किया। समाजवादियों का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन 17 मई, 1924 को पटना में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में हुआ था।

कांग्रेस समाजवादी दल के प्रमुख प्रतिपादकों में जयप्रकाश नारायण, डॉ० लोहिया, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव आदि थे। ये समाजवादी नेता, जोकि समाजवादी आन्दोलन के प्राण समझे जाते थे, अत्यन्त ही योग्य, नवयुवक, उत्तर भारत के कांग्रेसी और मुख्यत: शहरी मध्यम वर्ग के व्यक्ति थे, जिनमें से कई ने अपनी राजनीतिक विचारधारा के कारण परिवार या विवाह तक का त्याग कर दिया था। सैद्धांतिक रूप से ये नेता तीन मिश्रित प्रवृत्तियों में विभाजित थे–

1. मार्क्सवादी,

2. अंग्रेजी मजदूर दल सरीखे सामाजिक लोकतन्त्रवादी,

3. लोकतन्त्रात्मक समाजवादी जिन पर कि गांधीजी के विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त तथा सविनय अवज्ञा के राष्ट्रवादी आन्दोलन का एवं वर्ग संघर्ष का प्रभाव था।

प्रथम प्रवृत्ति के प्रवर्तकों में जयप्रकाश नारायण एवं आचार्य नरेन्द्र देव प्रमुख थे, जबकि द्वितीय गुट में एम०आर० मसानी और अशोक मेहता तथा तृतीय में अच्युत पटवर्धन और डॉ० राममनोहर लोहिया थे। उनकी परस्पर कोई स्पष्ट परिभाषित विचारधारा नहीं थी, किन्तु एक शान्त समझौता मार्क्सवादी एवं अमार्क्सवादियों में था, जिसके परिणामस्वरूप दल की विचारधारा, कार्यक्रम एवं विनिश्चयों में मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करने की अनुमति थी तथा दल को मार्क्सवादी कहा जाता था एवं अन्य मूल पार्टियों में से मार्क्सवादी-लेनिनवादी कहलाने की अनुमति नहीं थी और न ही उसे दूसरे या तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से सम्बद्ध होने क अनुमति थी।

समाजवादियों ने देश के स्वाधीनता संघर्ष में कांग्रेस के साथ सहयोग किया। देश के राजनीतिक चिन्तन को उनकी मुख्य देन यह रही कि उन्होंने मार्क्सवाद के उद्देश्य तथा तकनीकों का राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष के साथ तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में समाजवादी लोग साम्यवादी लोगों से अधिक सफल हो सके। साम्यवादी 'तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में' स्टालिनवाद को भारतीय राष्ट्रीयता से गुरुतर मान रहे थे। समाजवादियों को भी यह मानने पर बाध्य किया कि राष्ट्रवाद और समाजवाद के मूल रूप में ऐसी कोई विभिन्नता नहीं है जो दूर न की जा सकती हो और यह वास्तव में बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

कांग्रेस समाजवादी दल ने पहले यह तय किया था कि संविधान सभा में काम किया जाए, लेकिन उसने 1946 में अपने इस निर्णय को उलट दिया। समाजवादियों का 1937-39 में तथा फिर 1946-47 में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों में काम करने से मना कर दिया गया। किन्तु जब फिर वे स्वयं की झूठी मान्यताओं के प्रतिफलित परिणामों से घबराए, जिनमें राजनीतिक घटनाक्रम उनके प्रतिकूल रहा तो कभी तो वे कोई निर्णय कर ही नहीं पाए और कभी स्वयं के पूर्व-निर्णयों विरोधाभास का निर्माण करते रहे।

1947 में कांग्रेस समाजवादी दल ने अपने कानपुर अधिवेशन में यह निर्णय किया कि दल के नाम से 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया जाए और 1948 में समजावादियों ने कांग्रेस को छोड़ देने का निर्णय ले लिया। इस प्रकार लगभग 14 वर्ष में कांग्रेस में रहने के उपरान्त समाजवादियों ने उसका परित्याग करके 'भारतीय समाजवादी दल' नामक एक पृथक् दल की स्थापना की। आगे चलकर 1952 में कृषक मजदूर दल और भारतीय समाजवादी दल संयुक्त हो गए। इस संयुक्त दल का नाम 'प्रजासमाजवादी' दल रखा गया। कृषक मजदूर दल का विश्वास था कि हमारी अर्थव्यवस्था के विकसित क्षेत्र में समाजीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है और समाजवादी दल का विश्वास था कि इस सामाजिक परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण और लोकतान्त्रिक तरीके अपनाए जाएं। इस आधार पर यह आशा व्यक्त की गई कि इस विलय से सम्मेलन की वह प्रक्रिया शुरू होगी जो शीघ्र ही एक दृढ़ और विशाल क्रांतिकारी तथा समाजवादी दल का निर्माण करने में सहायक होगी।

भारत में समाजवादी चिन्तन के विकास की रूपरेखा स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन का विकास यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ से दो तरीकों से भिन्न रहा–प्रथम, भारत में समाजवाद का विकास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना के रूप में ही नहीं हुआ, बल्कि यह क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में विकसित हुआ। 1900 से 1947 के काल में भारत की मूल समस्या देश की राजनीतिक स्वतंत्रता थी और कोई भी लोकप्रिय दल उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। दूसरी तरफ, भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर मजदूरों के उद्धार की भी कोई सिद्धान्त और योजना प्रस्तुत करें। पश्चिमी यूरोप से सामन्तवाद का 18वीं शताब्दी तक प्रायः उन्मूलन हो चुका था, किन्तु भारत में साम्यवाद 20वीं शताब्दी के मध्य तक फलता-फूलता रहा। अतः सामन्ती अभिजात्य वर्गीय विशेषाधिकारों पर प्रहार करने का कार्य पश्चिम में पूँजीवाद उदारवाद के प्रवर्तकों ने किया।

साम्यवादी आन्दोलन का विकास और राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ इसका सम्बन्ध

भारत में साम्यवादी आन्दोलन का वास्तविक कारण दिसम्बर 1925 में कानपुर में आयोजित पहले साम्यवादी सम्मेलन से माना जाना चाहिए। इस सम्मेलन में भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना की गई। इससे पूर्व 1921 तथा 1924 के दौरान भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रयासों के फलस्वरूप भारत तथा अन्य देशों में छोटे-मोटे साम्यवादी गुटों का उदय हुआ। ये भारतीय क्रान्तिकारी सोवियत संघ की अक्टूबर की समाजवादी क्रान्ति से प्रेरित होकर राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। उस समय भारत के स्वाधीनता अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के हाथों में था। ये नेता संवैधानिक उपायों में विश्वास रखते थे। उनके आधार पर उनकी गतिविधियों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन को जो मन्थरगति प्राप्त हुई थी, उससे क्रान्तिकारी युवकों में विक्षोभ और निराशा का आविर्भाव हुआ था। युवकों के इस वर्ग ने कांग्रेस के उदारवाद के विपरीत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए नई विचारधारा और नए साधनों तथा तौर-तरीकों की खोज आरम्भ की। इस अवसर पर उन्होंने सोवियत संघ की अक्टूबर क्रान्ति तथा मार्क्स एवं लेनिन के विचारों के बारे में सुना, उन्हें मार्क्स और लेनिन ने प्रभावित किया और उन्होंने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की परिस्थितियों में प्रेरित किया।

भारतीय साम्यवादी दल का प्रथम कार्यक्रम 1930 में तैयार किया गया और इसे 'कार्य प्रारूप मंच' की संज्ञा दी गई।

सन् 1926-27 के पश्चात् दल ने उग्र श्रमिक संघ आन्दोलन और किसान आन्दोलन संगठित करने का बीड़ा उठाया। साम्यवादी, राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर भी सक्रिय रूप से कार्यरत रहे और वे इसके भीतर रहते हुए इसके क्रान्तिकारी वर्गों को हमेशा अपना समर्थन प्रदान करते रहे। 1926-29 की अवधि में दल की प्रगति की दृष्टि से संगठनात्मक और राजनीतिक धरातल पर किया गया कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी अवधि में दल में मजदूर संवर्गों को प्रशिक्षित और भर्ती किया गया था और तरुण कार्यकर्ता संघों की स्थापना भी की गई थी।

सन् 1935 में दल के सदस्यों की संख्या मुश्किल से एक हजार थी। जब 1934 में दल के प्रथम सम्मेलन का आयोजन किया गया था, इसकी संख्या 16,000 हो गई थी। 1947 के अन्त तक, दूसरे सम्मेलन के समय तक दल के सदस्यों की संख्या 10,000 थी।

1937 में नए संविधान के अधीन सामान्य निर्वाचन हुए। सामान्य निर्वाचनों में भाग लेने की तैयारी के लिए और कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र स्वीकार करने के बाद में दिसम्बर 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का फैजपुर अधिवेशन बुलाया गया था। साम्यवादी दल ने एक संशोधन के जरिए संविधान सभा की स्थापना के लिए सार्वजनिक संघर्ष की तैयारी की माँग की और साथ ही यह प्रस्ताव पास किया कि यदि कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो इसे सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया गया।

जब 1939 में दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हुआ तो दल ने इसे साम्राज्यवादी युद्ध कह कर इसकी निन्दा और स्वाधीनता के लिए एक राष्ट्रीय संघर्ष करने का आह्वान किया। 1939 में अवैध रूप से जारी किए गए अपने पैम्पलेट 'सर्वहारा पथ' में दल ने इस राष्ट्रव्यापी संघर्ष के कार्यक्रम को प्रस्तुत किया। इसने देश भर में महँगाई भत्ता बढ़ाने के लिए युद्ध विरोधी हड़तालों और संघर्षों के लिए मजदूरों को ललकारा।

जब जून 1941 में हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया और फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध एक संगठन का निर्माण हुआ तो युद्ध की स्थिति ही बदल गई। इससे भारत और इसके राजनैतिक दलों के समक्ष एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। कांग्रेस के जिन नेताओं को दिसम्बर 1941 में जेल से रिहा किया गया, उन्होंने भी युद्ध की इस स्थिति में परिवर्तन को स्वीकार किया और यह विचार व्यक्त किया कि उनकी सहानुभूति फासिस्ट आक्रमण के शिकार लोगों के प्रति है, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि केवल स्वतंत्र भारत की इस युद्ध में अपनी सही भूमिका का निर्वहन कर सकता है। इसके विपरीत साम्यवादी दल का तर्क था कि फासिस्ट विरोधी युद्ध को हमारे समर्थन के बिना किसी शर्त के होना चाहिए।

कांग्रेस की स्थिति के कारण ही बाद में 8 अगस्त, 1942 को राष्ट्रव्यापी भारत छोड़ो आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, जबकि साम्यवादी दल ने इस संघर्ष के प्रति नकारात्मक रवैया अपना लिया था। 1945 के अन्त तक प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान सभा के लिए निर्वाचनों के बारे में घोषणा की गई। इसके साथ ही चुनाव अभियान आरम्भ हो गया। इन निर्वाचनों की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इनके दौरान अत्यधिक हिंसात्मक साम्यवाद विरोधी आन्दोलन चलाए गए। साम्यवादी दल को 'देशद्रोही' पार्टी कह कर बदनाम किया गया। इसकी चुनाव सभाओं पर आक्रमण किए गए और इसके कार्यकर्ताओं की पिटाई की गई। इन निवार्चनों के बाद के समय में अभूतपूर्व जनक्रान्ति का आरम्भ हुआ और इसका सूत्रपात फरवरी 1946 में मुम्बई स्थित रॉयल इण्डियन नेवी के सैनिकों द्वारा किए गए विद्रोह से हुआ। साम्यवादी दल ने इस क्रान्ति को ध्यान में रखा और अपने चुनाव घोषणा-पत्र के संघर्षों का समर्थन प्रदान करने और उन्हें संगठित करने की नीति निर्धारित की ताकि उन्हीं के आधार पर साम्राज्यवाद के विरुद्ध जमकर अन्तिम प्रहार किया जा सके और कांग्रेस नेताओं द्वारा इन संघर्षों को रोकने अथवा समाप्त करने के प्रयासों को भी विफल किया जा सके। अगस्त 1946 में दल की केन्द्रीय समिति ने इन्हीं घटनाओं के आधार पर एक संकल्प स्वीकार किया।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान कांग्रेस और साम्यवादी दल में समन्वय नहीं रहा और भारत की आजादी के बाद दोनों की रस्साकशी चलती रही। डॉ० कृष्णकान्त मिश्र ने इस स्थिति को सार रूप में स्पष्ट करते हुए लिखा है–"कम्युनिस्ट पार्टी 1942 तक ब्रिटिश सरकार के विरोध में व्यापक जन आन्दोलन छेड़ने की माँग करती रही, किन्तु जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण के बाद उसकी दृष्टि में साम्राज्यवादियों का गृहयुद्ध विश्व की जनता का फासिस्ट विरोधी संघर्ष बन गया। फलतः उसने ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयत्नों को समर्थन देना शुरू किया।"

साम्यवादी दल में भारत में 1952 में कराए गए पहले चुनाव-दंगल में भाग लिया और उसकी उपलब्धि कम महत्वपूर्ण नहीं रही। दल ने लोक सभा में 16 स्थान प्राप्त किये। लोक सभा चुनावों में दल को 34.84 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, जो कुल मतों का 3.3 प्रतिशत थे। राज्य विधान सभाओं में दल ने 121 स्थान प्राप्त किए। राज्य विधानसभाई चुनावों में दल को 45,52,637 मत प्राप्त हुए जो कुल मतों का 4.38 प्रतिशत था। दल ने जनता के अत्यन्त शोषित वर्गों का अच्छा समर्थन प्राप्त किया। 1957 में ई० एम०एम० नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में केरल में प्रथम कम्युनिस्ट मन्त्रिमण्डल बना। 1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने से इस दल की लोकप्रियता कम हो गई। कम्युनिस्ट पार्टियों का पश्चिम बंगाल, केरल, आन्ध्र और बिहार में अच्छा प्रभाव रहा।

संदर्भ-सूची

1. ओ०पी० गाबा: राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा
2. रजनी कोठारी: पॉलिटिक्स इन इंडिया
3. जे०सी० जौहरी: समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त
4. ज्ञान सिंह संधु: राजनीतिक सिद्धान्त
5. डॉ० पुखराज जैन: राजनीतिक सिद्धान्त
6. कुरुक्षेत्र।
7. दैनिक हिन्दुस्तान।

U.G.C. (NET), Jharkhand (JET)
वरीय शोधप्रज्ञ, राजनीति विज्ञान विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

चुनाव आचार संहिता और भारतीय राजनीति

डॉ. चन्दन कुमार

चुनावों में आचार संहिता के तहत मत प्राप्त करने के लिए जाति, धर्म, भाषा के आधार पर विभिन्न समुदायों के बीच भावनाओं को भड़काने, अन्य राजनीतिक दलों के सदस्यों की व्यक्तिगत आलोचना करने एवं शासकीय मशीनरी के प्रयोग की मनाही है। इसी प्रकार सदनों की कार्यवाहियों में विद्यायकों के लिए शिष्टाचार के नियमों का पालन, सूचनाओं की गोपनीयता, सरकारी कर्मचारियों अथवा मंत्रियों पर अनुचित प्रभाव न डालना, अपने रिश्तेदारों व अभिरुचि वाले व्यक्तियों को लाभ दिलाने की सिफारिश के पत्र आदि न लिखना जैसी बातों का उल्लेख आचार संहिता में किया गया है। (गोस्वामी, आचार्य भालचन्द्र, प्रखर हमारी विधान सभाएं, 2005, विवेक पब्लिसिंग हाउस जयपुर पृष्ठ 98)।[1]

आचार संहिता में निर्धारित प्रावधानों का पालन सुनिश्चित करवाना शासन का दायित्व है। इसके लिए लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 123 में रिश्वतखोरी, अनुचित दबाव, धर्म, नस्म, जाति एवं भाषा के आधार पर मतदान की अपील को भ्रष्ट आचरण माना गया है (गोस्वामी आचार्य भालचन्द्र, प्रखर भारत में चुनाव सुधार दशा और दिशा, 1999 पोईन्टर्स जयपुर पृष्ठ 97, 150, 151)।[2]

कानूनी एवं तमाम सैद्धांतिक प्रावधानों के बावजूद व्यावहारिक धरातल पर चुनावों एवं सदनों में आचार संहिताओं का पालन सुनिश्चित नहीं हो पा रहा है जिसकी वजह से राजनीतिक व्यवस्थाएं चरमराने लगी हैं।

भारतीय राजनीति में चुनाव से सदन तक के सफर रूपी आइने में आचार संहिता का अवलोकन करने पर उसका स्वरूप मानवीय के स्थान पर दानवी नजर आने लगा है। व्यावहारिक धरातल पर चुनाव एवं प्रतिनिधि सदनों की मान मर्यादा की रक्षा हेतु निर्धारित आचार संहिताओं के स्थान पर स्वार्थी राजनीतिक तत्वों द्वारा इनके समकक्ष भ्रष्टाचार संहिताओं की रचना कर ली गई है जिसमें अपराध-अत्याचार और दुराचार-भ्रष्टाचार मुख्य भूमिकाओं में नजर आ रहे हैं।

चुनावों के समय प्रतिनिधियों एवं उम्मीदवारों द्वारा हमें वोट के लिए रोटे-नोट, नशा-नेग, जात-पांत के लालच एवं भ्रमजाल के सहारे मतदाताओं को अपने पक्ष में बखूबी तरीकों से प्रभावित किया जाता है।

भारतीय राजनीति में चुनावी आचार संहिता का उल्लंघन करते हुए सदनों में पहुंचे जनप्रतिनिधियों द्वारा जोश में अपनी पाशविक अपराधी वृतियों का प्रदर्शन, असभ्य भाषा, व्यक्तिगत, दोषारोपण, धक्का-मुक्की एवं तोड़-फोड़ के रूप में सदनों की आचार संहिताओं की धज्जियां उड़ाई जा रही है।

नवंबर 2001 में पीठासीन अधिकारियों, पक्ष-विपक्ष के नेताओं, मुख्यमंत्रियों, सचेतकों की मीटिंग में प्रश्नोत्तरकाल बाधित नहीं होने, पीठासीन अधिकारियों के निर्देशों का पालन और सदनों में व्यवस्था बनाए रखते हुए सुचारू रूप से चलाने का फैसला हुआ था और संसद के दोनों सदनों ने इसे मंजूर भी किया था। इसके बावजूद भी संसद और विद्यानसभा के सदनों के सत्र हंगामों और शोरगुल से भरपूर नजर आते हैं।

प्रश्नकाल शुरू होते ही बाधित हो जाते हैं। अध्यक्ष के आसन के करीब जमा होकर शोर मचाना, धरना देना नई परंपरा बनती जा रही है। सदनों की इस प्रकार की अनुत्पादक गतिविधियों में सदनों का समय और धन बर्बाद होता है। बोफोर्स के मामले में कई दिनों तक संसद की कार्यवाही नहीं चल पाई तथा सुखराम काण्ड में तेरह दिन तक सदन का यही हाल रहा।

तथ्य की बात यह है कि पूर्व में सदन के सदस्यों द्वारा अपनी जानकारी, अध्ययन या खोज के आधार पर मसले उठाए जाते थे और फिर वे अखबारों की सुर्खियां बनते थे। लेकिन आजकल उसका उल्टा हो रहा है कि सदस्यों द्वारा अखबारों की सुर्खियों के आधार पर एवं पैसे लेकर मसले उठाए जाते हैं। इस प्रकार के सदस्यों के व्यवहार का सदनों की मर्यादा पर असर पड़ता है। आजकल आपराधिक मामलों में जांच के चलते भी जन प्रतिनिधिगण मंत्री बने रहते हैं। इस प्रकार राजनीति के पिछड़ेपन और अपराधीकरण की स्थिति में जनता का जनता के लिए और शासन का लोकतांत्रिक स्वरूप देश में एक ''यूटोपिया'' बनकर रह गया है।''

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संसद को प्रजातंत्र के मंदिर की संज्ञा दी थी। इसकी सार्थकता के लिए संसदीय प्रणाली के पक्ष और विपक्ष रूपी गाड़ी के दोनों पहियों का समान गति से घूमना अनिवार्य है। जहां एक की जिम्मेदारी सरकार चलाना और दूसरे की उस पर नजर एवं अंकुश रखने की होनी चाहिए।

इस समय देश दुर्भाग्यपूर्ण दौर से गुजर रहा है। देश की प्रगति और विकास के नाम वोट मांगने का साहस न कर पाने वाले राजनीतिक दल अब क्षेत्र, जाति, वर्ग, मंदिर-मस्जिद और संप्रदाय के नाम पर जनता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ की राजनीति करने लगे हैं। जिनकी वजह से ''हम पवन थे लेकिन आंधियों में बंट गए। हम पृष्ठ थे लेकिन हाशियों में बंट गये। जन्म से तो हम सिर्फ इंसान थे लेकिन आज हम स्वयं ही जातियों में बंट गये।''

राजनीति और अपराध के संबंध में 1978 में न्यायाधीश कृष्णा अय्यर ने एक प्रकरण में कहा था कि ''निष्पक्ष चुनाव का बाहुबलियों तथा भ्रष्ट तरीके अपनाने वालों ने अपहरण कर लिया है।'' उच्चतम न्यायलय ने कॉमन कॉज केस में 1996 में कहा था कि राजनीतिक पार्टियां चुनावों में 1000 करोड़ रुपए से ज्यादा खर्च करती है लेकिन आय के स्त्रोत नहीं बताती। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो (गृह मंत्रालय, भारत सरकार) द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार 2005 के दौरान भारत में आपराधिक हिंसा की घटनाओं का प्रतिशत उत्तर प्रदेश में 12.5, बिहार में 11.9, महाराष्ट्र में 9.2, मध्यप्रदेश में 6.0, राजस्थान में 5.0 और असम में 4.4 फीसदी रहा। (इण्डिया टुडे ज्ञान भंडार, नई दिल्ली मार्च, 2007 पृष्ठ 147)।[3] नवंबर 2003 में स्टांप पेपर घोटाले में यह बात सामने आई कि मुख्य आरोपी अब्दुल करीम तेलगी ने अपराधियों, क्षेत्रीय राजनीतिक दल और मुंबई के पूर्व पुलिस आयुक्त की मदद से अरबों रुपये के फर्जी स्टांप पेपर बेचे।

जनवरी 2004 में इंजीनियर सत्येन्द्र दुबे की हत्या करवा दी गई। इसी प्रकार नवंबर 2006 में झारखंड मुक्ति मोर्चा के अध्यक्ष शिबू सोरेन को अपहरण और हत्या के मामले में दोषी ठहराया गया। 1993 में तत्कालीन गृह सचिव एन॰ एन॰ बोहरा की अध्यक्षता में गठित समिति ने तो अपनी रिपोर्ट में धन, अपराध जगत और राजसत्ता के तिकोने को विस्तार से उजागर किया।

समिति ने अपने अध्ययन में पाया कि राजनीतिज्ञों, प्रशासनिक अधिकारियों और अपराधियों ने देश के विभिन्न हिस्सों में अपना गठजोड़ बना रखा है। पिछले कई सालों से राजनीतिक दलों और प्रशासन के संरक्षण से अपराधी तत्व स्थानीय निकायों,, राज्य विधानसभाओं और संसद के लिए चुने जा रहे हैं। राजनेताओं, अपराधियों और प्रशासकों का यह गठजोड़ एक उन्नत दुष्चक्र है। समाज के अपराधी तत्व और धन संपन्न मिलकर एक हो जाते हैं और अपने पसंद के व्यक्तियों को अपने क्षेत्र से चुनकर भेजने के लिए अपनी पूरी ताकत झोंक देते हैं। चुनाव जीतने के बाद ये तत्व इस राजनेता के माध्यम से अपने हित साधते हैं। यह राजनेता भी अपने हितों के अनुसार प्रशासनिक पदाधिकारियों को प्रोन्नति और अन्य सुविधाएं दिलाता है। (इंडिया टुडे ज्ञान भंडार, नई दिल्ली मार्च, 2007 पृष्ठ 149)।[4]

हाल के दशकों में शायद ही कोई ऐसी विधायिका केन्द्र या राज्यों में आई हो जिसकी प्रतिष्ठित सीटों पर अपराधी विराजमान न हों। एक अनुमान के अनुसार इस समय करीब 700 विधायक और 40 सांसद आपराधिक पृष्ठभूमि के हैं। (राजस्थान पत्रिका, जोधपुर 26 जुलाई, 2002)।[5]

पूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त जी॰ बी॰ जी॰ कृष्णमूर्ति के अनुसार 1996 के चुनावों में 1500 उम्मीदवार ऐसे थे जिनके खिलाफ हत्या, अपहरण, डकैती और बलात्कार के मामले दर्ज थे। ऐसे तत्व विधायिकाओं में सिर्फ आपराधिक पृष्ठभूमि ही

नहीं लाते बल्कि अपनी नई स्थिति और प्रभाव का उपयोग अपने कार्यकलाप बढ़ाने के लिए करते हैं। जिस दल में सत्ता के अधिक अवसर होते हैं उसमें अपराधियों की संख्या भी अधिक होती है क्योंकि अपराधी तत्वों की नजर सत्ता पर ही टिकी रहती है। इससे ऐसा लगता है कि राजनीति का अपराधीकरण राजनीतिक दलों का भी निहित स्वार्थ बन गया है। जिसकी वजह से पिछले तीन दशकों के राजनीतिक अपराधीकरण के खिलाफ उठी विभिन्न आवाजों को राजनीतिक दलों और सदनों में अनसुना कर दिया गया।

उदारीकरण के बाद से तो भ्रष्टाचार का खेल राजनीतिक संस्थाओं में बढ़ता ही जा रहा है जिसमें जनप्रतिनिधियों अथवा उनके निकटवर्ती लोगों ने विभिन्न घोटालों में 50 हजार करोड़ रुपये से अधिक की संपत्ति लूटी है। सरकारी आंकड़ों के तौर पर 1991 के बाद से सी॰ बी॰ आई॰ द्वारा दर्ज मामलों में 109 राजनेता शामिल थे। इनमें से 32 सांसद 19 विधायक और 53 केन्द्र और राज्यों के मंत्री और पूर्व मंत्री शामिल थे। (राजस्थान पत्रिका, जोधपुर 23 जुलाई, 2002)।[6]

हमारे संवैधानिक संस्थाओं में आपसी विश्वास और सहयोग की भावना कम होती जा रही है। निर्वाचन आयोग को संविधान द्वारा स्वायत्तता का दर्जा दिया हुआ है लेकिन इस संस्था की स्वायत्तता हमारे राजनीतिक दलों तथा विधायिका के सदस्यों को चुभती रहती है। सांसदों और विधायकों का कार्य तो जनहित में सरकार चलाने में मददगार बनना और सरकार को गलत काम करने से रोकना होता है लेकिन व्यवहार में पक्ष और विपक्ष दोनों प्रकार के प्रतिनिधि अपना हित साधने में लगे हुए हैं।

राजनीतिक व्यवस्था में पनप रहे अपराध और भ्रष्टाचार के कारण देशभक्ति की पर्याय राजनीति अब प्रभाव, धन और शक्ति का प्रतीक बनती जा रही है। इस भ्रष्टाचार रूपी बीमारी की वजह से राजनीतिक मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में दिखाई दे रही है, नौकरियां बिकने लगी है, ईमानदारी, योग्यता और कठोर परिश्रम करने वालों को दरकिनार किया जा रहा है, सत्ता पर धन बल और भुजबल का प्रभुत्व स्थापित होता जा रहा है।

भारत में राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव, काननू की पंगुता एवं लाचारी की वजह से राजनीति में आचार संहिताओं का पालन नहीं हो पा रहा है। भारतीय राजनीति में आचार संहिताओं का पालन सुनिश्चित करने के लिए कृष्णमूर्ति के शब्दों में ''राष्ट्र को यह सुनिश्चित करना होगा कि संसद अपराधियों की, अपराधियों द्वारा और अपराधियों के लिए नहीं रहे।'' बोहरा समिति के सुझावों के अनुरूप अपराध अन्वेषण प्रक्रिया को मजबूत करना होगा, जनता को जागरूक बनाना होगा और जाति आधारित राजनीति को हतोत्साहित करना होगा।

इसके साथ ही चुनावों में भ्रष्ट एवं अपराधी तत्वों के प्रवेश पर रोक लगानी होगी, कानूनों का सख्ती के साथ पालन करना होगा। जनता को जागरूक एवं सक्रिय राजनीतिक सहभागिता का परिचय देकर आचार संहिता रूपी आदर्श मूल्यों की रक्षा हेतु अपनी भूमिका का निर्वहन करना होगा।

समीक्षा अधिकारी उ॰ प्र॰ सचिवालय

लखनऊ

भारत में आतंकवाद की समस्या और समाधान

मालती शर्मा

भारत आज आतंकवादी खतरों के दौर से गुजर रहा है। साम्प्रदायिक आतंकवाद ने भारतीय लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया को विपरीत रूप से प्रभावित किया है। वास्तव में बहुमुखी सामाजिक संस्कृति, आर्थिक व राजनीतिक हितों को अभिव्यक्त करने वाले देश भारत के किसी भी समाज में वैद्य राजनीतिक सत्ता के सहारे ही नियमन का सन्तुलन बनाए रखने व विकास की दिशा दिखाने का प्रयास राजनीतिक प्रक्रिया के मूल में देखा जा सकता है। राजनीति की यह प्रक्रिया कुछ सर्वस्वीकृत नियम एवं मूल्यों की परिधि में विवेक सम्मत एवं मत-मतान्तर से सहमति निर्णय की ओर आगे बढ़ती है। जब इन स्वीकृत नियम व मूल्यों को अमान्य बना कर कोरी शक्ति के सहारे समाज के कुछ असामाजिक या दिशा भ्रमित तत्व अपने तुच्छ व संकीर्ण हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते है, तो न सिर्फ समाजोन्मुख राजनीतिक प्रक्रिया की विकास गति में ही बाधा पहुँचती है, बल्कि सिर्फ सम्पूर्ण सामाजिक सन्तुलन एवं सहमति का वातावरण भी विलुप्त होने लगता है। आतंकवाद को एक ऐसे भ्रमित तथा व्यापक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक हितों की तुलना में अपने संकीर्ण हितों को प्राथमिक मानने वाले अल्पसंख्यक तत्त्वों की निराशा से उत्पन्न होने वाला ऐसा बर्बर शक्तिशाली प्रयास माना जा सकता है, जिसके सहारे ये तत्व राजनीति की सहज प्रक्रिया पर स्वयं को थोपने के साथ-साथ वैद्य राज्य सत्ता को चुनौती देते हैं तथा शेष मानवीय या सभ्य समाज के प्रति जघन्य अपराध तथा हिंसा में भाग लेते हैं तथा उसे बढ़ावा देते है।

आतंकवादी तत्त्व समाज में आतंक, भय व असुरक्षा का वातावरण पैदा कर सामाजिक विषाद एवं टकराव की स्थितियां पैदा करना चाहते हैं। साथ ही सामाजिक बिखराव तथा साम्प्रदायिक तनावों का जन्म देते हुए इन तत्त्वों पर भी कुठाराघात करने की ताक में रहते हैं।

आतंकवाद की यह प्रवृत्ति, जो हिंसात्मक संस्कृति को जन्म देती है एवं उसे बढ़ावा देती है, उसे वास्तव में मानवीय संस्कृति व सभ्यता का विकास ही माना जा सकता है। हिंसा को पशु स्तर पर जीने वाले आदिमानव के जीवन का अवशेष चिन्ह् तो माना जा सकता है, परन्तु यह विकसित व सभ्य मानव जीवन का क्रिया आधार कदापि नहीं बन सकता है। सभ्य सांस्कृतिक जीवन हमेशा मानवीय संवेदना से युक्त होता है। इस अर्थ में पाशविकता पर टिके आतंकवाद को अल्प संस्कृति ही माना जा सकता है।

भारत के विभिन्न भागों में आतंकवादी गतिविधियां

हालांकि भारत के कुछ भागों में आतंकवादी गतिविधियों का आरंभ स्वतंत्रता के उपरान्त ही देखा जा सकता था, परन्तु इनका प्रभाव कुछ क्षेत्र विशेष तक ही सीमित था। उदाहरणार्थ भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों नागालैण्ड, मिजोरम व मणिपुर आदि में नागा विद्रोहियों के संगठन **'नागा नेशनल काउंसिल'** व मिजो पृथकतावादी तत्त्वों के **'मिजो नेशनल फण्ट'** जैसे उग्रवादी संगठनों की हिंसक गतिविधियों ने कई वर्षों तक इन राज्यों में पृथकतावादी आतंकवाद को जीवित बनाए रखा, लेकिन आठवें दशक के पश्चात् पंजाब, असम और जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद का जो उग्र व हिंसक स्वरूप उभरा है, उसके कारण भारत की एकता एवं अखण्डता पर एक गम्भीर खतरा उत्पन्न होता दिखाई दे रहा है। इस दृष्टिकोण से भारत के विभिन्न भागों में आतंकवादी गतिविधियों का अध्ययन करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। उसका वर्णन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

1. **पंजाब में सिख आतंकवाद**–आठवें दशक के बाद खालिस्तान के निर्माण की माँग को लेकर भिण्डार वाले के नेतृत्व में सिखों के विभिन्न संगठनों **'ऑल इण्डिया सिख स्टूडेण्ट्स फेडरेशन'**, **'दशमेश रेजीमेण्ट'** तथा **'बब्बर खालसा'** द्वारा सारे देश में हिंसा व आतंकवाद का ऐसा नंगा नाच शुरू किया गया कि देश के विघटन का खतरा

दिखाई देने लगा। सिख आतंकवादियों द्वारा निर्दोष लोगों की हत्या, अपहरण, लूटपाट व बम विस्फोट जैसे बर्बर एवं हिंसक कृत्य किए जाने लगे, जिससे पंजाब तथा देश के अन्य भागों में आतंक भय का वातावरण बनने लगा । सेना द्वारा **'ऑपरेशन ब्लू स्टार'** व स्वर्ण मन्दिर में पुलिस आदि के माधयम से आतंकवादियों पर नियंत्रण की चेष्टा की गई, परन्तु इसमें पूर्ण सफलता नही मिल पाई। 31 अक्टूबर, 1984 को तत्त्कालीन प्रधाानमंत्री इन्दिरा गांधी की हत्या इसी आतंकवाद की एक कड़ी थी। 24 जुलाई, 1985 को इस समस्या के समाधान हेतु राजीव गांधी व लोगोंवाल के बीच 'पंजाब समझौता' सम्पन्न हुआ, परन्तु यह भी असफल रहा। इस आतंकवाद को बढ़ावा देने में पाकिस्तान का हाथ रहा। बाद में पंजाब पुलिस प्रमुख के. पी. एस. गिल के नेतृत्व में इस आतंकवाद को कुचल दिया गया। लगभग 54 महीने के राष्ट्रपति शासन के बाद फरवरी 1992 में पंजाब विधाानसभा चुनावों के साथ ही राज्य में लोकतांत्रिक प्रक्रिया शुरू हुई, जिसके फलस्वरूप एक लम्बे अन्तराल के बाद वहां लोकप्रिय शासन स्थापित हुआ। पंजाब में लोकप्रिय शासन की स्थापना तथा सेना व पुलिस के समंवित प्रयासों के परिणामस्वरूप सिख आतंकवाद को नियंत्रित करने की दिशा में सफलता प्राप्त हुई।

2. **जम्मू-कश्मीर में पृथकतावादी आतंकवाद**–भारत के उत्तरी राज्य जम्मू-कश्मीर का आतंकवाद पाकिस्तान द्वारा पोषित आतंकवाद है। भारत विभाजन के समय भी (1947) में उसके द्वारा कबिलाइयों द्वारा रक्तपात कराया गया। उसके द्वारा कश्मीरियों को गुमराह कर पृथकतावादी ताकतों को बढ़ावा दिया गया तथा आतंकवाद को पोषित किया गया। हुर्रियत कॉफेन्स तथा शबीर शाह की पार्टी पृथकतावादी संगठन है। इन दोनों ने 2002 में हुए विधाानसभा चुनावों में हिस्सा नहीं किया था। ये दल पाकिस्तान की ओर झुकाव रखते हैं, हालांकि 2002 के विधाानसभा चुनाव में तमाम आतंकवादी धमकियों के बावजूद भारी मतदान ने पृथकतावादी ताकतों के मुंह पर करारा तमाचा जड़ा है। कश्मीर में सक्रिय मुख्य आतंकवादी संगठनों में में जे.के.एल.एफ., के.एल.ए. हिजबुल मुजाहिद्दीन, जमात-ए-तुबला, लश्कर-ए-तोयबा आदि प्रमुख हैं। इन संगठनों द्वारा भारी रक्तपात किया जाता है। 1990 के बाद कश्मीरी आतंकवाद में भारी वृद्धि हुई है। अब कश्मीरी आवाम पाकिस्तान की चाल को समझ चुकी है तथा गुमराह युवक लगभग मुख्य धाारा में वापस आ चुके है। अब आतंकवादी संगठनों को कश्मीरी जनता से जन-समर्थन एवं पनाह नहीं मिल रहा है। अब वह भाड़े के विदेशी आतंकवादियों को नियंत्रण रेखा पार कराकर आतंकवादी कृत्यों के लिए सीमा पार भेज रहा है। दिसम्बर 2001 में संसद पर हमले के बाद सेना को सीमा पर भेजने के बाद विदेशी दबाव के बाद घुसपैठ में कुछ कमी आई थी, पर वह फिर पूर्ववत जारी है।

   पाकिस्तान द्वारा अब मात्र कश्मीर ही नहीं भारत के अनेक हिस्सों में आतंकवादी कृत्यों को अंजाम दिलवाया जा रहा है। पूर्व पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल परवेज मुर्शरफ द्वारा बार-बार कश्मीरी आतंकवाद को स्वाधीनता संग्राम बताया जाता है तथा उसे नैतिक समर्थन देने की बात की जाती है। अब पाकिस्तान ही अफगानिस्तान के बाद आतंकवाद का केन्द्र बनता जा रहा है।

3. **असम में आतंकवाद**–असम में पिछले कई वर्षों से पड़ोसी देशों विशेषकर बांग्लादेश से विदेशी नागरिकों का अवैध प्रवेश होता रहा है तथा इन लोगों की संख्या अब लाखों हो चुकी है। विदेशी नागरिकों द्वारा बड़ी संख्या में असम में अवैध प्रवेश एवं निवास के कारण असम के स्थानीय (मूल) निवासियों का सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन कुप्रभावित हुआ। इसके विरोध में **अखिल असम छात्रसंघ** और **अखिल असम गण संग्राम परिषद्** जैसे संगठनों द्वारा 1979 से 1985 तक आन्दोलन चलाया गया, जिसके परिणामस्वरूप अगस्त 1985 में 'असम समझौता' हुआ तथा असम में **'असम गण परिषद्'** सरकार की स्थापना हुई, परन्तु कुछ हिंसक घटनाओं को छोड़कर असम छात्रों द्वारा संचालित आन्दोलन का स्वरूप सामान्यत: शान्तिपूर्ण व राजनीतिक ही रहा।

   असम गण परिषद् सरकार की किलताओं तथा केन्द्र सरकार की निष्क्रियता के कारण **1989 के** अन्त में भारतीय संघ से पृथक् असम राज्य की स्थापना की मांग को लेकर उल्फा (ULFA) नामक उग्रवादी संगठन द्वारा असम में उग्र व हिंसक आन्दोलन किया जाने लगा। **'उल्फा'** उग्रवादियों द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हिंसक आतंकवादी कार्यशैली को अपनाना शुरू किया गया, जिसके फलस्वरूप असम में व्यापक हिंसा व आतंक का जन्म हुआ। उल्फा आतंकवाद से प्रभावित क्षेत्र को **'अशान्त क्षेत्र'** घोषित करते हुए भारत सरकार द्वारा **'ऑपरेशन बजरंग'**

तथा **'ऑपरेशन राइनो'** जैसी सैनिक कार्यवाईयां की गई, जिनके परिणामस्वरूप उल्फा आतंकवादियों को नियंत्रित करने में कुछ हद तक सफलता प्राप्त हुई है।

असम के 'बोडो', जनजाति क्षेत्र में असम राज्य से अलग बोडोलैण्ड राज्य के निर्माण की मांग को लेकर इस जनजाति के कुछ उग्रवादी तत्त्वों द्वारा आन्दोलन संगठित कर अपनी हिंसक व आतंकवादी गतिविधियों से असम में अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न किया गया, परन्तु अब बोडो उग्रवादियों, असम सरकार तथा केन्द्र सरकार के त्रिपक्षीय समझौते के उपरांत बोडोलैण्ड को स्वायत्तशासी क्षेत्र के रूप में मान्यता देने तथा बोडोलैण्ड स्वायत्तशासी क्षेत्रीय परिषद् का गठन किए जाने के बाद बोडो आतंकवाद पर भी नियंत्रण पाने में कुछ सफलता मिली है।

4. **गोरखालैण्ड की समस्या से संबद्ध आतंकवाद**–1988-89 में सुभाष घीशिंग के नेतृत्त्व में **'गोरखालैण्ड राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा'** (GNLF) द्वारा पश्चिम बंगाल राज्य से अलग इस राज्य के उत्तर भाग (दार्जिलिंग पर्वतीय क्षेत्र) में गोरखालैण्ड राज्य के निर्माण की मांग को लेकर एक उग्र आन्दोलन आरंभ किया गया। बाद में इस आन्दोलन ने भी धीरे-धीरे अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हिंसक व आतंकवादी कार्यप्रणाली को अपना लिया, जिसके परिणामस्वरूप कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र तक इस क्षेत्र का सामान्य जनजीवन अस्त-व्यस्त होता गया तथा राज्य में राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा मिला, परन्तु गोरखालैण्ड को स्वायत्तशासी क्षेत्र के रूप में मान्यता देने तथा इस क्षेत्र के प्रशासन व विकास का दायित्व नवगठित **'गोरखालैण्ड स्वशासी क्षेत्रीय परिषद्'** को सौंप दिए जाने के बाद पश्चिम बंगाल राज्य के इस भाग में गोरखा आतंकवाद पर काफी हद तक नियंत्रण पा लिया गया लेकिन पिछले वर्ष से यह आंदोलन फिर से हिंसक रूप लेता जा रहा है।

5. **नक्सलवादी आतंकवाद**–छठे दशक के उत्तरार्द्ध व सातवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में पश्चिम बंगाल, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, उड़ीसा आदि राज्यों में क्रान्तिकारी वामपंथी विचारधारा से प्रेरित होकर नक्सलवादियों ने भूमिहीन कृषक मजदूरों को संगठित कर भूमि सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने तथा वर्तमान शोषण को समाप्त करने हेतु परिणामस्वरूप इन भागों में नक्सलवादी आतंकवाद का एक भीषण एवं हिंसक स्वरूप उभड़ा। सन् 1972-73 तक नक्सलवादी आतंक का प्रारम्भिक दौर शिथिल पड़ने लगा तथा इस आन्दोलन पर काबू पा लिया गया। इस आन्दोलन में बिखराव भी देखने को मिला। परन्तु बाद में ये भूमिगत नक्सलवादी तत्व आन्ध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र पंजाब, मध्य प्रदेश आदि राज्यों मे विभिन्न स्थानीय जन-संगठनों के माध्यम से ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्रों में सक्रिय होने लगे, इन नक्सलवादियों द्वारा **'इण्डियन पीपुल्स फण्ट'** (**IPF**) **'पीपुल्स वार ग्रुप'** (**PWG**) तथा **माओवादी कम्युनिस्ट सेन्टर** (एम.सी.सी.) जैसे नक्सलवादी एवं ग्रामीण भूमिहीन कृषक मजदूरों को संगठित कर भूमि सम्बन्धों में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से भू-स्वामियों व जमीदारों के विरुद्ध हिंसक संघर्ष का मार्ग अपनाया गया तथा कई बार उनके द्वारा राजनीतिक साधन अपनाकर भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति की गई या उसके लिए प्रयास किया गया। इन नक्सलवादी संगठनों की कार्यशैली मूल रूप से हिंसा व आतंक पर ही आधारित है। बिहार में सी.पी.आई (माओवादी) तथा आन्ध्र प्रदेश में पीपुल्स वार ग्रुप द्वारा नक्सलवाद का कहर बरपाया जाता रहा है। विभिन्न आतंकवादी गुटों के एकीकरण से (2004) से यह संगठन सी.पी.आई (माओवादी) के नाम से जाना जाता है। और इनकी ताकत काफी बढ़ गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे देश में आतंकवाद विभिन्न रूपों में व्याप्त है, जो लोकतन्त्र पर भी कुठराघात करता है। इसके मूलभूत कारणों को जानना आवश्यक मालूम पड़ता है। आतंकवाद को पनपाने में जिन कारणों का योगदान रहा है उन्हें आतंकवाद की समस्या का मूलभूत कारण कहा जाता है, उनका वर्णन निम्नलिखित रूप मे किया जा सकता है–

1. **केन्द्रीकृत सत्ता संरचना**–भारत जैसा देश जहां सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता वर्तमान हों, वहां राज्य की वैधता एवं राष्ट्र की एकता को तभी बनाए रखा जा सकता है, जब राष्ट्र के विभिन्न तत्त्वों को राज्य की सत्ता से सम्बद्ध होने तथा लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के अवसर प्राप्त हों, हालांकि भारतीय संविधान द्वारा भारत में लोकतंत्रात्मक संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है, परन्तु व्यावहारिक तौर पर व्यवस्था का लोकतंत्रात्मक व संघीय स्वरूप नहीं उभर पाया है।

   वैसी स्थिति में राजनीतिक अलगाव की स्थिति का जन्म होता है, जो राजनीतिक आक्रोश व पृथकतावादी आतंकवाद के रूप में सामने आता है। ऐसा असन्तोष हमें पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम तथा अन्य भागों में देखने को मिलता है।

2. **आतंकवादियों को विदेशी संरक्षण व सहयता**–आतंकवाद को सशक्त बनाने में आतंकवादियो को प्राप्त विदेशी सहायता एवं संरक्षण भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जम्मू कश्मीर का आतंकवाद पाकिस्तान द्वारा पोषित आतंकवाद है। वहां सीमा पार से आतंकवाद को नैतिक, सैनिक एवं आर्थिक, मदद प्रदान की जाती है। इसी प्रकार उत्तर-पूर्वी राज्यों में विद्रोहियों को चीन, वर्मा एवं बांग्लादेश से प्रोत्साहन मिलता रहा है। इन विदेशी प्रोत्साहनों के कारण आतंकवाद की समस्या और अधिक जटिल व गम्भीर रूप धारण करती जा रही है।
3. **असन्तुलित आर्थिक विकास**–असन्तुलित आर्थिक विकास की प्रक्रिया के चलते क्षेत्रीय असन्तुलन, आर्थिक असन्तोष एवं तनावों का बढ़ावा मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय स्वयत्तता अथवा पृथवा राज्यों के गठन की मांगों को लेकर संगठित उग्र व हिंसक आन्दोलनों के रूप में होती है। गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड आदि क्षेत्रों मे उग्रवादी आन्दोलन एव आतंकवाद की इसके उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। आर्थिक एवं सामाजिक न्याय मे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अन्तर के कारण देश में व्यापक स्तर पर आर्थिक उत्पीड़न, शोषण, सामाजिक भेदभाव व अन्याय दिखाई देता है, इन स्थितियों के कारण भी उग्रवाद व आतंकवाद को बढ़ावा मिलता है।
4. **शासन की उदासीनता व प्रशासनिक अकुशलता**–विभिन्न क्षेत्रीय आन्दोलनों का उग्र व हिंसक स्वरूप प्रदान करने में सरकार की उदासीनता भी एक प्रमुख कारण रही है। शान्तिपूर्ण व राजनीतिक आन्दोलनों पर प्रायः सरकार विशेष ध्यान नही देती है, जिसके कारण धीरे-धीरे ये आन्दोलन उग्रवादी तत्त्वों के नियंत्रण में आने लगते हैं तथा यह उग्र एवं हिंसक रूप धारण कर लेता है तथा स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाती है। पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम में क्षेत्रीय आन्दोलनों के उग्र व हिंसक रूप लेते के पीछे ये कारण रहे हैं। प्रशासनिक अक्षमता तथा विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों के बीच समंवय नही होने की स्थिति में भी आतंकवाद की समस्या नियंत्रण से बाहर हो जाती है।
5. **राजनीतिक दलों की गुटबंदी व दलीय राजनीतिक**–कई बार राजनीतिक दलों द्वारा भी अपने दलीय स्वार्थों की पूर्ति हेतु उग्रवादी व आतंकवादी तत्त्वों को प्रोत्साहित किया जाता है। पंजाब में भिण्डरावाले के नेतृत्व मे आतंकवाद को पनपाने में या सुभाष घीशिंग के नेतृत्व में गोरखा उग्रवादियों को प्रोत्सहित करने में काफी हद तक कांग्रेस की दलीय राजनीति को उत्तरदायी माना जा सकता है।

भारत में आतंकवाद पर नियंत्रण पाने हेतु किए गए उपाय

देश में आतंकवाद पर नियंत्रण पाने हेतु विभिन्न वैधाानिक, राजनीतिक व प्रशासनिक उपाय किए गए हैं, हालांकि इसमें आंशिक सफलता ही मिल पाई है।

असम समझौता (1985), पंजाब समझौता (1985), गोरखालैण्ड स्वयत्तशासी क्षेत्रीय विकास परिषद् का गठन, बोडोलैण्ड, स्वयत्तशासी क्षेत्रीय विकास परिषद् का गठन (1993), जम्मू-कश्मीर में राजनीतिक प्रक्रिया का प्रारंभ किया जाना तथा 2002 से सम्पन्न निष्पक्ष चुनाव जिसमें जनता द्वारा भारी मतदान हुआ एवं इसको अमरीका सहित कई देशों में देखा तथा केन्द्र एवं नवगठित सरकार द्वारा जनता के प्रतिनिधियों तथा अन्य संगठनों से बिना शर्त बातचीत का प्रस्ताव आदि उदाहरण आतंकवाद पर नियंत्रण पाने हेतु किए गए राजनीतिक प्रयास माने जा सकते हैं। इसी प्रकार आतंकवाद प्रभावित क्षेत्रों में प्रशासनिक कुशलता के दृष्टिकोण से इन क्षेत्रों के प्रशासन को पुनर्गठित करने तथा सैन्य एवं नागरिक प्रशासन के बीच विभिन्न स्तरों पर समन्वय स्थापित करने के भी प्रयास हुए हैं।

आतंकवाद पर नियंत्रण पाने के लिए 1985 में 'आतंकवाद एवं विघटनकारी गतिविधि (निरोधक) अधिनियम' का निर्माण किया गया तथा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 (क) को संशोधित कर सरकार के विरुद्ध किसी भी कार्यवाही को राजद्रोह के रूप में माना गया। इसके अलावा आतंकवाद से प्रभावित अशान्त क्षेत्रों मे निवारक नजरबन्दी कानूनों के दायरे में बढ़ोतरी की गई। 2001 में केन्द्र सरकार द्वारा आतंकवाद पर नियंत्रण पाने के उद्देश्य से आतंकवाद निरोधक अधिनियम (पोटा) लाया गया है। पोटा (POTA) के अन्तर्गत ही संसद पर हमला के दोषी अपराधियों में से तीन को सजा-ए-मौत तथा एक महिला को सात वर्षों की कैद की सजा सुनाई गई । इसके कड़े प्रवाधानों के कारण कांग्रेस समेत सम्पूर्ण विपक्ष (अपवाद स्वरूप राष्ट्रवादी कांग्रेस) ने संसद में उसका विरोध किया, जिसके कारण संसद के संयुक्त अधिवेशन द्वारा उसे पारित करना पड़ा।

सरकार द्वारा आतंकवादियों से मुकाबले की दृष्टि से विशेष रूप में प्रशिक्षित कमाण्डो फोर्स के गठन की दिशा में प्रयास जा रहे है। राष्ट्रीय सुरक्षा गार्ड्स तथा त्वरित कार्यवाही बल आदि का गठन एवं विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्पेशल टास्क फोर्स का गठन इसी दिशा में किए गए प्रयास है।

भारत में आतंकवाद की समस्या के समाधान हेतु सुझाव

भारत में आतंकवाद विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुआ है। यह एक बहुमुखी व जटिल समस्या है। अत: इस समस्या का समाधान भी विभिन्न स्तरों पर एवं दिशाओं में संगठित राष्ट्रीय प्रयासों द्वारा ही सम्भव है। आतंकवाद की समस्या के समाधान हेतु कुछ प्रमुख सुझाव निम्नांकित हैं:–

1. राजनीतिक वैधता व सहमति हेतु प्रयास–चूंकि आतंकवाद की मानसिकता में पृथकता के बीज होते हैं और इसका विकास अतिवादी विचारधारा के द्वारा होता है अत: आतंकवाद के समूल नाश हेतु राजनीतिक व्यवस्था को सर्वहित एवं कल्याण तथा विकास करने वाले सर्वमान्य मूल्यों पर आधारित होना पड़ेगा और नेतृत्व का व्यवहार भी इन मूल्यों को निरन्तर प्रतिबिम्बत करता परिलक्षित होता रहना चाहिए तभी सामान्य जनता वैद्य हितों की पूर्ति हेतु ऐसी व्यवस्था को अनिवार्य मानते हुए तथा इसमें आस्था रखते हुए सक्रिय सहभगिता निभाने हेतु प्रेरित होगी। सहमति का ऐसा वातावरण एवं इस दिशा में नेतृत्त्व द्वारा की गई पहल, अतिवादी दृष्टिकोण एवं उससे उत्पन्न आतंकवाद की मानसिकता को समाप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

2. सन्तुलित आर्थिक विकास तथा भूमि सुधाारों का क्रियान्वयन–सन्तुलित आर्थिक विकास हेतु प्रयास किए जाने चाहिए ताकि क्षेत्रीय असन्तुलन एवं विकास की अन्य समस्याओं का समाधान किया जा सके। आर्थिक असन्तोष दूर करने के एवं आर्थिक, सामाजिक न्याय के लक्ष्य को पाने के लिए व्यापक स्तर पर भूमि सुधाार को क्रियान्वित किया जाना भी अति आवश्यक है, क्योंकि नक्सलवादी आतंकवाद का आर्थिक शोषण व अन्याय ही प्रमुख कारण है।

3. स्वस्थ जनमत निर्माण में संचार साधनों की रचनात्मक भूमिका–आतंकवाद सामान्य तौर पर गैर-विवेकीय व भावनात्मक पक्षों से उत्प्रेरित होता है। अत: आतंकवाद के प्रभाव की बढ़ोत्तरी में भी अफवाहों व गलत प्रचार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार का यह दायित्त्व बनता है कि वह समाचर-पत्र रेडियो, टेलीविजन व अन्य संचार साधनों, जिनका जनमत निर्माण में योगदान है, आदि को स्वतंत्रता प्रदान करें एवं उनके महत्त्व को मद्देनजर रखते हुए उन्हें आतंकवादी गतिविधियों व प्रभावों को सामान्य जनता के सामने सही परिप्रेक्ष्य में रखने का समुचित अवसर प्रदान करें।

4. सत्ता विकेन्द्रीकरण व क्षेत्रीय स्वयत्तता हेतु प्रयास–राज्य के प्रति विद्रोह एव राजनीतिक असन्तोष का एक मुख्य कारण सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीयकरण को भी माना जा सकता है। लोकतांत्रिक आधारों पर सत्ता का और विकेन्द्रीकरण करते हुए स्वायत्तता अथवा अलग राज्यों के गठन के की मांगों को लेकर चलाए जा रहे उग्र हिसक आन्दोलनों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। अन्य क्षेत्रीय आन्दोलनों के सम्बन्ध में भी विचार किया जाना चाहिए ताकि ये आन्दोलन भी भविष्य में उग्र व हिंसक रूप न ले सकें।

5. संवैधानिक प्रवाधानों व निवारक कानूनों के दुरुपयोग को रोकने हेतु प्रयास–प्राय: ऐसा देखा जाता है कि सरकार द्वारा राजनीतिक विरोध व असन्तोष को लोकतांत्रिक तरीके तथा शान्तिपूर्ण बातचीत से दूर रखने से आतंकवाद एवं हिंसा और उग्र रूप धारण करता है तथा देश के लिए एक गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। पंजाब में आतंकवाद का एक कारण संविधान के अनुच्छेद 356 का बार-बार प्रयोग कर निर्वाचित सरकार (अकाली दल) की बार-बार बर्खास्तगी भी थी। अनुच्छेद 356 सहित अन्य कानूनों का दुरुपयोग रोका जाना चाहिए। अनेक अवसरों पर निअपराध नागरिकों को आतंकवादी बतलाते हुए दण्डित या परेशान किया जाता है। संवैधानिक प्रवाधानों तथा निवारक कानूनों के दुरुपयोग के कारण जहां एक ओर सामान्य जनता में राज्य के प्रति अलगाव एवं रोष बढ़ता है वही हिंसा एवं आतंक में भी बढ़ोतरी होती है।

प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि हेत प्रशासनिक पुनर्गठन प्रशासनिक व कानून व्वस्था तथा गुप्तचर व्यवस्था का आवश्यकतानुसार पुनर्गठन कर आतंकवादी गतिविधियों के केन्द्र स्थल को समूल नष्ट करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

एम.ए. पी.एच.डी
व्याख्याता राजनीति विज्ञान विभाग
एस.एस. कॉलेज, चास, बोकारो

आतंकवाद: मानवता के लिए अभिशाप

विपुल कुमार

21वीं शताब्दी में विश्व की सबसे भयंकर समस्या आतंकवाद की है जो न केवल भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के समक्ष, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के देशों के समक्ष एक गंभीर चुनौती के रूप में खड़ी है। चूंकि आतंकवाद संपूर्ण मानवता के लिए अभिशाप साबित हो रहा है, इसलिए भारतीय सन्दर्भ में देखने से पूर्व आतंकवाद के व्यापक अर्थ एवं बदलते स्वरूप पर संक्षिप्त चर्चा करना लाभप्रद होगा।

आतंकवाद का अर्थ

आतंकवाद एक ऐसी खतरनाक मानसिकता है जिसके प्रभाव में एक व्यक्ति अथवा समूह अपने स्वार्थ, धार्मिक अंधविश्वास अथवा काल्पनिक हितों एवं मांगों को राज्य या समाज से मनवाने के लिए हिंसा, दबाव व आतंक का सहारा लेता है, जिसके परिणामस्वरूप राज्य व समाज में असुरक्षा, अशान्ति, विनाश एवं अस्थिरता का वातावरण बनता है, आतंकवाद युद्ध से इस अर्थ में अलग होता है कि युद्ध का कोई विशेष या सकारात्मक उद्देश्य हो सकता है लेकिन आतंकवाद का उद्देश्य कभी सकारात्मक नहीं हो सकता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि युद्ध से भी ज्यादा खतरनाक आतंकवाद है। आतंकवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ब्रुसेल्स में दण्ड विधान को समोकित करने के लिए 1931 में आयोजित तीसरे सम्मेलन में किया गया था जिसके अनुसार आतंकवाद का अभिप्राय ''जीवन, भौतिक अखण्डता अथवा मानव स्वास्थ्य को खतरे में डालने वाला या बड़े पैमाने पर सम्पत्ति को हानि पहुंचाने वाला कार्य करके जानबूझकर भय का वातावरण उत्पन्न करना है,''

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद

जब किसी राष्ट्र में कोई स्वतंत्रता चाहने वाली जातीयता अथवा विदेशी सरकार को हटाकर स्वदेशी सरकार स्थापित करने वाले संगठन आतंकवाद का सहारा लेकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह राष्ट्रीय आतंकवाद कहलाता है, लेकिन जब कोई भी ऐसा संगठन जो अपने लक्ष्य की पूर्ति में विश्व जनमत की सहमति आवश्यक समझता है और उसे प्रभावित करने के लिए आतंकवाद का प्रयोग करना है अथवा किसी दूसरे देश में सरकार का तख्ता पलटने का आतंकवाद के द्वारा प्रयास करता है या फिर किसी संगठन को किसी राष्ट्र विशेष या राष्ट्रों की सरकारों के विरुद्ध आतंकवादी कार्यवाही करने के लिए अन्य देश की सरकारों का समर्थन मिला होता है, तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद कहते हैं। इसके साथ की किसी संगठन अथवा व्यक्ति द्वारा व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक देशों में किसी एक उद्देश्य को ध्यान में रखकर जब आतंकवादी कार्यवाहियों को अंजाम दिया जाता है, तो उसे भी अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद कहा जाता है.

वैश्विक आतंकवाद

जबसे वैश्वीकरण या ग्लोबलाइजेशन शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्रियों ने किया जबसे आतंकवाद के साथ भी यह शब्द जुड़ गया है. आतंकवादी संगठन जब परस्पर संबंध स्थापित कर एक-दूसरे को अपने समान मानकर परस्पर सहायता करते हैं और उनके लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हो जाते है तब यह कहा जाता है कि आतंकवाद का वैश्वीकरण हो गया है. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रमुख विशेषज्ञ ब्रियां कोजर की मान्यता है कि बीसवीं शताब्दी का आतंकवाद अपने स्वरूप में वैश्विक है। विश्व के आतंकवादियों में आपसी मेलजोल है, क्योकि इनके मूलभूत विश्वास एवं कार्य पद्धति प्रायः एक ही प्रकार के हैं। ये एक-दूसरे को प्रशिक्षण और हथियारों की पूर्ति में सहायता करते है।

आतंकवाद: व्यापार के रूप में

आतंकवाद के वैश्वीकरण के साथ ही आतंकवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रूप में भी उभरकर सामने आ रहा है. कुछ

प्रमुख व्यक्तियों या संगठनों द्वारा आतंकवाद के साथ ही हथियारों और मादक पदार्थो का अवैध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलाया जा रहा है जो विश्व में एक नेटवर्क की तरह जुड़ा हुआ है। इसके साथ ही आतंकवाद के प्रशिक्षण एव शोध विश्वविद्यालय खुले हुए हैं जहाँ आतंकवादी प्रशिक्षित किए जाते है। विश्व में जिस जातीयता या संगठन को आतंकवादियों की आवश्यकता होती है, वह यहां से किराए पर लेकर आतंकी गतिविधियों को अंजाम देता है. कुछ संगठनों द्वारा इन प्रशिक्षित आंतकवादियों को अपने यहां प्रशिक्षक के रूप में वेतन पर भी भर्ती कर लिया जाता है जो अनेक प्रशिक्षित आतंकवादियों को तैयार करता है.

आतंकवाद के आयाम

आतंकवादी किसके द्वारा किसके विरुद्ध एवं किसलिए फैलाया जा रहा है यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस आधाार पर आतंकवाद के विभिन्न आयामों को समझा जा सकता है। राज्य की सरकार द्वारा अथवा किसी राज्य द्वारा किसी आन्दोलन या संगठन को पूर्ण रूप से दमन करने के लिए आतंकी कार्यवाईयां की जा सकती हैं। क्रान्तिकारी संगठनों द्वारा क्रान्ति की सफलता के लिए आतंकवादी गतिविधियां की जा सकती हैं, राजनीतिक आधार पर या वैचारिक मतभेदों के आधाार पर समाज या सरकार को बदलने के लिए भी आतंकवादी कार्यवाईयां की जाती हैं और उसका उसी रूप में प्रचार भी किया जाता है। कभी-कभी युद्ध सा माहौल उत्पन्न करने के लिए युद्ध का भय दिखाकर हिंसक गतिधियों को अंजाम दिया जाता है। पॉल विलकिशन आतंकवाद के चार आयामों की चर्चा की है:–

1. पूर्ण दमनकारी आतंकवाद
2. वैचारिक आतंकवाद
3. क्रान्तिकारी आतंकवाद
4. युद्धोन्मादी आतंकवाद

पिछले दशक से अवैध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी तीव्र गति से बढ़ा है। इस अवैध व्यापार में नशीले पदार्थ जैसे अफीम, हेरोइन, ब्राउन शुगर आदि और आधुनिक स्वचालित हथियार प्रमुख हैं। इस अवैध व्यापार की सुचारु रूप से चलाने के लिए भी व्यापार के प्रमुख केन्द्रों पर आतंकवादी कार्रवाइयां समय-समय पर की जाती हैं। इस प्रकार के आतंकवाद को व्यापारिक आतंकवाद कहा जा सकता है।

धर्म और आतंकवाद

धार्मिक जेहाद शब्दों का प्रयोग भी आतंकवाद के लिए किया जा रहा है. धार्मिक जेहाद का अर्थ धार्मिक युद्ध है और यह युद्ध उनके विरुद्ध है जो किसी विशेष धर्म का विरोध करते है. यह धर्म स्पष्ट रूप से इस्लाम के विरोधियों के विरुद्ध युद्ध के नाम पर मुस्लिम आतंकवादी संगठन अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य कर रहे हैं। वस्तुत: इनके संगठन का आधार इस्लाम नही हैं। यह उन लोगों के संगठन है जो धर्म से तो मुस्लिम हैं, लेकिन उनके लक्ष्य राजनीतिक हैं जैसे फिलिस्तीन, कश्मीर,चेचन्या आदि में सक्रिय आतंकवादी संगठन। ये संगठन परस्पर इस्लाम के नाम पर जुड़ना चाहते है, इस्लाम के नाम पर विश्व के मुस्लिम राष्ट्रों से धन एवं सहानुभूति और विश्व के सभी मुसलमानों से भावनात्मक सहानुभूति चाहते हैं। स्वभाविक रूप से ये आतंकवादी धर्म को अपने लाभ एवं हितों के लिए प्रयोग कर रहे है।

ऐसे संगठन धार्मिक जुनून उत्पन्न कर बेरोजगार उत्साही मुस्लिम युवकों को आकर्षित करते हैं और इस्लामिक जुनून में ये नवयुवक धर्म के नाम पर सच्चे और अच्छे आतंकवादी सिद्ध होते है जो जेहाद के लिए स्वयं की कुर्बानी देना अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं।

आतंकवाद के कारण

1. उपनिवेशवादी शोषण–आधुनिक आतंकवाद का कारण प्राय: औपनिवेशिक देशों में शासकों द्वारा वर्षों तक अपनाई गई दमनकारी गतिविधियां होती हैं। जिन्हें आतंकवादी गतिविधियाँ भी कहा जा सकता है और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप वहाँ जन्मे स्वतंत्रता आन्दोलनों को माना जाता है। प्राय: सभी देशों के स्वतंत्रता संग्राम में विदेशी शासकों को भगाने के लिए आतंकवादी गतिविधियों को अपनाया गया, लेकिन इस आतंकवाद में आम जनता को लक्ष्य न बनाकर उससे सहयोग और सहानुभूति पाने का प्रयास किया गया।

2. राष्ट्रीयता की पहचान–उपनिवेशों की समाप्ति की प्रक्रिया में अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र स्वतंत्रता प्राप्त करते चले गए। इन राष्ट्रों में कुछ विशेष जातीयता एवं धार्मिक समूह अपनी पहचान के लिए पृथक राष्ट्रों की मांग करने लगे जिसके लिए इन समूहों ने संगठित एवं सुनियोजित आन्दोलन प्रारंभ किए, जिसमें आतंकवादी गतिविधियों का प्रयोग किया गया। यह राष्ट्रीयताओं के लिए लड़ा जाने वाला आतंकवादी युद्ध आज भी श्रीलंका, चेचन्या (रूस), भारत आदि देशों में जारी है, आतंकवाद को झेलने वाले देशों की सरकारों द्वारा इनकी कार्यवाहियों एवं संगठनों को अवैध घोषित कर दिए जाने से और अधिक उग्र रूप धारण करता चला जाता है।

इन संघर्षरत राष्ट्रीयताओं का सम्बन्ध धार्मिक, सामाजिक या वैचारिक आधार पर अन्य राष्ट्रीयताओं से होता है जिससे इन्हें हथियारों, धन आदि की सहायता प्राप्त होने लगती है। इस तरह की सहायता सुनियोजित, संगठित एवं प्रयोजित आतंकवाद को जन्म देती है।

3. राष्ट्रों के राजनीतिक, सामरिक एव आर्थिक हित–आतंकवाद को बढ़ावा देने में कुछ राष्ट्र एवं देश अपने राजनीतिक, सामरिक एवं आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए रूचि लेते हैं तथा सुनियोजित तरीके से संघर्षरत गुटों को आतंकवादी गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए प्रेरित एवं सहायता करते हैं। भारत में पाकिस्तान द्वारा कराई जा रही आतंकवादी गतिविधियां इसका अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार अमरीका की आतंकवाद के सम्बन्ध में अपनी विदेश नीति की कुटिल कुटनीति भी आतंकवाद को सशक्त बनाने के लिए उत्तरदायी रही है. अमरीका ने अपना राजनीतिक वर्चस्व बनाए रखने के लिए अनेक आतंकवादी संगठनों एवं आतंकवादियों जिनमें ओसामा बिन लादेन भी एक है, को बढ़ावा दिया। ओसामा बिन लादेन को अफगानिस्तान में रूस की सेना को बाहर निकालने के लिए अमरीका ने ही सशक्त किया था। अमरीका के विरुद्ध जो भी आतंकवादी संगठन आतंकवादी कार्य करने लगते हैं वह उनका अन्त करने के लिए कार्य करने लगता है। अफगानिस्तान पर आक्रमण इसी नीति का परिणाम है। लेकिन अन्य आतंकवादी संगठनों के विषय में वह निष्क्रिय हो जाता है जैसे कश्मीर में व्याप्त आतंकवाद को अमेरिका अभी भी गंभीरता से नहीं ले रहा है।

4. सरकारों की किसी मानव समूह के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति–अनेक राष्ट्रों में आतंकवाद का कारण वहां की राष्ट्रीय सरकारों द्वारा किसी जातीयता विशेष या क्षेत्र विशेष की उपेक्षा करना भी है। उनकी समस्याओं का समाधान न करना, वहां समुचित विकास कार्य के प्रति उत्साहित न होना और उनकी राष्ट्रीय राजनीति में सहभागिता को महत्व प्रदान न करना उन लोगों में हीन भावना को जन्म देती है। राजनीतिक, आर्थिक एव नागरिक अधिकारों से उन्हें वंचित किए जाने पर उनमें कुंठा जन्म लेती है जो विद्रोह, हिंसा और अलगाववादी प्रवृत्ति को जन्म देती है। कल्याणकारी योजनाओं की कमी के कारण रोजगार के अवसरों की कमी होने से भी बेरोजगार, विद्रोही भावना वाले नवयुवक आतंकवादी संगठनों को जन्म देते है या फिर इन संगठनों के सक्रिय सदस्य बन जाते हैं। इनका उद्देश्य होता है अपने को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग करना। भारत में उत्तर-पूर्व के राज्य और कश्मीर में आतंवादी संगठनों के अस्तित्त्व के पीछे यह प्रमुख कारण रहा है।

5. सामरिक दुर्बलता–आतंकवाद का सहारा प्रायः वे जातीय समूह लेते हैं जो प्रत्यक्ष युद्ध करने में सामरिक रूप से सक्षम नहीं होते। इसका कारण यह है कि कोई भी आन्दोलनकारी या पृथकतावादी संगठन धीरे-धीरे विकसित होता है जिसका साथ में दमन भी चलता रहता है, अतः वह इतना सशक्त नही हो पाता कि वह आमने-सामने की लड़ाई में विजय प्राप्त कर सके। परिणामस्वरूप अपना अस्तित्व बनाए रखने, विद्रोह को प्रदर्शित करने, सरकार का या विश्व जनमत का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए ये संगठन आतंकवादी गतिविधियों को कार्य रूप मे परिणत करते रहते हें जिससे जनता में भय व्याप्त होता है और सरकार पर दबाव बनाने में फलता मिलती है।

7. सूचना प्रौद्योगिकी–पिछले दो दशकों में सूचना प्रौद्योगिकी में क्रान्ति हो गई है जिससे संचार के त्वरित, प्रभावी एवं विश्वव्यापी साधन उपलब्ध हो गए हैं। इंटरनेट, फैक्स, सैटेलाइट फोन आदि के माधयम से किसी भी समय कही पर भी दूर बैठकर सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जा सकता है, आतंकवादी संगठनों ने भी इस तकनीक का तुरन्त एवं प्रभावी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। उनके अपने वेबसाइट हैं जो इंटरनेट पर जारी रहते हैं। इनके माध्यम से आतंकवादी अपने कार्यों को तेजी से अंजाम देने मे सफल हो जाते है। अमरीका में 11 सितम्बर की कार्यवाइयों की योजना को आतंकवादियों ने वेबसाइटों के माधयम से ही सफल बनाया। इस तरह सूचना तकनीक एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों ने आतंकवाद को जन्म तो नही दिया, लेकिन इसे सुगम बनाकर नई दिशाएं प्रदान की हैं।

आतंकवादी गतिविधिया

आतंकवादी आतंक फैलाने के लिए जिन घटनाओं को अंजाम देते हैं उनमे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है. आतंक फैलाने के नए-नए तरीके खोजते रहते हैं। आतंक फैलाने के लिए ये निर्दोष व्यक्तियों को शिकार बनाते है। इसके लिए भीड़ वाले इलाकों में बम विस्फोट करना, अचानक अन्धाधुन्ध फायरिंग कर हत्याएं करना इनके लिए सामान्य बात है, इनके निशाने पर रेलवे स्टेशन, भूमिगत रेल, बस स्टैण्ड, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान जैसे सिनेमाघर, खेल के मैदान, स्कूल, हवाई अड्डे, वायुयान, संचार एवं मीडिया के साधन, सरकारी एवं व्यापारिक इमारतें, सेना के प्रतिष्ठान जैसे- आयुध डिपो, छावनी आदि रहते है. ग्रामीण क्षेत्रों मे यह आतंकवादी भोजन आदि प्राप्त करने के उद्देश्य से गांवों में जाकर वहां के निवासियों को भयभीत कर आतंक फैलाते हैं।

हत्या करना–आतंकवादी जिन घटनाओं को अंजाम देते है उनमें सर्वाधिक महत्त्वर्ण है हत्या करना। हत्या किसी प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति की, की जाती है जिसे ये अपने लक्ष्य प्राप्ति में बाधक मानते हैं। राजीव गांधी, इन्दिरा गांधी की हत्या एवं चन्द्रिका कुमारतुंगा की हत्या का प्रयास आदि अनेक उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त आम जनता में भय फैलाने एव सरकार को चुनौती देने के लिए निर्दोष व्यक्तियों या सेना के व्यक्तियों की भी हत्या की जाती है।

अपहरण और ब्लैकमेलिंग–दूसरा कार्य अपहरण एवं ब्लैकमेलिंग का है। आतंकवादी अपने किसी साथी को छुड़वाने के लिए अक्सर विदेश पर्यटकों या सरकार से जुड़े व्यक्तियों अथवा उनके संबंधियों का अपहरण कर लेते हैं। भारत में जम्मू-कश्मीर में विदेशी पर्यटकों का अपहरण, डॉ. रूबिया सईद का अपहरण कर आतंकवादियों ने सरकार से ब्लैकमेलिंग की, व्यक्तियों के अपहरण के अतिरिक्त पूरे वायुयान का अपहरण भी आतंकवादियों द्वारा किया गया है। काठमांडू (नेपाल) से इंडियन एयरलाइंस के विमान का अपहरण कर अफगानिस्तान ले जाना और गिरफ्तार आतंकवादी, जिनमें मौलाना मसूद अजहर भी सम्मिलित था, को छुड़वाना भी अपहरण और ब्लैकमेलिंग के उदाहरण हैं।

11 सितम्बर, 2001 को आतंकवादियों ने अमरीकी विमानो का अपहरण तो किया लेकिन ब्लैकमेलिंग नहीं की। इस बार आतंक का बिल्कुल नया तरीका प्रयोग में लाया गया। चार विमानों का अपहरण कर उनके पायलटों को सीट से हटाकर आतंकवादियों ने स्वयं विमान चलाने प्रारंभ कर दिए। अमरीका के चार महत्त्वपूर्ण केन्द्रों वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की दो इमारत, पेण्टागन तथा राष्ट्रपति का आवास एवं कार्यालय को नष्ट करने का लक्ष्य निर्धारित कर उन्ही के विमानों को मिसाइल की तरह टकराने का प्रयास किया जिसमे दो विमान वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर की इमारत के नेस्तनाबूद करने मे सफल हो गये तथा एक विमान लक्ष्य को भेदने से पहले ही नष्ट हो गया।

बम विस्फोट–आतंकवादी दहशत फैलाने के लिए बम विस्फोट करते हैं, ये टाइम बम होते हैं जिन्हे किसी डिब्बे, थैले, खिलौने आदि में रखकर टाइम सैट कर किसी सार्वजनिक स्थान जैसे रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड, मेला स्थल, स्टेडियम, रेल के डिब्बे, बस के अन्दर, सिनेमा घर, किसी अधिक चहल-पहल वाली इमारत, किसी होटल, सरकारी इमारत आदि मे रख दिया जाता है, जो निर्धारित समय पर फट जाता है जिससे काफी जानमाल का नुकसान होता है। बम विस्फोट के लिए कारों का प्रयोग भी किया जाने लगा है। श्रीनगर में कार में बम रखकर विधान सभा भवन से टकरा दिया गया जिससे भयंकर विस्फोट हुआ। विस्फोट से इमारतें को काफी नुकसान हुआ तथा अनेक लोग मारे गए।

आगजनी–आतंकवादी सरकारी संपत्ति एवं सेना की युद्ध सामग्री को नुकसान पहुंचाने के लिए आगजनी की घटनाओं को अंजाम देते हैं, भारत में सेना के आयुध डिपो में एक के बाद एक लगी आग से करोड़ों रूपए का गोला बारूद जलकर नष्ट हो गया।

आतंकवादी संगठनों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले हथियार

आतंकवादी संगठनों द्वारा अत्याधुनिक हथियारों का प्रयोग किया जाता है जिनमें ए. के. 47, ए. के. 56 राइफलें, आर. डी. एक्स. (विस्फोटक), कार्बाइन, स्ट्रिगर मिसाइलें, हल्के हथगोले, एरी थ्रोटोन ट्रेटनाइट्रेट (पेंटा), छोटे रॉकेट लॉन्चर, मोबाइल फोन, बम आदि घातक हथियार सम्मिलित हैं।

मानव बम–आतंकवादी संगठन कुछ व्यक्तियों को इस प्रकार प्रशिक्षित करते हैं जो स्वयं अपने जीवन को किसी बड़े उद्देश्य को पूरा करने के लिए कुर्बान के लिए तैयार हो जाते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसे जुनून के साथ नियमित रूप से धीरे-धीर तैयार किया जाता है। यह व्यक्ति अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य अपनी कुर्बानी समझने लगता है और अन्ततः

अपने कमाण्डरों के आदेश का पालन आंख मूंद कर करता चला जाता है। इन्हीं आत्मघाती मानव बमों ने राजीव गांधी की हत्या को सफल बनाया, इसी प्रकार के आत्मघाती मानव बमों ने अमरीका में 11 सितम्बर को हजारों व्यक्तियों को अपने साथ ही मौत के साए मे सुला दिया, ये मानव बम इतने खतरनाक सिद्ध हो रहे हैं कि इनको पहचानना और रोकना बहुत मुश्किल हो गया है।

जैविक हथियार–मानव जाति के विनाश के लिए घातक बीमारियों को उत्पन्न करने वाले रोगाणु (बैक्टीरिया) एवं जीवाणु (वायरस) को सुनियोजित तरीके से किसी देश में फैलाना आतंकवादी गतिविधियों मे सम्मिलित है। अर्थात् इन बीमारियों के बैक्टीरिया और वायरसों को हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनकी भयावहता परमाणु बमों जैसी है। इन बीमारियों के रोगाणु किसी विमान के द्वारा वातावरण में छोड़े जा सकते है। पीने के पानी में मिलाए जा सकते हैं। खाद्य पदार्थों में मिलाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय डाक द्वारा भी दूसरे देशों में पहुंचाए जा सकते है। इन बीमारियों में चेचक, डेंगू, हैजा, इबोला, प्लेग और एंथ्रैक्स पैदा करने वाले रोगाणुओं सहित इसी प्रकार के पचास बैक्टीरिया/वायरस की सूची विश्व स्वास्थ्य संगठन ने उपलब्ध कराया है।

रासायनिक हथियार–जैविक हथियारों की तरह ही रासायनिक हथियार भी होते है, अनेक जहरीले रसायन मानव जीवन को नष्ट करते हैं एवं मानव जीवन को भयावह बना देते हैं। जहरीली गैसों का प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध में किया गया था। नर्व गैस का प्रयोग आतंकवादियों द्वारा जापान के एक भूमिगत रेलवे स्टेशन पर किया गया था। जब आतंकवादी इन घातक रसायनों का प्रयोग सुनियोजित तरीके से किसी विशेष क्षेत्र में हथियार के रूप में प्रयोग करते हैं, तो यह रासायनिक हथियार कहलाते है। ऐसी संभावना व्यक्त की जा रही है कि बड़े आतंकवादी संगठनों के पास इस प्रकार के रासायनिक हथियार हैं जिनका वे प्रयोग कर सकते हैं।

आतंकवाद का अन्त–विश्व में आतंकवाद सदैव ही किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है, लेकिन यह केवल किसी क्षेत्र विशेष में ही रहा है। यह भी सच है कि इतनी अधिक संख्या में कभी भी लोग एवं देश आतंकवाद के शिकार नही हुए जितने कि वर्तमान में हुए। आज पूरी दुनिया इस आतंकवाद के खौफ से मुक्त होना चाहती है। अमरीका ने सुनियोजित एवं व्यापक स्तर पर आतंकवाद को नष्ट करने का बीड़ा उठाया है। पूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने इस अभियान को **एंडयूरिंग जस्टिस** (**Enduring Justice**) नाम दिया है। अमरीका का लक्ष्य सर्वप्रथम इसके लिए उत्तरदायी आतंकवादी ओसामा बिन लादेन को पकड़कर समाप्त करना है। उसके बाद उसके संगठन अलकायदा को और उसके विश्व में फैले नेटवर्क को समाप्त करना है। अमरीका ने इस अभियान के तहत् ओसामा बिन लादेन को शरण देने वाली अफगनिस्तान की तालिबान सरकार के विरुद्ध युद्ध में अमरीका के साथ विश्व के अधिकांश देश एकजुट हो गए थे।

अमरीका की आतंकवाद को समाप्त करने की पहल प्रशंसनीय है लेकिन अमरीका का उद्देश्य विश्व के अनेक भागों में व्याप्त प्रत्येक आतंकवाद को समाप्त करना नहीं है केवल कुछ ऐसे आतंकवादी संगठनों को जो उसे जानमाल की हानि पहुंचा रहे हैं? संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधाान में आतंकवाद के विनाश के लिए एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए। एक आतंकवादी निवारण संयुक्त राष्ट्र सेना का गठन कर उसे यह कार्य सौंपा जाना चाहिए। इसका नेतृत्व अमरीका को ही दिया जाना चाहिए। यदि संयुक्त राष्ट्र इस कार्य में सफल हो जाए तब विश्व के अनेक क्षेत्रों में व्याप्त इससे संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्र को आगे आना चाहिए ।

आतंकवाद को धन एवं हथियारों की पूर्ति तस्करी से की जाती है। नशीली दवाओं के अवैध व्यापार को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में परिवर्तन किया जाना चाहिए। इस समय कड़े अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के निर्माण एवं उन्हें लागू करने की आवश्यकता है।

पी.एच.डी शोध छात्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भारत विभाजन और साम्प्रदायिकता

डॉ. मार्गरिट लकड़ा

भारतीय आजादी के महासमर में धर्म और हिन्दू-मुस्लिम सांम्प्रदायिकता का बहुत घातक असर देश पर पड़ा और अंतत: उसी के फलस्वरूप इस देश का विभाजन हुआ। अंग्रेजी हुकूमत हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभेद पैदा कर अपनी सत्ता बरसों तक सुरक्षित रखना चाहती थी, इसलिए उसने बड़ी धूर्त्ततापूर्वक दोनों के धार्मिक संबंधों और सरोकारों को राजनीति से जोड़ दिया। शासन सूत्र ने कभी मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध बढ़ावा दिया तो कभी हिन्दुओं को मुसलमानों की अनदेखी करते हुए प्रश्रय दिया, ताकि दोनों सम्प्रदायों में आपसी सौहार्द्र कायम न हो सके। अंग्रेजों ने कभी हिन्दुओं को प्रोत्साहन दिया, तो कभी मुसलमानों की मदद की। 1857 के विद्रोह के दौरान मुसलमानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और विद्रोह को कुचलने के दौरान भी उन्हें दमन का सामना करना पड़ा। एक सर्वेक्षण के अनुसार केवल दिल्ली में ही 27,000 मुसलमानों को मौत की सजा दी गई।[1] अस्सी और नब्बे के दशकों में उन्होंने हिन्दुओं के विरुद्ध प्रति संतुलन के रूप में धीरे-धीरे मुसलमानों को समर्थन देने की नीति अपनाई। अंग्रेजों को धार्मिक भावनाओं के विभाजन में अपना लाभ नजर आया। वे अपनी कूटनीति के तहत सांप्रदायिकता और धार्मिक भावनाओं को बढ़ावा देकर अपने मिशन में सफल रहे और इसके फलस्वरूप को भारत दो खण्डों में विभाजित होने के लिए मजबूर होना पड़ा।

जहां तक भारतीय मुसलमानों का सवाल है, वे वर्षों से हिन्दुओं के सुख-दुख में साथ होकर रहते आये हैं। उनकी राष्ट्रीय निष्ठा और हिन्दुओं की राष्ट्रीय निष्ठा में बहुत फर्क नहीं रहा है। सन् 1883 में सर सैयद अहमद खान ने कहा था–हम दोनों-हिन्दू और मुसलमान-भारत की हवा में सांस लेते है, गंगा और यमुना का पवित्र पानी पीते हैं। भारत भूमि में उत्पन फसलों से अपना पेट भरते हैं। भारत में रहते हुए हमने अपने खून को बदल दिया। अब हमारे शरीर का रंग और नयन नक्श एक जैसे हो गये हैं। मुसलमानों ने अनगिनत हिन्दू रीति-रिवाज अपना लिया है और हिन्दुओं ने मुस्लिम आचार-विचारों की अनेक विशेषताओं को अपना लिया है। हम इतने अधिक मिश्रित हो गए है कि हमने एक नई भाषा उर्दू विकसित कर ली है।[2] आधुनिक शिक्षा के प्रति मुसलमानों का रुझान नहीं होने से उन्हें काफी दु:ख था। सर सैयद आधुनिक शिक्षा और विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा के हिमायती थे। उन्होंने मुसलमानों को चेतावनी दी कि यदि उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को नहीं अपनाया तो वे हिन्दुओं से बहुत पीछे रह जायेगें। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सर सैयद ने अलीगढ़ में 'मोमडर्न एंग्लो-ओरियंटल कॉलेज' खोलकर मुसलमानों के शैक्षिक स्तर को बढ़ाने और उसे प्रोत्साहित करने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने दोनों सम्प्रदायों को कॉलेज में जगह दी और हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार-प्रसार करते हुए दोनों सम्प्रदायों को भारत माता की दो आँखे कहा।[3]

भारतीय राष्ट्रवाद के लिए यह एक त्रसद परिघटना रही कि कांग्रेस की स्थापना के साथ ही सर सैयद राष्ट्रवाद के आलोचक हो गए। वे अलगाववादी राजनीति के समर्थक तथा मुस्लिम सांप्रदायिकता के हिमायती हो गए। उन्होंने अनेक कांग्रेसी नेताओं की, जो मुस्लिम थे, आलोचना करने लगे। इसका कारण यह है कि ये मुस्लिम नेता मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। सर सैयद अब यह मानने लगे थे कि हिन्दू और मुसलमान दो कौम ही नहीं दो राष्ट्र हैं। सर सैयद अहमद खान की मानसिकता के बदलाव में अलीगढ़ मोमडर्न एंग्लो ओरियेंटल कॉलेज के अंग्रेज प्रधानाचार्य डॉ॰ थ्योडर बेक का प्रमुख हाथ था।[4] इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना का एक केन्द्र संयुक्त बंगाल भी रहा है। अंग्रेज बंगाल की राष्ट्रीय और जुझारू चेतना पर कुठाराघात का लक्ष्य लेकर आगे बढ़े और उसे विभाजन का निर्णय लिया। यह विभाजन उनके लिए दोधारी तलवार की तरह थी और इससे उनके अनेक लक्ष्य सिद्ध हो रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन की धार कुंद करने सहित कांग्रेस की बढ़ती शक्ति पर अंकुश और धार्मिक आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों में विभेद पैदा करने का महत्वपूर्ण अभीष्ट उनके सामने था। उन्होने कहा था–हमारा मुख्य उद्देश्य बंगाल विभाजन करना है जिससे हमारे दुश्मन बँट जायें और कमजोर पड़ जायें।[5]

दिसंबर 1906 में मुसलमानों के हितों के नाम पर अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की गई जिसने मुसलमानों के लिए विशेष अवसरों की मांग की।[6] मुस्लिम लीग की राजनीतिक गतिविधियां विदेशी शासकों के विरुद्ध नहीं बल्कि राष्ट्रीय कांग्रेस में हिन्दुओं के विरुद्ध थी। इसके बाद लीग ने कांग्रेस के प्रत्येक राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक मांग का विरोध किया। अंग्रेजों ने यह घोषणा भी की कि वे मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करेंगें और लीग भारतीय राष्ट्रवादी कांग्रेस की विरुद्ध

उनके हाथों की कठपुतली बन गई। भारतीय राजनीति में गाँधाीजी का अभ्युद्य एक चमकते हुए सितारे के रूप में हुआ, जिन्होंने अपनी आभा से पक्ष-प्रतिपक्ष सभी को अपनी तरफ आकर्षित किया। राष्ट्रीय आंदोलन की धीर को तेज करने के लिए उन्होने हिन्दू-मुस्लिम एकता और सांप्रदायिक सौहार्द्र कायम करने पर विशेष जोर दिया।[7] गाँधीजी ने एक रणनीति के तहत 'स्वराज' का नारा दिया जिसमें हिन्दुओं-मुसलमानों सहित सभी भारतीयों का सहयोग था। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के पारंपरिक मतभेदों को सदा अपने राजनीतिक हित के लिए भड़काया और उकसाया है और भारत का साम्प्रदायिक विभाजन करके वे अपनी इस साम्राज्यवादी नीति का विस्तार करते रहेंगे। किन्तु गाँधीजी के 'स्वराज' और 'रामराज' की अवध ारणाओं को मुस्लिम सांप्रदायिक शक्तियों ने गलत अर्थ लगाया और इसे हिन्दू राज प्राप्त करने का षड्यंत्र बताया। गाँधीजी किसी भी स्थिति में पाकिस्तान के निर्माण से सहमत नहीं थे। वे कांग्रेस के द्वारा लगातार जिहाद की दुर्रीतियों का खण्डन करते रहे। तब गाँधीजी की भूमिका और प्रभाव को कम करने के लिए मुस्लिम लीग ने जनसंपर्क के जरिए यह प्रचार करना शुरू किया कि 'हिन्दू बहुसंख्यक कांग्रेस शासित प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल मुसलमान अल्पसंख्यकों के साथ अत्याचार कर रहे हैं और इस्लाम खतरे में है'।[8] लीग ने एक समिति बनाई जिसने अपनी रिपोर्ट में इस तरह के अनेक आरोप लगाए। मुस्लिम लीग के प्रचार का मुस्लिम जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने जब यह तय कर लिया कि भारतीयों को सत्ता सौंप देनी है तो लार्ड माउंटबेटन को भारत का नया वायसराय बनाकर भेजा गया। वे 22 मार्च 1947 को भारत पहुंचे और 24 मार्च को अपना कार्यभार संभाला।[9] उन्होने कार्यभार संभालते ही अनुभव किया कि यदि सांप्रदायिक दंगों को रोकना है तो भारतीयों को सत्ता सौपने में जल्दी करनी होगी। उन्होने सत्ता हस्तांतरण के पूर्व की तिथि को भी पीछे हटाकर 15 अगस्त 1947 कर दिया।

मांउटबेटन ने इसके लिए योजना बनाई। कांग्रेस और लीग के साथ उनकी अनेक बैठकें हुई और अनेक लंबी एवं थकाऊ बैठकों के बाद 3 जून 1947 को योजना के प्रारूप की घोषणा की, जिसमें सत्ता हस्तांतरण का तरीका अपनाया जाना था।

मांउटबेटन योजना[10] का प्रारूप कुछ इस प्रकार था-

1. हिन्दुस्तान का दो हिस्सों, भारतीय संघ और पाकिस्तान के रूप में विभाजन होगा।
2. दोनों देशों की सीमा-रेखा के निर्धारण के लिए पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश और असम के सिलचर जिले में जनमत और विधान सभा में यह जानने के लिए मत लिया जाएगा कि वे किस देश में शामिल होना पसन्द करेंगें।
3. हिन्दुस्तान के विभाजन से पूर्व पंजाब और बंगाल के सीमांकन का प्रश्न हल करना होगा।
4. हिन्दुस्तान की संविधान सभा को दो हिस्सों में बांट दिया जाएगा–भारत संघ की संविधाान सभा और पाकिस्तान की संविधान सभा।
5. देशी रियासतों को यह अधिकार सुरक्षित रहेगा कि वे किस देश में शामिल होंगे और यदि कोई रियासत किसी भी देश में शामिल होना न चाहे तो उसका ब्रिटेन से पूर्ववत संबंध बने रहेगा।

लीग और कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। माउंटबेटन, पंडित नेहरू और पटेल को यह समझाने में सफल रहे कि विभाजन ही स्वतंत्रता का एकमात्र रास्ता है। माउंटबेटन योजना के परिणामस्वरूप ब्रिटिश संसद में 'इंडियन इंडिपेंडेंस बिल' रखा गया और 18 जुलाई 1947 को उसे राजकीय सहमति मिल गई।[11] अंतत: देश विभाजन के त्रासदी के साथ 15 अगस्त 1947 को भारत आजाद हुआ।

संदर्भ

1. डॉ॰ विपिन चन्द्र, 'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,' हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृष्ठ–87 ।
2. वही, पृष्ठ–89 ।
3. वही, पृष्ठ–93 ।
4. डॉ॰ नामदेव, भारतीय मुसलमान, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा॰ लि॰), नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ–27 ।
5. डॉ॰ विपिन चन्द्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ–102 ।
6. डॉ॰ नामदेव, पूर्वोक्त, पृष्ठ–30 ।
7. डॉ॰ सीताराम झा 'श्याम', भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की रूप-रेखा, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, 2000, पृष्ठ–54 ।
8. डॉ॰ नामदेव, पूर्वोक्त, पृष्ठ–35 ।
9. डॉ॰ सीताराम झा 'श्याम', पूर्वोक्त, पृष्ठ–74 ।
10. वही, पृष्ठ–77 ।

रीडर, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखण्ड)

आध्यात्मिक शोषण के आलोक में महिलाएँ: एक विश्लेषण

डॉ. मनोज कुमार

'अध्यात्म' तथा 'आध्यात्मिक हिंसा' को परिभाषित करना अत्यन्त दुरुह कार्य है। 'अध्यात्म के केन्द्र में ''आत्मा'' होती है और सामान्य रूप में 'आत्मा' और 'परमात्मा' के मध्य अर्न्तसम्बन्धों के निरुपण अथवा पारलौकिक शक्तियों से अनुक्रियाओं के सन्दर्भ में आध्यात्मिक जगत का निर्माण होता है। पारलौकिक शाक्तियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण धार्मिक विश्वास के द्वारा निर्मित होता है। धार्मिक विश्वास धर्म का स्थैतिक भाग है जो मनुष्य को ईश्वर तथा जीव के मध्य सम्बन्ध को बताता है। ये विश्वास शास्त्र से लोक तक, अलिखित से लिखित स्रोत तक, दीर्घ परम्परा से लघु परम्परा तक प्रतिबिम्बित होते है। कमोबेश धार्मिक विश्वास अन्तर्विरोधी भी प्रतीत होते हैं।

महिलाओं के प्रति समाज में दो प्रकार के दृष्टिकोण पाए जाते है। एक दृष्टिकोण समाज में महिलाओं की सम्मानजनक स्थिति की वकालत करता है। दूसरा दृष्टिकोण महिलाओं को अधिकारों से वंचित करने का प्रयास करता है (नाटाणी, 2005)। महिलाओं के विरुद्ध दृष्टिकोण बनाने में महत्वपूर्ण स्थान धार्मिक विश्वास-प्रसूत आध्यात्मिक मान्यताओं का है। इन अन्तर्विरोधी मान्यताओं का अन्नत: झुकाव महिलाओं के प्रति हिंसा के रूप में होता है। आध्यात्मिक मान्यताएं जहाँ एक ओर समाजीकरण के माध्यम से महिलाओं को उन सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात् करने के लिए प्रेरित करती है कि वह हिंसा का प्रतिकार न कर सके। साथ ही पितृसत्ता के समर्थकों को ये भ्रान्त तर्क प्रदान करते हैं कि वो अपनी अतार्किक क्रियाओं को अध्यात्म के प्रभाव में तार्किक सिद्ध कर, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को न्यायोचित सिद्ध कर सकें।

कृष्ण कुमार (2009) के अनुसार कोई लड़की संस्कृति के हथियारों के आगे एक दिन में घुटने नही टेकती। उसे इस महासमर्पण के लिए धीरे-धीरे तैयार किया जाता है। यह अभियान किस आयु से शुरू होता है, कहना कठिन है, क्योकि सांस्कृतिक विविधिताएं आड़े आती हैं। लड़की का जन्म भारत में दुखद माना जाता है। लेकिन जन्म के बाद उसकी हत्या कर देने का विकल्प अब जन्म से पूर्व मार डालने की टैक्नोलॉजी के रूप में उभरा है और तेजी से लोकप्रियता हासिल कर रहा है। बालिका को नारी बनाने वाले विधानों, रिवाजों और वस्यक व्यवहारों में व्याप्त विविधता के बीच स्थापित इस बात की अकाट्य एकाग्रता देखने लायक है कि लड़की के स्वभाव को आमूल बदलना जरूरी है। उसके स्वभाव को लेकर संस्कृति में गहरे गढ़ा संशय कई पहलुओं से देखा जा सकता है। पहला स्त्री की अविश्वसनीयता से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का आयाम (दूसरा अचिर अशुद्धता का और तीसरे में शामिल है 'लड़की की यांत्रिक उपयोगिता का सुरक्षित दोहन की तरकीबें'।

स्त्री को हिंसा के प्रति आध्यात्मिक उपकरण के माध्यम से तैयार करने के बाद धार्मिक विश्वासों के माध्यम से महिलाओं को सामाजिक जीवन विशिष्ट ढ़ंग से विशिष्ट जीवन शैली के साथ जीने के लिए बाध्य किया जाता है। पहनावा, खानपान आदि पर प्रतिबन्ध आरोपित किया जाता है। स्त्री का भावनात्मक शोषण कर विशिष्ट जीवन शैली तथा जीवन अवसर आरोपित कर दिए जाते हैं। पुरुष तो मांसाहार कर सकते हैं लेकिन कुछ समुदायों में पुत्र/पति के जीवन से जोड़कर विवाहित स्त्रियों के लिए मांसाहार निषेधित कर दिया जाता है। मेंडलबाम ने कुछ जनजातीय समाजों में धार्मिक निषेध के रूप में स्त्रियों के लिए मांसाहार को वर्जित बताया है। हिचॅकाक (1966) ने खालापुर के अध्ययन में पाया कि राजपूतों में विवाहित महिलाओं के लिए मांसाहार वर्जित है। उत्तर प्रदेश के बस्ती में कुछ कायस्थ परिवार में सती माता सम्बन्धी कुलगाथा का हवाला देकर विवाहित महिलाओं के लिए मांस खाना मना है। धार्मिक विश्वासों ने किस किस प्रकार अपने अंतर्विरोधी स्वरूप के द्वारा महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को पोषित किया, इसके अध्ययन के लिए धार्मिक साहित्य, आख्यानों, गाथाओं पर दृष्टिपात करने से महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के आध्यात्मिक आधार प्रकट होते हैं।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के विषय में अनेक आख्यान आये हैं जो कि हमारी आध्यात्मिक मान्यताओं का आधार बन गये हैं। स्त्रियों की निन्दा करने में सभी धर्मशास्त्रों में होड़ लगी हुई है। ऋग्वेद (8/33/17) में प्रसंग है कि स्त्रियों के मन पर

नियंत्रण अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि स्त्रियां चंचल मन वाली होती हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व (38/1) में युधिष्ठिर का कथन है कि स्त्रियां सब दोषों का मूल होती हैं। अनुशासन पर्व (38/11-13) में नारद तथा अप्सराओं की प्रमुख पंचचूड़ा के मध्य संवाद के माध्यम से स्त्रियों के विषय में पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर आक्षेप किये गये हैं। मैत्रैयणी संहिता (1/10/11) में स्त्री को झूठ का अवतार कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण (11/5/1/9) में वर्णन है कि स्त्रियों के हृदय भेड़ियों के हृदय है। शतपथ ब्राह्मण (13/2/4) में वर्णन है कि स्त्रियां पुरुषों पर अवश्यमेव आश्रित रहती हैं। वशिष्ठ गौतम, मनु, बौधायन नारद आदि ने स्त्री को परतंत्र ही माना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार स्त्रियां बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र द्वारा रक्षित होती है तथापि महाभारत के अनुशासन पर्व (40-13) में युधिष्ठिर का कथन है कि जगत कर्ता ब्रह्मा स्वयं ही स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकते तब साधारण पुरुषों की बात ही क्या ? स्पष्ट है कि शास्त्रकारों के मतानुसार ऐसी कोई बुराई नहीं बचती जिसे आध्यात्मिकता की आड़ में संयुक्त न किया गया हो।

धर्मशास्त्रकारों ने पत्नी की भूमिकाएँ निर्दिष्ट की हैं तथा पितृ सत्ता के अनुरूप कर्तव्यों की व्यवस्था प्रस्तुत की है। शतपथ ब्राह्मण (6/1/5/9) में वर्णन है कि पत्नी को नपुंसक, पतित, अपंग, रोगी पति को भी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि पति ही पत्नी का देवता है। पुराणों में हिंसा के विरुद्ध स्त्री स्वर को दबाने का भी प्रयास किया गया है। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि पति पत्नी को उच्च स्वर में अपराधी ही क्यों न सिद्ध कर रहा हो, उसे प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। पीटे जाने पर भी उसे जोर से रोना नहीं चाहिए। पति के परदेश चले जाने पर स्त्री को शास्त्रकारों ने सामान्य जीवन से भी वंचित कर दिया है। व्यास स्मृति (2/52) के अनुसार विदेश गए हुए पति की पत्नी को अपना चेहरा पीला और दुखी बना लेना चाहिए तथा अपने शरीर को सुखा लेना चाहिए। धर्मशास्त्रों में पतिव्रता स्त्री के सम्बन्ध में अनेक अतिरंजित कहानियाँ मिलती हैं जो कि लोकाचारों, लोककथाओं तथा रीतियों के रूप में प्रस्फुटित होती हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक धरातल पर स्त्रियों को हिंसा सहन करने के लिए सहनशील बनाती हैं। फेडरिख एंगेल्स (2006) के अनुसार इतिहास में पहला वर्ग विरोध एक विवाह प्रथा के अन्तर्गत पुरुष और स्त्री के विरोध के विकास के साथ-साथ हुआ और इतिहास का पहला वर्ग उत्पीड़न पुरुष द्वारा स्त्री के उत्पीड़न के साथ-साथ प्रकट होता है। एंगेल्स मानते हैं कि पितृ सत्ता के कारण एक विवाह पर शुरू से ही यह छाप लग गई कि ये नारी के लिए ही एक विवाह है पुरूष के लिए नहीं। उसका यही स्वरूप आज तक चला आ रहा है।

हिन्दु धर्मशास्त्रों में पितृ प्रधान सामाजिक व्यवस्था को पोषण किया गया है। ऋग्वेद (1/135/11) के विवाह सूक्त में नववधू को दस पुत्रों की माता होने का आशीर्वाद दिया गया है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में पुत्र की कामना की गई है परन्तु कन्या के जन्म की कामना किसी भी ऋचा में नही की गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को ज्योति परन्तु पुत्री को कृपण कहा गया है। धर्मशास्त्रों में भ्रातृहीन वधू से विवाह निषेधित है।

हिन्दू धर्मशास्त्र महिलाओं को विवाह के सम्बन्ध में अधिकार नहीं प्रदान करते हैं। महिलाओं के लिए विवाह बाध्यता है, लेकिन विधवा होने पर विवाह नहीं कर सकती है। पति के साथ स्वयं जल कर मर जाने को शास्त्रों में महिमा मण्डित किया गया है। आदि पर्व (146/34) में प्रसंग है कि एक से अधिक पत्नियां रखना कोई अधर्म नहीं है परन्तु स्त्री के लिए प्रथम पति के प्रति कर्तव्य न करना अधर्म है। स्त्री को सिर्फ एक विवाह का अधिकार प्राप्त था पति के मर जाने पर स्त्री या तो अपनी आत्मा को मारकर पशुवत जिये अथवा सशरीर सती हो जाए इसके अतिरिक्त कोई विकल्प शास्त्रकारों नें नहीं दिया है। 'सती' से बड़ा हिंसा का कोई उदाहरण पूरे विश्व में नहीं मिल सकता है, जहाँ स्त्री के स्वजन अपने सामने उसे जिन्दा जलने पर मजबूर करते हों और फिर उसे आध्यात्मिक रूप से महिमा मण्डित करते हों। 'जेन्डर' के आधार पर यहां धार्मिक अन्तर्विरोध ही है कि जहाँ अतिथि, नृ भूत, देव, पितृ का पोषण जो संस्कृति करती हो वहां मां, बहन, बेटी के लिए पति की मृत्यु के बाद लेशमात्र दया नहीं मिलती। महाभारत के मौसल पर्व (8/18 तथा 8/21) में बसुदेव की चार पत्नियों एवं कृष्ण की चार पत्नियों के सती होने का उल्लेख मिलता हैं। ये आरुयान शास्त्र से लोक के मध्य आध्यात्मिक स्तर पर बहुपत्नी प्रथा, सती प्रथा, न्यायोचित ठहराने का प्रयास है। वैदिक दर्शन के विरुद्ध जनक्रांति के रूप में बौद्ध एवं जैन धर्म का आविर्भाव हुआ, जिन्होनें धर्मप्रसूत सामाजिक संरचना की जड़ता पर प्रहार किया। यह धार्मिक अन्तर्विरोध ही है कि प्रत्युत्तर में आये उदारवादी धर्म महिलाओं के प्रति उदार न थे। इन धर्मों ने भी आध्यात्मिक धरातल पर महिलाओं की दशा में सकारात्मक योगदान नही दिया। मज्झिम निकाय में वर्णन आया है कि स्त्रियाँ राजपद के अयोग्य होती हैं। भगवान बुद्ध भी स्त्रियों को प्रवज्या देने के पक्ष में नहीं थे तथा उन्होंने आनन्द के पाँच प्रमादों में एक माना था। बुद्ध ने यह भी कहा कि स्त्रियों के आने से संघ की आयु आधी रह गयी है। जैन धर्म में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो भाग मिलते हैं। दिगम्बरों की मान्यता है कि कोई आत्मा स्त्री शरीर को प्राप्त कर मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती है।

सोलहवीं शताब्दी में भारतीय समाज ने धार्मिक धरातल पर आत्ममंथन किया। धर्म शास्त्रों से निकल पर 'लोक' की प्रशस्त भूमि पर आ गया। जाति प्रथा, कर्मकाण्ड, असमानता पर प्रहार किया गया। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सहजता, तार्किकता,

समानता की भावना का प्रसार हुआ। लेकिन महिलाओं के लिए आपवाद को छोड़कर धार्मिक सुधारवादी रुढ़िवादी ही रहे। कबीर जैसे सन्तों ने मुल्ला, पंडित सबसे सच के लिए लोहा लिया लेकिन नारी की झाई से भुजंग का भी अंधा होना स्वीकार किया। धार्मिक अन्तर्विरोध में आध्यात्मिक हिंसा का घोषणा पत्र तुलसी दास ने लिखा और नारी को ताड़ना का अधिकारी बताया। भारत में स्वतन्त्रता पाश्चात् बनाये गये कानून भी धार्मिक अंतर्विरोध द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक हिंसा को रोकने में सक्षम नहीं हुए है। गुप्ता (2005) के अनुसार भारतीय नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता का प्रावधान है लेकिन उत्तराधिकार, विवाह, तलाक और बच्चों के संरक्षण के मामलों में विभिन्न धर्मों पर आधारित उनके कानून भिन्न-भिन्न हैं। इन निजी कानूनों के तहत महिलाओं के साथ उन सभी मामलों में भेदभाव होता है, जिनका जिक्र संविधान के मूल अधिकारों वाले अध्याय में किया गया है और जिनके अनुसार धार्मिक आचरण की आजादी उन्हें मिली हुई है। साथ ही निजी कानूनों में व्याप्त तमाम असमानताओं के मद्देनजर संविधान राज्य से यह यह आग्रह करता है कि वह समान नागरिक संहिता बनाने की कोशिश करे ताकि निजी कानूनों में व्याप्त भिन्नताओं को समाप्त किया जा सके।

समकालीन भारत में महिलाएं महत्वपूर्ण पदों पर काबिज हैं। शिक्षा, नौकरियों के क्षेत्र में उन्होनें प्रगति की है, लेकिन घर और कार्य स्थल पर पितृसत्तात्मक मानसिकता के कारण हिंसा का शिकार होते रहते हैं। धार्मिक समूह सामाजिक न्याय का हवाला देकर अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन जब महिला को उसका हक मिलना होता है तो कानून में संशोधन कराकर दम लेते हैं। आध्यात्मिक जगत में व्याप्त तत्वों के कारण भारतीय महिलाओं में, विशेष रूप से हिन्दू महिलाएं धर्म को विशेष महत्व देते हैं। वे धर्म और धार्मिक विश्वास में अत्यधिक आस्था रखती हैं (मिश्र, 2002)। शिक्षा तथा व्यावसायिकता दक्षता हासिल करने के बाद भी महिलाएं सुहाग चिह्न को ढोती हैं। पितृसत्तात्मक मानसिकता के वशीभूत होकर कन्याभ्रूण हत्या का विरोध नहीं कर पाती हैं। एक ओर धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध आर्थिक क्षेत्र में उपार्जन करती हैं तो दूसरी ओर सुहाग चिह्नों, पुत्र की कामना, व्रत आदि के मोह जाल से नहीं छूट पा रही हैं।

आध्यात्मिक जगत ने वैश्वीकरण, मीडिया के विस्तार का भरपूर फायदा उठाया है। बाबाओं की पहुँच मीडिया के माध्यम से महिलाओं के टेलीविजन तक हो गयी। धर्माचार्यों के पद पर पुरुषों का एकाधिकार है, लेकिन अनुगामियों में महिलाएं बहुसंख्यक हैं और प्रायः शोषण का शिकार होती रहती है। मीडिया का फायदा उठाकर आध्यात्मिक रूप महिलाओं के मन में पोंगापथ तथा शोषणकारी व्यवस्था का पोषण किया जाता है। गाँवों में तैथिक आधार महिलाएं व्रत तथा कायिक कष्ट में अपनी सहभागिता कर रही है। नगरीय क्षेत्रों में कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे धार्मिक स्थलों में महिलाओं की भावनाओं का बखूबी शोषण किया जा रहा है। महिलाएँ कितना भी पढ़ जाए लेकिन शाहबानों, रूप कुवंर के रूप में उनके विरुद्ध समाज के ठेकेदारों के तेवर अभी भी याज्ञवल्क्य जैसी ही हैं–

मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे,
तुम्हारा सिर कट कर लुढ़केगा जमीन पर
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना।
मत उठाओं प्रश्न बह्म सत्ता पर।
वह पुरुष है।

संदर्भ-सूची

* एंगेल्स, फेडरिख, 2006 : परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली।
* ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, 1983 : सम्पादक श्री पाद दामोदार सातवलेकर।
* कुमार, कृष्ण, 2009 : लड़की की पुनर्रचना, तद्भव, लखनऊ।
* गुप्ता, कमलेश कुमार, 2005 : महिला सशक्तिकरण, बुक एनक्लेव, जयपुर।
* नाटाणी, प्रकाश नारायण, 2005 : मानवाधिकार एवं महिलाएं, सबलाइम पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
* मज्झिम निकाय, 1991 : भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद।
* मिश्र, उर्मिला प्रकाश, 2005 : प्राचीन भारत में नारी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्य अकादमी, भोपाल।
* मनुस्मृति, 1997 : व्याख्याकार पं॰ हरगोविन्द शास्त्री चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
* महाभारत, 1978 : संम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।
* हिचकॉक, 1966 : द राजपूत ऑफ खालापुर इण्डिया, जॉन वाइली, न्यूयार्क।
* काणे, पी॰वी॰, 1980 : धर्मशास्त्र का इतिहास उ॰प्र॰ हिन्दी संस्थान लखनऊ।

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय

आज के युग में नारीवाद

अखलाख अहमद

सम्पूर्ण विश्व में आज महिलावाद या स्त्रीवाद या महिला सशक्तिकरण का शोर है। इस बात को अंजाम देनेवाला कोई राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहीं दिखायी नहीं पड़ता है। अभी यह एक विचारधारा या सिद्धान्त निरूपित करने के प्रयास या भूमिका में है। संगठन बनाने के प्रयास भी हो रहे हैं।

ऐसा कहा जा रहा है कि आधुनिक काल में पहली बार स्त्री के हाथ में कलम आई है और समय बीतने के साथ-साथ उस कलम की पकड़ भी मजबूत होती जा रही है। आधुनिक रचना का इतिहास साक्षी है कि इस कलम में पहली बार औरत ने अपने हाथों, अपनी भाषा में, अपने को लिखा है, अपने इतिहास को, अपने वर्तमान को और अपने आकांक्षित भविष्य को भी, उनके त्रास, पूरे संघर्ष और पूरी संभावनाओं में। उसे अब तक अन्यों ने लिखा था, अब वह अपने को खुद परिभाषित कर रही है। ये स्त्रियाँ मानती हैं कि इनकी अपनी संस्कृति है, अपना इतिहास है, अपनी भाषा है तथा इनकी अपनी देह है जो पुरुषों से भिन्न है।

स्त्री विमर्श

स्त्रियों के इस सोच को, इस चिन्तन को, इनकी इन मान्यताओं को स्त्री-विमर्श, नारीवाद, नारीवादी आन्दोलन, उत्तर आधुनिकतावादी स्त्री विमर्श, उत्तर साम्राज्यवादी आन्दोलन की संज्ञा दी जा रही है। स्त्री विमर्श को कुछ विचारक मार्क्सवाद का विकास या विस्तार मानते हैं। कुछ इसे संरचनावाद या उत्तर संरचनावादी विचार कहते हैं।

भारत में स्त्री विमर्श की शुरूआत के बारे में 'हंस' जनवरी-फरवरी 2000 के विशेष अंक की सम्पादिका अर्चना वर्मा लिखती हैं कि 1978 अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष था। इसी वर्ष भारत में स्त्री आन्दोलन की विधिवत् शुरूआत हुई। दिल्ली के एक कॉलेज में जहाँ वे पढ़ाती हैं-वहीं स्वाधीन स्त्रियों की पहली पीढ़ी इसी कॉलेज से निकली है-जिनमें प्रमुख हैं : मधुकिश्वर, रूथ वनिता पाल, वृन्दा कारत, उर्वशी बुटालिया, मायाराव, कीर्ति सिंह, मीरा नायर, त्रिपुरारी शर्मा आदि।

इसके बाद इस सोच की बहुत सारी स्त्रियाँ इस आन्दोलन में शामिल हुईं। अर्चना वर्मा स्त्रियों की मुक्ति स्वाधीनता में देखती हैं और कहती हैं: ''स्वाधीनता का चुनाव अंतत: अकेलेपन का चुनाव है और लंबे अकेलेपन की परिणति इस अहसास में होती है कि सृजनात्मक सक्रियता जैसे एकाध अपवादों को छोड़कर कैरियर की सफलता जीवन में सार्थकता का स्रोत नहीं हो सकती। मातृत्व स्त्री को प्राकृतिक रूप से उपलब्ध सार्थकता का एक सहज अवसर है पर स्वाधीन स्त्री के लिए वह न केवल कैरियर में बाधक, अनावश्यक सिरदर्द बल्कि पराधीनता की कुंजी भी है।

पारिवारिक इकाई की वैकल्पिक रचना के प्रयोगों और प्रयासों ने भी यही साबित किया है कि समलिंगी परिवार हों या सामुदायिक सहजीवन के आवास, संबंधों का वही पुराना पैटर्न उभर ही आता है। एक निर्णेता और दूसरा निर्णय के अधीन, एक अभिभावक और दूसरा अभिभूत, एक संरक्षक दूसरा संरक्षित और एक शिकारी दूसरा शिकार भी-यानी सार्थकता मानवीय संबंधों की ऊष्मा में ही है और संबंधों को पनपने की स्वाभाविक जमीन परिवार है। विचित्र विडम्बना है, संबंधों में स्वाधीनता का अहसास बाधित होता है तो एकांत में सार्थकता का अहसास नष्ट हो जाता है।

स्वाधीनता का कुल अहसास ले-देकर बिना रोक-टोक के उठ-बैठ सकना, बिना किसी की आज्ञा अनुमति की मज़बूरी के आ-जा पाना, खर्चा-वर्चा कर लेना ही है जो मिल जाए तो 'बस इतना ही' सा लगता है और न मिले तो दबाव, घुटन और

मजबूरी को जिंदा होने के अहसास का पर्याय बना देता है। यानी मजबूरियों और दबावों की सापेक्षता में तो स्वाधीनता अपने आप में सार्थक एक मूल्य है पर उनके अभाव में जीवन को किसी दूसरे बड़े प्रयोजन भी संबंधों का, परिवार का शत-प्रतिशत विकल्प नहीं बन सकता। तो क्या वही समझदार थी जिसे शुरू में मूर्ख और सामान्य समझा गया? रुदन और हाहाकार में अपना विरेचन करती, संबंधों की सुरक्षा का कवच पहने, अस्मिता और स्वाभिमान जैसे झंझटों में न पड़ती वह सचमुच कोई अनाम दोष स्वयं को दे पा रही है?

यह समझदारी है या केवल कायरता का महिमा मंडन? स्वाधीन के अतिरिक्त भी कोई सार्थक हो सकता है क्या? कौन जाने, कहना मुश्किल है। इतना तो है ही, काफी भले न हो कि विकल्प खुले हैं और स्त्री पराधीनता का चुनाव करने को भी स्वाधीन है। स्वेच्छा से चुनी पराधीनता क्योंकि आज औरत जितनी बदल चुकी है, उतना शेष समाज नहीं। अब अपने रहने लायक जगह उसे कहां मिले?

समाज यूं नहीं बदला करता-वचनों, प्रवचनों, विवादों और विचारधाराओं से। उसको बदलने के लिए महामारी, अकाल, भूकम्प, बाढ़ जैसी विराट पैमाने की कोई प्राकृतिक आपदा चाहिए या फिर युद्ध जैसी मानव रचित दुर्घटना क्योंकि ऐसे ही समयों में मनुष्य की चेतना सामुदायिक रूप से इतनी तत्पर, सतर्क और सन्नद्ध होती है कि विचारों को शब्दों के घेरे से बाहर निकाल कर कर्म में परिवर्तन कर दे।

आयोजित और प्रायोजित भविष्य के दुस्साहस में दैवी अनुकम्पा जैसी अप्रत्याशितों की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती, तो फिर और चारा ही क्या है सिवा इसके कि यह जो उपलब्ध कच्चा माल है-यही पुरुष इसी को ठोक पीटकर स्त्री अपना मन चाहा साथी गढ़ ले वरना संबंधों का जो आदर्श स्वप्न उसके मन में है-समकक्षों का परस्पर स्वाधीन-सहभाव वह अपनी आकर्षक, उत्तेजक, विरोधाभासी चुनौतियों समेत एक कपोल कल्पना की तरह अनजिया ही रह जाएगा।

प्रभा खेतान स्त्री-विमर्श की जबर्दस्त पैरोकार हैं। वह निरन्तर इस विषय पर लिख रही हैं। इनके पास स्त्री-विमर्श के समझने-समझाने के अपने तर्क हैं, इनमें दम है और किसी को अपने विचारों से कायल करने की क्षमता भी है। उन्होंने 'हंस' के जनवरी-फरवरी 2000 के अंक में ''स्त्री विमर्श: इतिहास में अपनी जगह'' शीर्षक से एक आलेख लिखा है-जिसमें इनके चिन्तन को देखा जा सकता है। इस आलेख में उन्होंने स्त्री विमर्श की उत्तर आधुनिक समझ के साथ इसके इतिहास को भी बताने का प्रयास किया है।

ऐतिहासिक रूप

नारीवाद पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है। ऐतिहासिक रूप से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आये हैं, जहां स्त्री ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञान की विषय-वस्तु है। हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है। इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केन्द्र में अधिष्ठित किया। इसके विपरीत नारीवादी सिद्धांत स्त्री-केंद्रित ज्ञान की चर्चा करता है।

ज्यों-ज्यों नारीवाद का विकास होता गया इसकी शाखा-प्रशाखाएं विभिन्न दिशाओं में फूटती गईं। वक्त के साथ इन नारीवादिनों के दृष्टिकोण में भी काफी परिवर्तन आया और यही कारण है कि बहुतेरी स्त्री विचारकों के प्रारंभिक लेखन में एक प्रकार की अस्पष्टता और विरोधाभास है। सरल स्पष्ट शब्दों में इन नारीवादी विचारों का लेखा-जोखा देना एक बड़ा कठिन अध्यवसाय है क्योंकि निरंतर घटने वाली सामाजिक घटनाएं, विभिन्न खेमों से निकलने वाली चुनौतियां, विचारधारा को स्थिर नहीं रहने देती।

पारंपरिक दर्शन की स्त्री-विरोधी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए, नारीवादी चिंतकों ने यही कहा कि पारंपरिक दर्शन ने न केवल स्त्री के बौद्धिक प्रयास का अवमूल्यन किया बल्कि स्त्री के निजी मूल्यबोध को भी तुच्छ किया है। दार्शनिक चिंतन के जगत में स्त्री भी अपना स्थान बना सकती थी। किन्तु पारंपरिक दर्शन, पुरुष केंद्रित सोच तक ही सीमित रहा। पश्चिमी दर्शन की अधिकतर अवधारणाओं एवं सिद्धातों का आधार जैसा कि एलिसन जैगर कहती हैं- ''दुनिया को तौलने का पुरुषोचित

नजरिया है। हालांकि कुछेक दार्शनिक जैसे प्लेटो, जॉन स्टुअर्ट मिल एवं मार्क्स ने स्त्री-पुरुष को समकक्ष रखने की चेष्टा की किंतु इनमें से अधिकतर दार्शनिकों अरस्तू, कान्ट, हीगेल और नीत्शे को स्त्री जाति की बौद्धिक और तार्किक क्षमता पर गहरा संदेह था।''

महान दार्शनिक देकार्ते ने जब कहा कि 'मैं सोच सकता हूं अत: मैं हूं' तो सोच से उनका आशय पुरुष की सोच था। देकार्ते के अनुसार स्त्री की तर्क क्षमता पुरुषों की तरह विकसित नहीं। जाने-अनजाने इन दार्शनिकों ने जगत को दो हिस्सों में बांट दिया तथा जीवन में जो कुछ भी वैयक्तिक और निजी था उसे स्त्री से जोड़ दिया। पितृसत्ता ने परिवार के इस निजी क्षेत्र की रक्षा जरूर करनी चाही, सुरक्षित रखा भी, मगर बस इतना भर ही। इससे ज्यादा इन मुद्दों को दार्शनिकों ने विचार-विनिमय के काबिल ही नहीं समझा। स्त्री तत्व अर्थात् ठोस, वैयक्तिक एवं विशिष्ठ के विरुद्ध-अमूर्त, सार्विक तथा शाश्वत का महिमा मंडन किया गया। स्त्री के पास संवेग था तो पुरुष के पास तर्क एवं बुद्धि थी।

इस मूल विरोध को छोड़कर यदि हम दर्शन को पुन: समझने की चेष्टा करें तो पायेंगे कि हम स्त्रियों का चिंतन भी इन विभिन्न दार्शनिक स्कूलों में उपलब्ध ट्रेनिंग से ही संवर्धित हुआ है। स्त्री विचारकों ने स्त्री संबंधित न केवल नये सिद्धांत को प्रतिपादित किया बल्कि स्त्री जीवन के अन्य विभिन्न प्रसंगों पर ज्ञान, कर्म और यथार्थ का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया, जिसमें कम-से-कम यह तो स्पष्ट हुआ कि स्त्रियों का समूह एक मिश्रित समूह है, नारीवादिनों की प्रतिबद्धता इन दार्शनिक विचारों के प्रति नहीं है। वे स्त्री-मुक्ति के प्रसंग में इन विचारों का उपयोग भर करना चाहती हैं। उनके अनुसार नारीवाद पर इन विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव तो जरूर पड़ा है, मगर पुरुषों के ये विचार नारीवाद की परिभाषा नहीं बन सकते। कुछ अन्य नारीवादिनों ने इन विभिन्न नारीवादी विचारधाराओं को अलग-अलग नाम देने की कोशिश भी की। मसलन उदार नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, मनोविश्लेषक नारीवाद, अराजक नारीवाद एवं सामाजिक नारीवाद आदि।

इनमें उदारवादी नारीवाद का अपना एक लंबा इतिहास रहा है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक मेरी उलनस्टोक्रापट (1759-1873), हैरियट टेलर (1807-1858), जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) जैसे सभी नारीवादियों ने दार्शनिक जॉन लॉक और रूसो की सामाजिक अनुबंध की आलोचना करते हुए कहा कि, ये दार्शनिक अपने लेखन की वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक परिवर्तन की चर्चा तो करते हैं किंतु इनकी उदारवादी राजनीति स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिलाने में असमर्थ रही हैं। उदारवादियों ने ऐसी सामाजिक संरचना करनी चाही थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्व हो, उसे समान सुविधा मिले।

संदर्भ-सूची

- Women Empowerment Through Information Technology/Usha Sharma
- Microfinance: a robust tool for women empowerment/Krishna Kumar Agarwal and Aman Gupta
- Women and Empowerment : Experiences from Some Asian Countries/edited by DP Singh and Manjit Singh.
- Administration for Empowerment and Welfare of Women/edited by Abha Pandey
- Women Empowerment in Globalized Twenty-first Century : Edited by Sanjay Kumar Jha
- Microfinance and Women's Empowerment/edited by Surendra K. Kaushik
- Politics and Women Empowerment in the Himalayan States/edited by Sanjay Kumar

शोध प्रज्ञ,

राजनीति विज्ञान विभाग,

पटना विश्वविद्यालय

महात्मा गाँधी: सत्याग्रह की अवधारणा

अजय कुमार दास

सत्याग्रह की विधि, राजनीति को गाँधी का एक महत्वपूर्ण योगदान है। गाँधी को इसकी प्रेरणा रूपी लेखक-विचारक टॉल्स्टॉय की रचनाओं से मिली। अमरीकी विचारक थ्यूरो ने भी सविनय अवज्ञा के विचार का प्रतिपादन किया था, और व्यक्तिगत तौर पर इसका प्रयोग भी किया था। गाँधी ने इसे और भी विकसित किया, और पहली बार इसे बड़े पैमाने पर राजनीति में इसका इस्तेमाल किया।

सत्याग्रह की विधि पर प्रयोग गाँधी ने पहले-पहल दक्षिण अफ्रीका में उन कानूनों के विरूद्ध किया जिनके द्वारा भारतीय लोगों के साथ भेदभाव बरता जाता था। उस समय इस विधि को 'निष्क्रिय प्रतिरोध'' (Passive resistance) के नाम से जाना जाता था। बाद में गाँधीवाद में गाँधी ने इसे ''सत्याग्रह'' का नाम दे दिया, क्योंकि उनके अनुसार यह निष्क्रय नहीं, बल्कि एक सक्रिय विधि है।

भारत की स्वतंत्रता के आन्दोलन में गाँधी ने पहली बार सत्याग्रह की विधि का इस्तेमाल चम्पारण (बिहार); में किया। इसके बाद से सारे भारत में ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध इसका बड़े पैमाने पर इस्तेमाल हुआ। स्वतंत्रता मिलने के बाद भी भारत की राजनीति में विभिन्न राजनीतिक दलों और गैर-दलीय समूहों एवं आन्दोलनों द्वारा इस विधि का प्रयोग किया गया है। सत्याग्रह की विधि का इस्तेमाल सिर्फ सरकार के विरूद्ध ही नहीं, बल्कि छूआछूत जैसी सामाजिक कुप्रथाओं के विरूद्ध भी किया गया है। गाँधी के अनुसार सत्याग्रह की विधि का इस्तेमाल परिवार में भी किया जा सकता है।

''सत्याग्रह'' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है ''सत्य'' और ''आग्रह''। ''सत्याग्रह'' का अर्थ है ''सत्य के लिए आग्रह''। सत्याग्रही दृढ़ निश्चय के साथ, हर कष्ट को सहता हुआ और हर त्याग करता हुआ, सत्य पर टिका रहता है। गाँधी के अनुसार सत्य को अहिंसा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ''अहिंसा'' की व्याख्या गाँधी भावात्मक रूप से करते थे। उनके अनुसार ''अहिंसा'' का अर्थ मात्र हिंसा का अभाव नहीं, बल्कि प्रेम है। सत्याग्रह में प्रेम और संयम के साथ सामने वाले व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस तरह, सत्याग्रह की विधि सत्य और अहिंसा के नैतिक मूल्यों पर आधारित है।

सत्याग्रह की विधि सत्य और अहिंसा के नैतिक मूल्यों पर तो आधारित है ही। इसके अलावा, सत्याग्रह के मूल में यह विश्वास भी निहित रहता है कि **प्रत्येक मानव मूलतः स्वभाव से अच्छा होता है**। इसलिए, सत्याग्रह का उद्देश्य सामने वाले व्यक्ति को पराजित या अपराजित करना नहीं होता है; बल्कि उसकी अन्तर्निहित मानवीय भावनाओं को जगाकर, उसके विचारों में परिवर्तन लाना होता है। सत्याग्रही का उद्देश्य प्रेम द्वारा गलत काम करने वाले व्यक्ति की न्याय की भवना को जगा कर उसे सुधारना होता है।

गाँधी साध्य और साधन की एकता में विश्वास रखते थे। उसकी यह मान्यता थी कि साधन को साध्य के अनुरूप होना चाहिएं उनके अनुसार आदर्श समाज के सत्य और अहिंसा पर आधारित होना चाहिए, और इस लक्ष्य को सत्य और अहिंसा पर आधारित विधि या सत्याग्रह की विधि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

गाँधी के अनुसार सत्याग्रह का इस्तेमाल **अंतिम औजार के रूप में में किया जाना चाहिए**। सत्याग्रही व्यक्ति को पहले निष्पक्ष भाव से इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि उसकी अपनी माँगे सही या न्यायोचित है या नहीं। उसे अपने दिमाग

से समाने वाले व्यक्ति के प्रति हिंसा और नफरत की भावना को पूरी तरह निकाल देना चाहिए। पहले सामने वाले व्यक्ति को समझा-बुझा कर उसके विचारों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना चाहिए। हर कदम पर सामने वाले व्यक्ति को सुधरने का पूरा मौका देना चाहिए। अगर इसमें सफलता न मिले, तभी अन्तिम विकल्प के रूप में सत्याग्रह का रास्ता अपनाना चाहिए। वैसे, **व्यापक अर्थ में सामने वाले व्यक्ति को समझाने का प्रयत्न भी सत्याग्रह का अंग है।**

गाँधी के अनुसार सत्याग्रह की विधि को अपनाने के लिए नैतिक तैयारी जरूरी है। सत्याग्रही को **निस्वार्थ, निर्भय, ईमानदार और अनुशासित** होना चाहिए। इसके अलावा, सत्याग्रही को कष्ट सहने और त्याग करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। सत्याग्रही को मन, वचन और कर्म से सत्य और अहिंसा का पालन करना चाहिए। सत्याग्रही को मन, वचन और कम्र से सत्य और अहिंसा का पालन करना चहिए।

सत्याग्रही की कथनी और करनी में एकता भी बहुत जरूरी है। सत्याग्रही व्यक्ति को सबसे पहले अपने-आप को उन बुराइयों से मुक्त कर लेना चाहिए, जिनके विरूद्ध वह संघर्ष कर रहा हो। इन सब बातों के अलावा यह भी जरूरी है कि सत्याग्रही मानव की अन्तर्निहित अच्छाई में विश्वास रखता हो। अगर नैतिक तैयारी के बिना सत्याग्रह की विधि का उपयोग किया जाए, तो वह प्रभावी नहीं रह जाता है, और सफलता की संभावना भी कम हो जाती है।

गाँधी के अनुसार सत्याग्रह कमजोर लोगों का हथियार नहीं है। सत्याग्रह के लिए हर तरह का कष्ट-लाठी, गोली और यहाँ तक कि मृत्यु-का सामना करने का साहस चाहिए। अगर सत्याग्रही व्यक्तियों में अपनी माँगों के न्यायोचित होने पर पूरा विश्वास न हो, और दमन का सामना करने का नैतिक बल न हो, तो फिर ऐसे में सत्याग्रह पर आधारित आन्दोलन अधिक समय तक चल नहीं सकता है।

सत्याग्रह के कई रूप हैं–

(i) **सविनय अवज्ञा**- इसके अनतर्गत किसी अनुचित समझे जाने वाले कानून को तोड़ने, और टैक्स नहीं देने का अभियान शामिल है। लेकिन कानून तोड़ने के बाद सत्याग्रही स्वेच्छा से उसकी सजा भुगतने के लिए भी तैयार रहता है। उदाहरण के तौर पर, स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान गाँधी द्वारा ''नमक सत्याग्रह'' के जरिए नमक कानून को तोड़ा गया थ।

(ii) **असहयोग**- अन्याय करने वाले व्यक्ति या सरकार से असहयोग करना।

(iii) **बन्द या हड़ताल**-विरोध व्यक्त करने के लिए काम-काज बन्द कर देना।

(iv) **अनशन**-विरोध व्यक्त करने के लिए, किसी माँग के समर्थन में या अच्छी भावनाओं को जगाने के लिए उपवास करना। गाँधी ने हिन्दू-मुस्लिम दंगों को शान्त करने के लिए और कई अन्य अवसरों पर आमरण अनशन का सहारा लिया था।

कभी-कभी यह प्रश्न भी उठता है कि सत्याग्रह की विधि संवैधानिक है या असंवैधानिक। भारत जैसे संसदीय लोकतंत्र में सत्याग्रह की विधि को अपनाने का क्या औचित्य है ? सत्याग्रह के अन्तर्गत कई बार नागरिकों द्वारा उन कानूनों को जान-बूझकर तोड़ा जाता है, जिन्हें वे अन्यायपूर्ण समझते हैं इसलिए, अगर हम संवैधानिक विधि की व्याख्या कानून द्वारा मान्यता प्राप्त विधि के रूप में करते हैं, तो सत्याग्रह की विधि असंवैधानिक मालूम देती है। लेकिन सत्याग्रह के अन्य रूप भी हैं, जैसे, बन्द या हड़ताल।

अगर किसी मुद्दे पर अपनी असहमति या विरोध व्यक्त करने के लिए नागरिक स्वेच्छा से काम-काज बन्द कर देते हैं, तो इसमें असंवैधानिक कुछ भी नहीं है। सविनय अवज्ञा के अन्तर्गत सत्याग्रही द्वारा कानून को जरूर तोड़ा जाता है, लेकिन ऐसी स्थिति में भी सत्याग्रही उस कानून को तोड़ने की कानून द्वारा निर्धारित सजा भुगतने के लिए भी तैयार रहता है। इस तरह सत्याग्रही कानून को तोड़ते हुए भी सरकार के कानून बनाने और उसे लागू करने के अधिकार को चुनौती नहीं देता है, बल्कि वह स्वयं कष्ट सह कर किसी कानून-विशेष के अन्यायपूर्ण चरित्र की ओर अपनी सरकार और आम जनता का ध्यान आकर्षित करता है। इसलिए, **सत्याग्रह की विधि को हिंसा और आतंकवाद की तरह पूरी तरह असंवैधानिक भी नहीं कहा जा**

सकता है। यह सही है कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में संवैधानिक विधि का दायरा काफी व्यापक है, और राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आम तौर से कानूनी तरीकों को ही अपनाना चाहिए लेकिन सत्याग्रह तो एक अन्तिम औजार है। गाँधी और जयप्रकाश जैसे सत्याग्रह के समर्थक भी अन्तिम विकल्प के रूप में ही सत्याग्रह की विधि का समर्थन करते थे।

सत्याग्रह, विशेष कर सविनय अवज्ञा के औचित्य के बारे में गाँधी के विचार बिल्कुल स्पष्ट है। गाँधी के अनुसार आम नागरिकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके सहयोग के बिना सरकार काम नहीं कर सकती है। इसलिए, उन्हें सरकार के कल्याणकारी कार्यों में, अच्छे कानूनों का पालन करने में, और राज्य की रक्षा करने में सरकार के साथ पूरा सहयोग करना चाहिए।

लेकिन दूसरी ओर, अगर राज्य जनता का शोषण करे, उनके विकास में बाधा उत्पन्न करे, तो नागरिकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे अपना सहयोग वापस ले लें; और नैतिक दबाव एवं अहिंसक असहयोग द्वारा सरकार को सुधरने के लिए बाध्य करे। संक्षेप में, **सरकार द्वारा अनैतिक और अन्यायपूर्ण आचरण ही सत्याग्रह का औचित्य है।** सरकार द्वारा बनाए गए अनैतिक कानूनों का पालन करना नागरिकों का नैतिक दायित्व नहीं है।

सत्याग्रह की विधि सामाजिक-राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक उत्तम विधि है। यह सत्य और अहिंसा के मूल्यों पर आधारित एक उच्च आदर्श है। **लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संवैधानिक विधि और अन्तिम विकल्प के रूप में सविनय अवज्ञा का इस्तेमाल किया जाना चाहिए।** लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा और आतंकवाद के इस्तेमाल का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। जहाँ पर परिस्थितियाँ अलोकतांत्रिक हो, वहाँ पर भी जहाँ तक सम्भव हो, इस विधि का इस्तेमाल किया जाना चाहिए, जैसा कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में किया गया था।

सत्याग्रह के मूल में सामने वाले व्यक्ति की अच्छाई में विश्वास निहित है। इसलिए, सत्याग्रह की सफलता बहुत कुछ सामने वाले की अच्छाई पर निर्भर है। हिटलर और स्टालिन जैसे निर्मम और क्रूर तानाशाहों के सामने सत्याग्रह की विधि कितनी कारगर होगी, इसमें संदेह है।

चीन की राजधानी बेइजिंग के प्रमुख चौराहे पर जब लोकतंत्र-समर्थक छात्र-युवा चीनी सेना के टैंकों के आगे लेट गए, तो उन्हें निर्ममता पूर्वक टैंकों द्वारा कुचल दिया गया। इसी तरह, इसमें भी संदेह है कि विदेशी आक्रमणकारी सेना के सामने सत्याग्रही क्रूर तानाशाहों या आक्रमणकारी सेनाओं की ''अन्तर्निहित मानवीय भावनाओं'' को जगाने के प्रयत्न में अपने जान की बलि चढ़ा दे। सेना का मुकाबला सेना के जरिए ही किया जाना चाहिए। लेकिन एक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह की विधि कारगर हो सकती है।

संदर्भ

1. Economics of Alternatives : Khadi and Village Industires : Shyam Mohan, Janki Prakashan, 2001
2. महात्माँ गाँधी का समाज दर्शनः महादेव प्रसाद, हरियाणा साहित्य अकादमी, 1973
3. समाज और राजनीति दर्शनः डॉ॰ रमेन्द्र, मोतीलाल बनारसी दास, 2003
4. गाँधीजी की देनः डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2008
5. महात्मा गाँधी का सामाजिक एवं आर्थिक दर्शनः डॉ॰ अनुराधा कुमारी, प्राच्य प्रकाशन, पटना, 2009
6. मेरी विचार यात्राः जयप्रकाश नारायण, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2004
7. नील-संघर्ष और गाँधीः ब्रजकिशोर सिंह, प्राच्य प्रकाशन, पटना, 2009

शोधार्थी, इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

गुलाम भारत के धार्मिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि

डॉ. रीता कुमारी

भारत में अंग्रेजों के पैर 1772 ई. में राजाराम मोहन राय के जन्म के एक वर्ष बाद जमे थे, जब भारत का प्रधान भाग अंग्रेजों के अधीन हो गया था और अधिकांश भारतीय नरेशों को लार्ड बेलेसली की सहकारी संधि मानने को विवश होना पड़ा था। इस सहकारी संधि के परिणामस्वरूप अकबर की आदर्शवादिता से जन्मा और हिन्दू-मुस्लिम सहयोग से पनपता मुगल साम्राज्य तथा भारतीय संस्कृति पतन के कगार पर आ गयी थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग पर टिका हुआ अकबर का आदर्शवाद औरंगजेब की कट्टरता का आघात न सह सका। वह ढह गया। औरंगजेब के पास न तो कोई सिद्धांत था और न कोई आदर्श ही।

यदि कोई आदर्श था तो अवसरवादिता और वैयक्तिक आत्मसेवा या अहंवाद। लेकिन औरंगजेब के समय तक उसका कट्टरपन मुसलमानों के पक्ष की तुष्टि के लिए समर्थ था और उसकी इस दृढ़ता से एक पक्ष ही दृढ़ रहा। परिणामतः इसके समय तक मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न न हो सका। फिर भी, अकबर के सामान्य आदर्शवाद की क्रियात्मकता न रही और जन-जीवन अधिकांशतः परम्पराबद्ध हो गया और अल्पांश में विशिष्ट व्यक्ति की अहंभावना द्वारा संचालित मुगल दरबार की तड़क-भड़क और विलासता ने भी इस अहंभावना को उकसाया। विलासता का अर्थ ही है सत्ता, धन और जीवन का, आनन्द का भोग। इसमें नव-निर्माण की अपेक्षा, निर्मित वस्तु की सजावट की ओर अधिक ध्यान जाता है। जन-जीवन को सुखी बनाने के स्थान में, जीवन को अधिक संस्कृत बनाने का प्रयास होता है।

परिणाम यह होता है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण जन-साधारण तो पीछे रह जाता है और कुछ विशिष्ट व्यक्ति, कुछ दिशाओं में अधिक संस्कृत और शिष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप उन विशिष्ट व्यक्तियों या वर्गों का साधारण सांस्कृतिक जीवन से सम्पर्क छूट जाता है। सामान्य जनगण सभ्यता के प्रतिमानों से वंचित रह जाता है और वह शिष्ट समुदाय से उदासीन हो जाता है। इस प्रकार केवल हवाई आधार पर स्थित संस्कृति किसी दूसरी सभ्यता के वेग को सहन करने में असमर्थ प्रमाणित होती है।

इस तरह, औरंगजेब की मृत्यु के साथ घोर अहंवाद और अवसरवादिता का फैलाव हुआ। उत्तरदायित्व की भावना से दुर्बल होने के कारण और कर्त्तव्य के अभाव में, व्यक्ति की शक्ति जीवन के आनन्दोपभोग और अधिकार–प्राप्ति में लग गई। इस प्रकार समाज में आपसी संघर्ष की शुरूआत हुई। इसके साथ ही समाज के शरीर में नाश का विष भी व्याप्त हो गया। अतः सामान्य उद्देश्य और उत्तरदायित्व से हीन समाज में, व्यक्ति ही सब कुछ है और उसकी अपनी भावनाओं की सीमा के बाहर और कुछ भी नहीं। इसी से अपने में केन्द्रित शासक और दरबारी मनमाने खर्च में होड़ करने लगे। इस स्थिति में सब कुछ अनिश्चित-सा हो गया।

अतः शासक मनमाना लूटने-लुटाने और स्वयं लूट जाने में खप गये। इस मनोभावना का सहज आदर्श सौन्दर्य और प्रेम हो गया। नारी भौतिक सुख का साधन बन गई। वही अशान्ति और अनिश्चय के बीच एकमात्र उत्साह स्पंदित करने की नियामक बनी। इस प्रकार आदर्श जब व्यक्ति की समस्या और उपभोग तक सीमित रह गया तो उसकी क्रियात्मक शक्ति के लिए व्यावहारिक जगत् में कोई स्थान न रह गया। कला का शुद्ध सौन्दर्यलोक उसका क्षेत्र बना, वह भाव लोक के स्वप्न, प्रेम की मादकता और संगीत की तन्मयता में लीन हो गया।

19वीं सदी के आरंभिक दौर की सबसे बड़ी समस्या नैतिकता के अभाव की थी। सामान्य जनता से संस्कृति का सम्पर्क

टूट चुका था। देश की विविध जातियों और धार्मिक तत्वों को एक सूत्र में बांधनेवाले रचनात्मक तथा क्रियात्मक लक्ष्य का अभाव था और देश आर्थिक ह्रास तथा नैतिक अध:पतन के गर्त्त में गिर चुका था। भारत की अठाहरवीं सदी का नाश अनिवार्य था। इस नाश से आसान बनी परिस्थिति में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारत का भाग्य-सूत्र एक ऐसी नई विदेशी जाति के हाथ में आया जिसमें इस परिस्थिति को संभालने की क्षमता थी; क्योंकि ये विदेशी व्यावहारिक थे और समय की आवश्यकता को समझते थे। साथ ही ये जनता को लुभावनेवाले भौतिक तथा आर्थिक समृद्धि का दृश्य सामने ला रहे थे। इस जाति के प्रभुत्त्व के साथ, उसकी संस्कृति का प्रभुत्त्व भी बढ़ रहा था। फलत: उन्नीसवीं सदी के इस सांस्कृतिक उथल-पुथल से एक नये गुलाम भारत का पुन: जन्म हुआ।

गुलाम भारत परिवर्त्तन और ह्रास के प्रतीक के रूप में शुरू होता है। सबसे बड़ा परिवर्त्तन तो यह हुआ कि व्यापार के लिए आयी विदेशी जाति यहां के राजाओं के अधिकार छीनती हुई, शासक बन बैठी। इस राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण आर्थिक और सांस्कृतिक पतन का वेग और भी बढ़ गया। व्यापारी कम्पनियों ने शासन जमाना शुरू किया और देशी राज्यों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करने से उनका राजनीतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा। इसके साथ ही, भारतीय व्यापार से उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी बढ़ी जिसमें यहां के उद्योग-धंधों का नाश ही हो गया। इस प्रतिद्वन्द्विता में न ठहर सकने के कारण भारत कच्चा माल तैयार कर बाहर भेजने को बाध्य हुआ। इस प्रकार यूरोप की फैक्टरियों की आर्थिक दासता में भारत जा फँसा।

राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के फलस्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों के बहुत से अधिकार छिन गये। मुगलों के शासन काल में हिन्दुओं को अत्यन्त सम्मानपूर्ण उच्च पद दिया जाता था। देश के शासन और सैनिक दोनों विभागों में हिन्दुओं का प्रवेश था। लेकिन, अंग्रेज जाति के शासन-रूप में प्रतिष्ठित होने पर यह अधिकार छिन गया। दूसरी बात यह थी कि मुगल शासक भारत में बसने आये थे जिससे यहां के कला-कौशल को प्रोत्साहन मिला, लेकिन ब्रितानी यहां पैसा कमाने आये थे और उनका ध्येय पुन: अपने देश को लौट जाना था।

अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय समाज के उत्तरदायित्व का स्वरूप अधिकतर कुल, जाति और ग्राम-पंचायत तक सीमित था। गांव अपने में पूर्ण और आत्मनिर्भर थे। भारतीय समाज का आधार कृषि प्रधान था जिसपर शासन और शासकों के परिवर्तन का प्रभाव न पड़ता था। एक ओर युद्ध होता था और दूसरी ओर हल चला करता था। लेकिन, अंग्रेजों ने शासन का स्वरूप ही बदल दिया। राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के साथ-साथ आर्थिक दासता की बेड़ी भी इसके पांव में पड़ गई। उसकी नीति से भारत के मध्यम वर्ग का व्यापार छिन कर, अंग्रेज जाति की ऐजेंसियों के हाथ में चला गया और भारत के असली मध्यम वर्ग का उन्मूलन हो गया।

अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित व्यापारिक, आर्थिक और भूमि संबंधी नीतियों से बड़ी विषमता उत्पन्न हो गई। इस बदलाव के कारण इन क्षेत्रों में ऐसे व्यक्ति आये जो पहले से चले आ रहे वर्गों के उत्तराधिकारी न थे। धीरे-धीरे ऐसे वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो परम्परा से प्राप्त सच्चे मध्य वर्ग से बहुत दूर था। इस वर्ग का जन्म ब्रिटिश जाति की कृपा से हुआ था। फलत: वह इस नवीन जाति की ओर जितना झुका था और उसकी कृपा-कोर का जितना अभिलाषी था उतना ही अधिक यह भारतीयता से अपरिचित था। सांस्कृतिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन का महत्व इस खोखले मध्यवर्ग की उत्पति में था जिसका कि देश के आर्थिक, सामाजिक जीवन के विकास में कुछ भी योग नहीं था जो देश की सामान्य जनता और जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर, अपने घेरे में नौकरी पेशा बना बैठा था।

अठाहरवीं शताब्दी तक भारत शास्त्रों से शासित था। व्यक्ति के लिए कर्मकांड का पालन आवश्यक था। समाज धर्ममूलक था। आदर्शवादिता, आध्यात्मिकता और पारलौकिकता भारतीयता मानी जाती थी। उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज का यह स्वरूप स्थिर न रह सका। मध्यवर्ग की निराशा और अभावों के कारण तथा शास्त्र-सम्मत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों के अभाव से एक संकट का जन्म हुआ। यूरोपीय संस्कृति विज्ञान का सहारा लेकर बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी और दस्तकारी तथा हस्तलाघव पर आश्रित भारतीय संस्कृति इसकी प्रतिद्वन्द्विता में नहीं ठहर रही थी। विज्ञान की उन्नति ने वास्तविक को अधिक तर्क और विवेचनशील बना दिया और मनुष्य अपने को सबसे ऊपर और अलग मानने लगा। व्यक्तिवाद की धारा धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के राजनीतिक विधानों में प्रवृष्ट हुई। लेकिन भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का अधिक महत्त्व न था।

वह समाज का अंग था। उसकी अलग सत्ता का अधिक मूल्य न था। उसके लिए सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु थी, कुल और अपनी जाति। इस प्रकार, एक ओर व्यक्ति प्रधान था और दूसरी ओर जाति। यूरोपीय अधिकारों पर बल देते थे; किन्तु, भारतीय अधिकार से अधिक कर्तव्य पर जोर देते थे।

इस प्रकार, एक ओर व्यक्ति केन्द्र में था और दूसरी ओर जाति। एक ओर अधिकार, दूसरी ओर कर्त्तव्य। एक ओर भौतिकतावाद और दूसरी ओर आध्यात्मवाद। एक ओर विज्ञानवाद था तो दूसरी ओर मनुष्य के हाथों की शक्ति। इस प्रकार एक ही देश में दो धाराएं एक बिन्दु पर मिल रही थीं। ये दोनों विभिन्न संस्कृतियां एक दूसरे की पूरक बन सकती थीं; लेकिन ऐसा न हो सका। क्योंकि यह दो विभिन्न धाराओं की टक्कर थी जिसकी सबसे पहली घटना नन्दकुमार की फाँसी थी। कम्पनी के शासन के लिए 'रेगुलेटिंग ऐक्ट' के माध्यम से भारत में पश्चिमी व्यवस्था का न्यायालय जिसमें विधि का शासन, विधि की समानता और नयी शिक्षा व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था–जाति और कुल की जगह जहां व्यक्ति की मर्यादा स्थापित करने की बात थी–ब्रिटिश न्याय व्यवस्था द्वारा नन्द कुमार की फांसी की घोषणा के विरूद्ध कलकत्ता में दंगा इसलिए हुआ कि ब्राह्मण को सामान्य नागरिक के समान न्यायालय में बुलाया गया था।

स्पष्टत: यह सामाजिक संघर्ष परम्परावादी सामन्ती भारतीय समाज और सुधार, पुनर्जागरण एवं औद्योगिक व्यवस्था सम्पन्न ब्रिटिश समाज के बीच था। अंग्रेज भारत में लुटेरे बनकर आये थे। इसीलिए वे भारतीयों को बर्बर और जंगली समझते हुए आदर और सम्मान देने में असमर्थ थे। इसका कारण था अंग्रेज जाति का भारतीय संस्कृति से परिचय उच्च विद्वान और विचारशील व्यक्तियों द्वारा नहीं हुआ वरन् भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिक क्षेत्र के बीच हुआ और राजनीतिक क्षेत्र में दोनों ओर ऐसे व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती। दोनों ओर राजनीतिक दाव-पेंच में पटु लोग थे, जिनका जरा भी ध्यान सामान्य जनगण के प्रति न था। इसलिए, शासक जाति अपनी बेईमानी और बुराइयों को सारी संस्कृति की विशेषता बताने लगी।

राजनीतिक पराजय के कारण भारतीयों में हीन भावना का जन्म हुआ। एक ओर प्राचीनता के पोषकों ने योरोपीय संस्कृति से अपना अलगाव दिखलाया तो दूसरी ओर, प्राचीनता के विरोधियों ने चाटुकारिता प्रदर्शित कर अंग्रेजों के आदर का पात्र बनने का प्रयास किया। यह दूसरा वर्ग नवीन मध्यवर्ग का था जिनकी कोटियां अंग्रेजों की कृपा से मिल रही थी, जो भारतीयता के मूल स्रोत से अलग था और इसकी विशेषता थी अपने समाज, धर्म और संस्कृति की पूर्ण अनभिज्ञता तथा योरोपीय संस्कृति की अंधभक्ति। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ने इस वर्ग पर अंग्रेजियत और मानसिक दासता का रंग और गहरा कर दिया। उनकी शिक्षा का उद्देश्य था कि भारतीय क्लर्क बनें।

स्वतंत्रता की भावना उनमें नहीं जगे। वह अंग्रेजों के सुझाए रास्ते पर चलें और उनको अपना गुरू मान लें। फलत: ऐसी शिक्षा के रोग से हम अपने को बचा नहीं सके। युवक वर्ग ने अपने को भारतीय समाज और परम्परा से अलग कर हंसते हुए योरोपीय सांस्कृतिक दासता की बेड़ी पहन ली। ऐसी स्थिति में भारतीय समाज के सामने बड़ी विषम समस्या उपस्थिति हो गई। अंग्रेजों को गुरू माननेवाली युवा पीढ़ी की नजरों में प्रत्येक भारतीय वस्तु घृणित थी। यदि उनके अंग्रेज साहब चर्च को जाते थे तो वे भी वैसा ही करते थे। यदि उनके साहब स्वतंत्र विचार रखते थे, तो वे भी वैसा ही करते थे। उन्होंने उनकी वेषभूषा अपनाई, उनसे धूम्रपान सीखा। उनके मांस भक्षण और मदिरा सेवन की रीति को भी। यहीं से हमने भारत में एक नकलची पीढ़ी, जो अंधभक्ति में जन्मी और बाद में चलकर लंगड़ी हो गई, को पनपते देखा।

भारत पर अंग्रेजों का जो असर हुआ उसमें ईसाईत का प्रचार भी एक कारण था। 1757 में पलासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय के बाद गिरजाघर के दबाव के फलस्वरूप ब्रिटिश संसद को 'अपनी प्रजा' के नैतिक सुधार में पहल करने का वचन देना पड़ा। यह पहल उन्हें ईसाई मिशनरियों की सहायता से करनी थी। इस नीति ने भारत में मिशनरियों के आन्दोलन को नया बल प्रदान किया। शासक वर्ग ने देखा कि ईसाई धर्म के माध्यम से वे भारत के निवासियों में साम्राज्य के प्रति आस्था और सेवा की भावना को बढ़ा सकते हैं। फलत: भारतीय जनता के मन को जीतने के लिए उन्होंने ईसाई मिशनरियों के क्रिया-कलापों को प्रोत्साहित किया। उनकी मदद के लिए बड़ी-बड़ी धनराशियाँ दी गयीं। धीरे-धीरे ईसाइयों को हिन्दुओं और मुसलमानों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा और उन्हें विशेष रियायतें दी जाने लगीं। जिन सरकारी कर्मचारियों ने ईसाई धर्म को अपनाया, उनकी

पदोन्नति कर दी गयी। इस सबसे, स्वभावत: ही, भारत की जनता की, विशेषत: हिन्दुओं और मुसलमानों की, धार्मिक भावनाओं को आघात पहुंचा। ब्रिटिश शासकों ने कदाचित यह भी सोचा होगा कि भारत में ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देने की नीति से ब्रिटिश जनता के बीच उनकी लोकप्रियता बढ़ जायेगी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स के अध्यक्ष, मैंगल्स ने 1857 में ब्रिटिश संसद में कहा:

''भाग्य ने इंग्लैंड को हिन्दुस्तान का विस्तृत साम्राज्य सौंपा है, ताकि ईसा का झण्डा विजयोल्लास से भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फहराता रहे। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए कि समूचे भारत को ईसाई बनाने के काम में उस देश में किसी तरह का विलम्ब न होने पाये।''[1]

मुम्बई के एक ब्रिटिश प्रशासक ने टिप्पणी की थी कि ब्रिटिश शासन को भारत में सुदृढ़ बनाने में मिशनरियों ने जो भूमिका अदा की है, वह प्रशासन के फौजी अफसरों, न्यायाधीशों और गर्वनरों की सेवाओं से कहीं अधिक मूल्यवान है। बंगाल के गवर्नर सर चार्ल्स इलियट ने भारत में अंग्रेजों की हुकूमत को न्यायसंगत सिद्ध करने में मिशनरियों ने जो गैर-सरकारी और मान्यतारहित कार्य किया, उसकी भूरि-भूरि सराहना की। भारत में हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों के बीच वैमनस्य पैदा करने की जानबूझकर कोशिशें की गयीं।

मिशनरियों को प्रोत्साहन देने की नीति के साथ-साथ ऐसी न्याय संहिताएं जारी की गई जिनका उद्देश्य जाति-भेदों की जड़ें मजबूत करना, अंध-विश्वासों और दकियानूसी रीति-रिवाजों को मजबूत करना था। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग कानून और संहिताएं बनी और जारी रखी गयीं। सड़े-गले रीति-रिवाजों और नष्टप्राय सामाजिक अंधविश्वासों को न्यायिक अनुशासन के द्वारा बनाये रखने की चेष्टाएं की गई। भारतीयों के प्रति आम तौर से घृणा का रूख अपनाया जाता।[2]

किन्तु सरकारी आदेशों और न्याय संहिताओं में वर्णित इन कानूनों के बावजूद मिशनरियों ने जिस जोश-खरोश के साथ जाति-प्रथा के विरूद्ध आम तौर से, और अस्पृश्यता एवं अछूतपन के विरुद्ध खास तौर से, साथ ही मूर्त्तिपूजा, बाल-विवाह तथा सती-प्रथा और अन्य धार्मिक रीति-रिवाजों के विरूद्ध अपना आन्दोलन चलाया, उससे भारत की जनता की सामाजिक चेतना में जागृति पैदा हुई। इस तरह, विलियम कैरे तथा अन्य विद्वानों द्वारा संचालित मिशनरियों ने, बहुत से हिन्दू और मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित किया, जो ईसाई धर्म को स्वीकार करने के लिए जल्द ही तैयार हो गये। अपने कार्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बहुत सी मिशनरियों ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, पुस्तकें लिखीं, संस्कृत से कितने ही धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद किया, भारत के इतिहास और संस्कृति पर अन्वेषण कार्य किया और जनता की सेवा के उद्देश्य से आधुनिक ढ़ंग के स्कूल और अस्पताल खोले। यद्यपि, उनका इस प्रकार की शिक्षा संबंधी और सामाजिक कार्य प्राय: ही ईसाई धर्म के प्रचार के साथ लगा-बंधा रहता था, तो भी उनके कार्य के सकरात्मक महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं आंका जा सकता।[3]

किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि भारत में प्रारंभिक दिनों में आये मुसलमानों की तरह ईसाई भी अपने आपको उस समय प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों के सांचे में ढालने लगे। ईसाई धर्म ने भी, किसी हद तक जाति प्रथा के सामने घुटने टेक दिये और अनेक हिन्दू आचारों और रीति-रिवाजों को अपना लिया। हिन्दुओं में प्रचलित नीची जातियों के बीच के भेद-भाव, लोगों के ईसाई धर्म अपना लेने पर भी ज्यों के त्यों कायम रहते थे।

अंग्रेजों के सम्पर्क से धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति की भावना और कार्य कारण संबंध तथा विकास-क्रम की वैज्ञानिकता को तो देश में स्वीकार करने और अपनी संस्कृति तथा परम्परा से एक दम विच्छिन्न होने के लिए देश तैयार नहीं था। इसीलिए, भारतीय राष्ट्रीयता में धर्म का पुट या सम्प्रदायों का प्रभाव बचा रहा।

भारत में सबसे पहले आने वाले ईसाई, जो आज से करीब सत्रह सौ साल पहले यहां आये थे, रंग-ढंग में भारतीय बन गये जैसा कि उनेक वंशज, सीरियन ईसाई, आज भी हैं। लेकिन करीब दो सौ साल पूर्व आनेवाले ईसाई पादरियों-मिशनरियों तथा उनके द्वारा बनाये जाने वाली मिशन-संस्थाओं ने भारतीय ईसाइयों के जीवन में एक नवीन और अस्वास्थ्यकर तत्व उत्पन्न

कर दिया। अब वे इन विदेशी मिशनरियों के प्रभाव में रहने, सोचने और काम करने लगे, जिनके कारण उन्हें आर्थिक संरक्षण और सामाजिक सत्ता प्राप्त हुए थी। उनसे भारतीय ईसाइयों को अपनी हिन्दू-विरोधी के बदले संभ्रान्त धार्मिक चोंगे प्राप्त हुए। इसके साथ-साथ उन्होंने प्रत्येक विदेशी चीज की पूजा करना और प्रत्येक भारतीय वस्तु को जंगली मानकर घृणा करना भी सीखा।

इसी सन्दर्भ में, विलियम कैरी-जैसे अंग्रेज मिशनरी नेता ने इस नीति का प्रतिपादन करते हुए लिखा था– ''ईसाई बनाने के लिए भारतीयों को पाश्चात्य जीवन-क्रम में ढालो।''[4] इस तरह यदि भारत के सभी पश्चिमी प्रणाली ग्रहण करने वाले भारतीय ईसाई बपतिस्मों के शिकार नहीं हुए तो कम-से-कम भारतीय ईसाई तो पश्चिमी रंग में रंग ही गये। जब भारतीय ईसाइयों पर वैदेशिक मिशनरियों द्वारा जोर डलवाया जाता था कि वे अपना गला घोंटकर मिशनरियों की उपस्थिति में यह घोषणा करें कि ब्रिटिश राज्य भारत में ईश्वर का वरदान है, कि अपनी प्रत्यक्ष असमानता और धार्मिक तानाशाही के साथ भी वे भगवान के भेजे हुए दूत हैं, कि भारतीय संस्कृति शैतानी है, कि विदेशी नेकटाई से लेकर अमेरी की घोषणा तक सब कुछ सर्वथा निर्दोष है तो फिर यह घोर नैतिक पतन से किसी भी हालत में कम नहीं था। जाहिर है कि ऐसे वक्तव्य दस में से नौ तो केवल मिशन की नौकरी प्राप्त करने या आर्थिक सुरक्षा और लाभ के लिए या मिशनरियों की कृपा प्राप्त करने के लिए ही दिये जाते थे। श्री हजूरी मिशनरी, जो मिशन के नौकर होने के साथ ब्रिटिश सरकार की भी सच्ची वफादारी करते थे, अपने अधिकारियों द्वारा निर्णीत मार्ग की गलतियां और भूलें बताने में असमर्थ थे। परिणामत: गलतियों पर गलतियां होती गई– कोई देखनेवाला नहीं था।

ईसाई मिशनरी और धर्मप्रचारकों ने प्राय: अपने द्वारा ईसाई बनाये गये अनुयायियों को ब्रिटिश सरकार की बफादार प्रजा या पिट्ठू सिद्ध करना चाहा था, अत: उनकी मध्यस्थता में भारतीय ईसाइयों ने ब्रिटिश शासकों का संरक्षण खोजा और पाया। 1857 ई. के भारतीय विद्रोह में अंग्रेजों की मदद करने के परिणामस्वरूप भारतीय ईसाई समाज एवं मिशनरी उद्योग का मूल्य विदेशी शासकों की निगाह में इसी कारण बहुत ज्यादा बढ़ गया था। इसके कुछ ही दिनों के बाद हिन्दू बहुमत के विरुद्ध 'संरक्षण' मांगने के लिए मुसलमानों और ईसाइयों को खुल्लमखुल्ला भड़काया गया और इस तरह अंग्रेजों के हाथ में एक जबर्दस्त तुरूप का पत्ता आ गया। इसी समय से लेकर भारत की आजादी के दिन तक एक जाति के विरुद्ध दूसरी जाति को उभाड़ते रहने की साम्राज्यवादी चालों को सहज ही समझा जा सकता है।[5]

इस चालों के बावजूद स्कूलों और अस्पतालों के प्रसार तथा रेल-यात्रा की अवश्यकताओं से विभिन्न जातियों के भारतीय स्त्री-पुरुषों को इन्सान की हैसियत से परस्पर सम्पर्क स्थापित करने को विवश होना पड़ा। सरकारी आफिसों में साथ काम करने और नये शहरों में साथ-साथ रहने की मजबूरियों ने हिन्दुओं को जाति-प्रथा और अपने-अपने दकियानूसी धार्मिक विश्वासों में संशोधन करने के लिए बाध्य किया। इसके अतिरिक्त अब कॉलेजों से हजारों ऐसे हिन्दू शिक्षित होकर निकल रहे थे, जो सामाजिक न्याय की पाश्चात्य विचारधारा की तीव्र मदिरा का स्वाद ले चुके थे। एक मौन क्रान्ति आरम्भ हो चुकी थी, जो भारतीय चेतना को एक नयी राष्ट्रीयता चेतना की मांगों से प्रभावित कर रही थी। हिन्दू समाज की दकियानूसी संगठन-प्रणाली की तीव्र आलोचना करनेवाले ब्रह्म समाज का अबतक जन्म हो चुका था और इसके कुछ ही दिनों बाद आर्यसमाज भी अपने प्रबल व्यंग-प्रहार को लेकर इस रूढ़िवादी धारा के विरुद्ध मैदान में आ उठा था। इसी पृष्ठभूमि में भारतीय सामाजिक जीवन में धार्मिक पुनरूत्थानवाद की लहर और सामाजिक सुधार के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है।

संदर्भ

1. के. दामोदरन– भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 361
2. वही, पृ. 354।
3. वही, पृ. 355।
4. भारत का भाग्य, सीरिल मोदक, पृ. 79
5. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा 368

वर्ण व्यवस्था, दास प्रथा और ब्राह्मणवाद

डा. शाहीन अख्तर

देश के कुछ कबीली इलाकों में अब तक मौजूद भारतीय आदिम समाजों के अध्ययन से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज की प्रारम्भिक अवस्था में न तो वर्ग-विभाजन था, न हीं राज्य का अस्तित्व था। उस काल के साहित्य से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। उदाहरण के लिए, महाभारत में ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें साफ-साफ कहा गया है कि आरम्भिक दशा में भारतीय समाज में न तो शासक था और न शासित, न उत्पीड़क था और न उत्पीड़ित। शान्ति पर्व में उस समय की दशा का वर्णन भीष्म इन शब्दों में करते हैं:

''उस समय कृल युग में न तो राज्य था न राजा था, न दंड विधान था और न दंड देनेवाला था। सब मनुष्य एक-दूसरे की धर्म के आधार पर रक्षा करते थे।[1]''

प्राचीन आर्यों की जीवन-प्रणाली के बारे में, उनके सामाजिक सम्बंधों और नैतिक व्यवस्था के बारे में, श्रम और परिवार के सम्बंधों पर उनके दृष्टिकोण के बारे में वेदों, शिलालेखों, मूर्तिओं और प्रतिमाओं, साहित्यिक कृतियों और वैदिक काल की विधि-संहिताओं से प्रकाश पड़ता हैं। इनसे पता चलता है कि प्राचीनतम काल में आर्य, गणों अथवा कबीलों में संगठित थे। गण की सदस्यता मूलत: क्षेत्रीय सम्बंधों से नहीं, बल्कि पारस्परिक सम्बंधों अथवा रक्त सम्बंधों से निर्धारित होती थी। यह विश्वास किया जाता था कि गण के सभी सदस्य एक हीं पूर्वज के वंशज हैं और ये सामूहिक जीवन-प्रणाली से आबद्ध हैं। गायें, बकरियाँ तथा खेतीबारी से सम्बद्ध अन्य पशु सामूहिक सम्पत्ति होते थे।

समान स्वामित्व के अन्तर्गत भूमि की जोताई और बोवाई साथ-साथ होती थी। पशुओं को चराने के लिए सामूहिक चरागाह थे और उनको बांधने के बाड़े भी सामूहिक थे। अभी वर्ग-विभाजन नहीं हुआ था। अत: सभी वयस्क सदस्य, पुरूषों तथा स्त्रियों को समान अधिकार प्राप्त थे। समाज के सभी सैन्य सम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्रिया-कलाप परिषदों के गिर्द केन्द्रित थे। इन परिषदों को सभा, विदत, समिति इत्यादि कहते थे।

कार्यकुशल और बलिष्ठ व्यक्तियों को कबीलों का नेता चुना जाता था वे ही उत्पादन की प्रणाली और वितरण को निर्देशित करते थे। ये गणपति, विशपति, राजन इत्यादि नामों से सम्बोधित किये जाते थे। किन्तु उस समय राजा अथवा जमींदार नहीं थे। समाज के सभी सदस्य समान थे।

किन्तु श्रम-विभाजन, विशेषीकरण और विनिमय के फलस्वरूप सामूहिक उत्पादन और सामूहिक स्वामित्व पर आधारित समाजिक व्यवस्था टूटने लगी। उत्पादन के यंत्रों का अपहरण किया जाने लगा। यह अपहरण समाज के अधिक शक्तिशाली और जोर-जबर्दस्ती करनेवाले लोग करते थे। वे इन चीजों को अपनी निजी सम्पति बना लेते थे। सम्पति और सत्ता धीरे-धीरे चुने हुए नेताओं और पुरोहितों के हाथों के केन्द्रित होने लगी। उन्होंने दूसरों के श्रम का शोषण करना और अपने लिए अधिकाधिक सम्पत्ति का संचय करना शुरू किया। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की व्यवस्था ने रूप लेना शुरू किया और 'धनी' तथा 'निर्धन' का भेद पैदा हुआ। जो 'निर्धन' थे उन्हें 'धनी' लोगों का हुक्म बजा लाना पड़ता था।

इन भौतिक परिस्थितियों ने चातुर्वैर्य व्यवस्था को जन्म दिया। वर्ण का शब्दिक अर्थ है रंग। कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि प्राचीन आर्य चूंकि अपने रंग के प्रति अत्याधिक सचेत थे और उस रक्त का भारत के आदिवासियों के रक्त से मिश्रण नहीं होने देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने समाज को रंग के आधार पर विभाजित किया और इसी विभाजन के बाद में कार्यात्मक गुणों पर आधारित विभाजन का रूप धारण कर लिया। किन्तु यह तर्क तब सही होता जब केवल दो वर्ण होते– आर्य और

अनार्य। किन्तु हम देखते हैं कि स्वयं आर्य चार वर्णो में विभाजित थे। प्राचीन भारतीय समाज यूनान और रोम के समाज की तरह दासों और दास पतियों में विभाजित नहीं था। यह चार वर्गो में विभाजित था जिन्हें वर्ण कहा जाता था– ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शुद्र। चातुर्वर्ण्य, अथवा समाज का चार वर्णो में विभाजन, भारतीय दास प्रथा का एक विशिष्ट रूप था।

वर्ण व्यवस्था का उदय समाज की आदिम गण व्यवस्था की उत्तरकालीन अवस्था में हुआ। गण व्यवस्था के अन्तर्गत सरदार (राजा) और पुरोहित चुने जाते थे। कालांतर में इसका स्थान वंशागत अधिकार ने ले लिया। परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने काफी लम्बा समय लिया। यहां यह ध्यान रखने की जरूरत है कि ऋग्वेद के आरम्भिक मंडलों में समाज के वर्णो में विभाजन का कोई उल्लेख नहीं है। वर्ण व्यवस्था का मूल उल्लेख हमें एक श्लोक में मिलता है जो ऋग्वेद के आखिरी हिस्से में, जिसे पुरूष सूक्त कहते हैं, अर्थात दसवें खंड में, है। इस सूक्त में कार्यात्मक विभाजन के आधार पर समाज के ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में विभाजन का हवाला मिलता है। पुरूष सूक्त में वर्णित चार वर्ण श्रम के ऐसे विभाजन के द्योतक है जिन्हें सामाजिक जीवन के चार स्वाभाविक संघटक कहा जाने लगा।

प्रारंम्भिक वर्ण केवल विशेषीकरण और श्रम के विभाजन के द्योतक थे, वर्ग-विभाजन के नहीं। सामाजिक विकास की काफी बाद की दशा में ही चातुर्वर्ण्य वर्गो में समाज के विभाजन का द्योतक बना। अर्थात, उस दशा में जब उत्पादक शक्तियों में और अधिक वृद्धि हो गयी थी और इसके फलस्वरूप आर्थिक ढांचे में भी परिवर्तन हुए थे। समाज के एक छोटे से हिस्से के हाथों में धन और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण से वर्गो का उदय हुआ और ये वर्ण विभिन्न वर्गो में रूपान्तरित हो गये। इन परिस्थियों में वर्ण व्यवस्था दास प्रथा की सूचक बन गयी। यही कारण है कि हम सामाजिक टकरावों, वर्ग संघर्षो धनी और निर्धन जनों के बीच तथा शोषकों और शोषितों के बीच टक्करों का मनुस्मृति, नारदस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो उल्लेख पाते हैं, किन्तु प्राचीनतम वैदिक साहित्य में नहीं।

प्रत्येक वर्ण के अपने विशिष्ट कर्तव्य और दायित्व थे। अधिकारों और कर्तव्यों के बीच का यह विभाजन ही वर्गो के बीच सम्बन्धों को निर्देशित करता था और समग्र रूप से सामाजिक ढांचे को स्थिरता प्रदान करता था। ब्राह्मणों को अत्यन्त सम्माननीय और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

वे हीं सामाजिक रीति-रिवाजों और कर्मकांडों के संरक्षक थे। वेदों का अध्ययन और अध्यापन, धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांडों को कराना, यज्ञ कराना, पुरस्कार तथा भेंट स्वीकृत करना- ब्राह्मणों के लिए ये हीं कार्य निर्धारित थे। वे देवताओं के समकक्ष माने जाते थे; वे पृथ्वीवासी देवता (भूसूर) थे। उनके अधिकार इतने पवित्र माने जाते थे कि कालांतर में वे दूसरों के श्रम का शोषण करने, ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने और अपने आपको मालामाल करने के लिए आजाद हो गये- वह भी देवताओं के नाम पर। क्षत्रियों को जनता की देखभाल और उसकी रक्षा करनी पड़ती थी। उन्हें वेदों को भी पढ़ना होता था और पुरस्कार स्वीकार करने होते थे। व्यापार, पशुपालन और खेतीवारी का काम वैश्यों की जिम्मेदारी थी। इन तीनों वर्णो की सेवा-सुश्रूषा करना- वह भी बिना किसी प्रकार का असंतोष व्यक्त किये अथवा मीन-मेख निकाले शूद्रों का काम था।

इस प्रकार वर्णो में शूद्रों का स्थान सबसे नीचे था। ब्रह्मणों को तमाम सुविधाओं का लाभ उठाने की आजादी थी। वे सभी भौतिक सम्पदा और हर किस्म के ऐश-आराम का मजा लुटते थे। वे शूद्रों को छू तक नहीं सकते थे। यदि वे शुद्र को छू लें तो उनके स्वयं अपवित्र हो जाने का खतरा पैदा हो जाता था। शूद्रों को तो वेदों को पढ़ने या धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन करने तक की इजाजत नहीं थी। शूद्रों को धर्म की सीमा के बाहर रखा जाता था। समाज की समान सम्पति पर उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नही था। ये लोग पशुओं या घरेलू इस्तेमाल की चीजों की तरह हीं धनी वर्गो की 'निजी सम्पत्ति' होते थे।

वर्णाश्रम व्यवस्था में दृढ़ नैतिक अनुशासन और स्वधर्म पालन (अथवा अपने वर्ग कर्तव्यों को पूरा करने) की व्यवस्था थी। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उक्त बातों का ध्यान रखना पड़ता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुद्रों पर आश्रम-व्यवस्था लागू नहीं होती थी। उनका स्वधर्म बस दिन-रात खपते रहना और अन्त तक अपने स्वामी की सेवा करते रहना था।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्राचीन भारत की जनता के सभी अंगो पर लागू नहीं थी। ऐसे भी लोग थे जो इनमें से किसी वर्ण के अन्तर्गत नहीं आते थे। नीच श्रेणी के शूद्रों से भी नीचे ''नीच कबीले'' और ''नीच पेशे'' वाले-हीन जातीय और हीन शिप्पनी थे। ''नीच कबीले'' वालों में सम्भवत: शूद्रकार्य करनेवाले लोग, चिड़ीमार और गाड़ियाँ बनानेवाले आदिवासी कबीलों के लोग थे। ये लोग खानदानी दस्तकार थे। ''नीच पेशे'' करनेवालों में चट्टाईयाँ बनानेवाले, नाई, कुम्हार, जुलाहे और चर्मकार होते थे।[2] ब्राह्मण तथा समाज के अन्य समृद्ध अंग इनका भी शोषण करते थे। ग्राम समुदाय की प्रणाली छोटे-छोटे तथा बड़े संयुक्त परिवारों के समूह के मिलने से बनी थी।

यह प्रणाली समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ विद्यमान थी और भारतीय दास प्रथा की एक दूसरी विशिष्टता थी। जब समाज वर्गो में विभाजित हो गया और राजा लोग शक्ति सम्पन्न हो गये तब ग्रामों को अपनी पैदावार का एक निश्चित हिस्सा अनिवार्यत: उन को देना पड़ता था। यह हिस्सा, जो कर के रूप में दिया जाता था, अलग-अलग कालों में पैदावार के एक-चौथाई से लेकर छठे या उससे भी कम हिस्से तक होता था। राजा समूची भूमि का स्वामी माना जाता था। किन्तु, वास्तव में उसे सिर्फ कर वसूलने का अधिकार था।

निस्संदेह, दास प्रथा की बाद की मंजिल में; खास कर मौर्य शासकों के अन्तर्गत, स्वयं राजा कितने ही बड़े-बड़े खेतों का मालिक होता था। कौटिल्य ने खेतों की जोतने-बोने के लिए दासों अथवा मजदूरों को लगाने की हिदायत देते हुए शीताध्यक्षों की नियुक्ति की सिफारिश की थी। युद्ध में जीते गये क्षेत्र अपने आप राजा की सम्पति बन जाते थे। इस जमीन के एक हिस्से को वह ब्राह्माणों तथा राज्य के अन्य सेवको को बांट देता था।

भारतीय दास प्रथा की विशिष्टता यह थी कि गुलाम अधिकांशत: धनी परिवारों के घरेलू नौकरों की तरह काम करते थे। गुलाम औरतों को मकान की सफाई करना, पानी भरना और आटा पीसना जैसे घरेलू काम करने पड़ते थे। अधिक श्रमसाध्य काम, जैसे घरेलू इस्तेमाल के लिए सामान तैयार करना या खेतों में काम करना आदि, पुरूष गुलामों के काम थे।

मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है: वह जो युद्ध के समय बन्दी बनाया गया है (ध्वजाहृत), वह जिसने जीविका के लिए दासता स्वीकार की है (भक्त दास), वह जो मालिक के घर में ही पैदा हुआ है (गृहजा), वह जो खरीदा गया है (क्रीत), वह जो उपहार के रूप में मिला है (दातृम) वह जो पूर्वजों से विरासत में मिला है (पैतृक) और वह जो दंडित किये जाने के कारण दास बना है (दंड दास)[3]। किन्तु मनु के बाद आये नारद ने दासों के पंद्रह प्रकार गिनाये है: (मालिक के) धार में जन्मा, खरीदा गया, (उपहार रूप में) पाया गया, विरासत में पाया गया, अकाल के समय जिसे सहायता दी गयी थी, अपने ही विधिसम्मत रिश्तेदारों द्वारा गिरवी रखा गया, भारी कर्ज से मुक्त किया गया, युद्ध में बन्दी बनाया गया, जुए में जीता गया, ''मैं आपका दास हूँ'' कहकर आया हुआ, यतित्व से दिव्य-संदेश लाया हुआ, इकरारनामें के मुताबिक निश्चित अवधि के लिए दास बना हुआ, जीविका के लिए दासत्व स्वीकार करनेवाला, स्त्री दासी के साथ गुलाम बनाया गया, ऐसा दास जिसने स्वयं अपने को बेच दिया है[4]।

नारद के इस विस्तृत वर्गीकरण से पता चलता है कि उस समय तक जनता की कंगाली बहुत बढ़ गयी थी; मनु के समय की तुलना में ऋण-दासता, शोषण का एक अधिक महत्वपूर्ण अस्त्र बन गयी थी। अपने ऋण को चुका पाने में असमर्थ गरीब लोगों को, शोषित किसानों को, प्राय: हीं एक निश्चित अवधि के लिए महाजन के दास के रूप मे काम करना पड़ता था। अत्याधिक ऋण लेनेवाले लोगों को मनु ने भी दास बनाने की स्वीकृति दी है। ऋण लेनेवाले व्यक्ति के लिए, फिर वह ऋण देनेवाले व्यक्ति के ही वर्ण का हो अथवा उससे नीचे वर्ण का, आदेश था कि वह अपने श्रम से ऋण चुकाये। हाँ, ब्राह्मण कभी दास नहीं बन सकता था। किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, जो मनुस्मृति और नारदस्मृति दोनों के ही बाद की रचना है, न केवल शुद्रों और वैश्यों को ही वरन् अत्यन्त संकट के काल में ब्राह्मणों को भी दास बनाने की व्यवस्था है। नारद और कौटिल्य दोनों ही विस्तार से बताते हैं कि दासों को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, और किन परिस्थितियों में उन्हें मुक्त किया जा सकता है।

मनु के अनुसार ब्राह्मण स्वामी को वैध अधिकार था कि शूद्र या को नीजि संपत्ति को अपहृत कर ले। कारण यह कि शूद्र

या दास को नीजि संपत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं था।[5] आर. शर्मा ने एक दासी का उदाहरण दिया है। उसे केवल इसलिए शारीरिक दंड दिया गया था कि वह अपने द्वारा अर्जित की हुई रकम अपने मालिक को नहीं देती थी।[6]

प्रारंभिक दास प्रथावाले समाज के आर्यों का धर्म ब्राह्मणवाद कहलाया ब्राह्मणवाद ने ईसा पूर्व पहली सहस्त्राब्दि के पूर्वार्द्ध में, अर्थात ईसा पूर्व दसवीं और सातवीं शताब्दियों के मध्य, रूप ग्रहण किया और क्रमशः पुरोहितों के साहित्य में उसे विस्तार दिया गया, जैसे, वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा महाभारत आदि में। दास प्रथावाले समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों का (उसके क्षेत्रीय विभाजनों और वर्ग विभेदों सहित) वेदांगों और प्रारम्भिक धर्म-शास्त्रों ने निर्माण किया।

ब्राह्मणवाद प्राचीन भारत में दास प्रथा के आरम्भ काल के समाज का धर्म था। इसने राज्यों को सुदृढ़ बनाने और उन्हें दैवी शक्ति से अभिभूत करने में मदद दी। राजाओं की मदद के लिए यज्ञ, बलि एवं अन्य कर्मकाण्ड रचाये जाते थे। इनमें पुरोहित प्रधान भूमिका अदा करते थे। राज्य की अधिकार-शक्ति को बल पहुंचाने के लिए देवताओं की अनुकंपा की आराधना की जाती थी। राजा ईश्वर की इच्छा का मूर्त रूप घोषित किया गया था। यदि कोई शिशु भी राजा के पद पर आसीन कर दिया जाय, तो सब को उसकी आज्ञा माननी होती थी। जो लोग अनुशासन से विमुख होते थे उन्हें राजा को क्रोध पूर्णतः नष्ट कर देता था। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत शोषण को भी धार्मिक अधिकारों से विभूषित कर न्यायसंगत ठहराने की कोशिश की गयी थी।

ब्राह्मणवाद की मुख्य शिक्षा थी- अवैयक्तिक, शाश्वत, सर्वव्याप, सर्व-शक्तिमान ब्रह्म में विश्वास करो। किन्तु ब्राह्मणवाद केवल दर्शन मात्र नहीं था। दार्शनिक विचारों को प्रतिपादित करने के साथ ही उसने आदिम सर्वात्मवादी विश्वासों और कर्मकाणडों को पुनर्जीवित किया, उन्हें सुदृढ़ बनाया और उन्हें धार्मिक मतवादों में परिवर्तित कर दिया।

धर्म सामाजिक आचरण की धार्मिक, नैतिक अवधारणा थी। आम जनता के लिए कोई समान धर्म निर्दिष्ट नही था। शूद्र का धर्म ब्राह्मण के धर्म से भिन्न था। जैसा कि धर्मशास्त्रों में कहा गया था, धर्म ''चार वर्णों और चार आश्रमों से निर्मित सामाजिक व्यवस्थाओं की संघटक इकाईयों के अलग-अलग कर्त्तव्यों और दायित्वों का योग'' था। इन वर्णो, आश्रमों और कर्तव्यों की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था, क्योंकि ये सभी अति पवित्र थे। दूसरे शब्दों में यह कि ब्राह्मणों ने जनता को यह सीख दी कि इस लौकिक जीवन में जो पीड़ाएं और कष्ट तुम भोग रहे हो उनकी चिन्ता न करों, बस अपने स्वधर्म के पालन में संलग्न रहो। भगवद्गीता ने आह्वान किया कि, ''अपना कर्त्तव्य, फिर वह गौरवहीन ही क्यो न हो, दूसरे के अच्छे किये हुए काम से श्रेष्ठ है; अपने कर्त्तव्य के पालन में मृत्यु श्रेयस्कर है, दुसरे के लिए निर्दिष्ट कर्तव्यों को करना खतरे से भरपूर है।''

संदर्भ संकेत सूचीः

1. ने वै राज्यम् न राजासी च दण्डो न्न दण्डिनाः धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्।
2. राईस डैविड्सः बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 33-34
3. मनुस्मृति, आठ
   ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमों।
   पैत्रिको दण्डदासश्य सप्ततैते दासयोनयः।।415।।
4. नारदस्मृति, पाँच, 26.2
5. आर. शर्माः शूद्राज इन एन्शियेन्ट इंडिया, पृ. 108
6. के. एम. शरणः लेवर इन एन्शियेन्ट इंडियाा पृ. 26

सहायक शिक्षक

उच्च माध्यमिक विद्यालय, पावापुरी, (बिहार)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में किसान आंदोलन की भूमिका: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. अब्बास ज़फर

परिचय

ब्रिटिश सरकार की नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रशासन एवं भूराजस्व प्रणाली में तेजी से परिवर्त्तन हुए और इन परिवर्त्तनों का सर्वाधिक असर कृषकों पर ही पड़ा। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप भारतीय किसानों की हैसियत सिर्फ काश्तकार, बंटाईदार या खेतीहर मजदूर की हो गई। उनकी कृषकीय प्रवृति और स्वभाव निरन्तर कृषि से विमुख होता गया और भूमि छोटे-छोटे अलाभकारी जोतों में विभक्त हो गई।

उच्च भूराजस्व की अदायगी के कारण कृषक महाजनों के चंगुल में फंसते जा रहे थे और उनके जमीन का स्थानान्तरण साहूकारों एवं सरकार की ओर हो रहा था। भारतीय कृषकों में व्यापक रूप से असंतोष, अशांति एवं विक्षुब्धता उत्पन्न की और इस शोषण से मुक्ति पाने के लिए किसानों ने भारी लगान वसूलने वाले जमींदारों, साहूकारों तथा ब्रिटिश सरकारों के खिलाफ आंदोलन किया। जो आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की महत्वपूर्ण एवं मजबूत आधार स्तम्भ बन गई।

अध्ययन उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में किसान आंदोलन की भूमिका: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखत इस प्रकार है।

(i) किसान आंदोलन के उदभव के कारणों का पता लगाना।

(ii) किसान आंदोलन से कौन-कौन से क्षेत्र प्रभावित हुए उसकी खोज करना।

(iii) ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक नीतियों की चर्चा एवं विभिन्न किसान विद्रोहो की चर्चा की गई है।

(iv) अंग्रेजी शासन काल के दौरान किसानों में आक्रामक प्रवृत्ति के क्या कारण थे उसकी जाँच करना।

(v) किसान आंदोलन का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिकाओं तथा महत्ता पर प्रकाश डाला जाएगा।

(vi) इस शोध-पत्र द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि राष्ट्रीय आंदोलन में किसान आंदोलन का योगदान कम न था।

(vii) 1930 के दशक में किसानों ने क्या भूमिका अदा की? उसकी जाँच किया गया है, तथा उसकी महत्ता को रेखांकित किया गया है।

(viii) सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा किसान आंदोलन की विशेषरूप से समीक्षा की गई है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन श्रोतों के तहत पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से सम्बन्धित प्राथमिक तथा द्वितीयक श्रोतों का समुचित उपयोग किया गया है। तो दूसरी ओर महत्वपूर्ण शोध पत्रिकाएँ, पेपर कटिंग, आदि का भी प्रयोग किया गया है।

दृष्टिकोण

विश्लेषण:

भारतीय किसान, जिनमें मध्यकाल के अन्त तक जरा भी आक्रामका प्रवृत्ति नहीं थी, अंग्रेजी शासन काल के दौरान उनमें आक्रामक सैनिक प्रवृत्तियाँ बड़ी तेजी से प्रकट होने लगी। सत्ता के पारम्परिक सम्बन्धों में जो परिवर्त्तन लाये गये थे उनके कारण कृषि व्यवस्था को अनेक प्रशासकीय परिवर्तनों से गुजरना पड़ा और ब्रिटिश नियमों के अन्तर्गत व्यवस्थित होना पड़ा। अब पूर्ववर्ती परिस्थितियों की तुलना में किसानों को अधिक शोषण होने लगा और किसान इसे चुपचाप बर्दाश्त न कर सके। फलत: भारतीय कृषकों में व्यापक रूप से अस्थिरता, अशांति एवं विक्षुब्धता उत्पन्न की और इस बहुआयामी शोषण से मुक्ति पाने के लिए किसानों ने भारी लगान वसूलने वाले जमींदारों, निर्दयी साहूकारों और जुल्म का पक्ष लेने वाले सरकारी अधिकारियों के विरूद्ध अपना आक्रोश व्यक्त किया।

कई बार उन्होंने स्थानीय स्तर पर सामूहिक संघर्ष किए तो कई बार छोटे-छोटे विद्रोह हुए। एक अनुमान के अनुसार समस्त ब्रिटिश शासन की अवधि में 77 कृषक विद्रोह हुए।

औपनिवेशिक शासन के पूर्व भी भारत में कृषक विद्रोह हुए थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान शासक वर्ग के खिलाफ अनेक किसान विद्रोह हुए। राज्य द्वारा अधिक भूराजस्व का निर्धारण, राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों का भ्रष्ट आचरण और कड़ा व्यवहार शासकों की धार्मिक नीति आदि कुछ कारणों का कृषकों पर ऐसा विनाशकारी असर नहीं पड़ा था। जबकि भारत में औपनिवेशिक शासन कायम होने के बाद जो शोषणकारी नीतियाँ अपनाई गई उनका भारतीय किसान एवं आदिवासियों पर काफी विनाशकारी प्रभाव पड़ा।

अत: औपनिवेशिक शासन के शोषण से तंग आकर अपनी रक्षा हेतु किसानों ने विद्रोह का सहारा लिया। एक बात ध्यान देने योग्य है कि औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जो कृषक विद्रोह हुए, उनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। ब्रिटिश शासन काल में कृषकों के विद्रोहों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) असैनिक अथवा पुर्नस्थापन विद्रोह के रूप में।

(ii) धार्मिक विद्रोह के रूप में।

(iii) विशुद्ध रूप से कृषक आंदोलन के रूप में।

पुनर्स्थापना स्वरूप कृषक विद्रोहों का मूल उद्देश्य अंग्रेजों का निष्कासन तथा पुरानी सरकार और कृषक सम्बन्धों को पुन: स्थपित करना होता था। ये विद्रोह अधिक भू-राजस्व आरोपण के विरूद्ध अंग्रेजों को निष्कासित करने के उद्देश्य से हुए थे ताकि पुरानी व्यवस्था स्थापित की जा सके। 1765 से 1857 की अवधि के मध्य इन विद्रोहों का नेतृत्व हिन्दू अथवा मुसलमान, छोटे शासकों,`राजाओं, नवाबों अथवा आदिवासी सरदारों ने किया था जिनका कृषक समुदाय और कुछ स्थानों पर सैनिकों ने पूर्ण समर्थन किया था। सर्वाधिक पुर्नस्थापन विद्रोह सन् 1857 का विद्रोह था जिसमें कृषकों व स्थानीय सैनिकों ने जमींदारों व स्थानीय शासकों को पूर्ण समर्थन दिया था।

बहाबी आंदोलन, बंगाल का फराजी आंदोलन और पंजाब के आंदोलन आदि धार्मिक स्वरूप के कृषक विद्रोह की कोटि में परिभाषित किए जा सकते है। इन आंदोलन का स्वरूप प्राय: धार्मिक मसीही होता था। इनका आरंभ धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों के रूप में होता था जो शीघ्र ही बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के नये जमींदारों, भूस्वामियों, महाजनों पर आक्रमण करके, कृषक असंतोष को अभिव्यक्त कर देते थे। इनका सामूहिक स्वरूप होता था और वे कृषक वर्ग के पूर्ण रूपांतर के अकांक्षी थे। उन्हें विश्वास था कि यह अकांक्षा अलौकिक अथवा दैविक साधनों से ही संभव होगी। सन् 1850 के उपरांत होने वाले कृषक विद्रोह यथार्थ में विशुद्ध रूप से कृषक आंदोलन थे। इन विद्रोह में कृषकों का बाहुल्य रहता था और कृषकों ने ही नेतृत्व प्रदान किया था। इन विद्रोहों का आरम्भ शांतिपूर्ण सामूहिक बहिष्कार अथवा मूल सुधार की मांग से होता था किन्तु इन मांगों की उपेक्षा होते देख अंत में यह प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की कार्यवाही में बदलकर उग्ररूप धारण कर लेती थी। सन् 1860 का बंगाल में नील कृषकों का विद्रोह, सन् 1875 का दक्षिण भारत के कृषकों का विद्रोह और सन् 1921 का मोपला

विद्रोह प्रमुख सामूहिक विद्रोह थे। इन विद्रोहों के माध्यम से कृषकों ने अपनी न्यायोचित मांगों के समर्थन में, स्थानीय जमींदारों और महाजनों, विदेशी बागान स्वामियों एवं भारत स्थित ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध सशस्त्र संघर्ष किया और इन सामूहिक विद्रोहों की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ भी रहीं।

20वीं शताब्दी के कृषक विद्रोह पिछली शताब्दी के विद्रोहों से अधिक व्यापक, प्रभावी, संगठित व सफल थे। इस परिवर्तन के सूत्र कृषक आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अन्योनाश्रय संबंधों में थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने अपना संघर्ष तीव्र करने के लिए सामाजिक आधार बढ़ाने की कोशिश के क्रम में किसानों से नजदीकियां स्थापित कीं और दूसरी ओर किसानों ने राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ने के लाभों को देखकर तन-मन-धन से उसे समर्थन देना प्रारंभ कर दिया।

1918 में गौरी शंकर मिश्र तथा इंद्र नारायण द्विवेदी ने उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया। इस कार्य में मदन मोहन मालवीय ने इन्हें सराहनीय योगदान प्रदान किया। 1919 के मध्य तक इसकी लगभग 500 शाखाएँ गठित की जा चुकी थी। किसान सभाओं के गठन से सम्बद्ध प्रमुख नेताओं में झिंगुरी सिंह, दुर्गापाल सिंह एवं बाबा रामचंद्र का नाम भी सम्मिलित है। जून 1920 में बाबा रामचंद्र ने जवाहर लाल नेहरू से इन गाँवों का दौरा करने का आग्रह किया। तत्पश्चात् नेहरू ने इस आग्रह को स्वीकार करते हुये इन गाँवों का दौरा किया तथा गाँववासियों से गहन सम्पर्क स्थापित किया।

राष्ट्रवादी नेताओं के मतभेद के अक्टूबर 1920 में 'अवध किसान सभा' का गठन किया गया। अवध किसान सभा ने किसानों से बेदखल जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। सभा ने इन नियमों का पालन न करने वाले किसानों का सामाजिक बहिष्कार करने तथा अपने विवादों को पंचायत के माध्यम से हल करने का आग्रह किसानों से किया। जनवरी 1921 में कुछ क्षेत्रों में स्थानीय नेताओं की गलतफहमी एवं आक्रोश के कारण किसान सभा आंदोलन ने हिंसक रूप अख्तियार कर लिया।

इस दौरान किसानों ने बाजारों घरों एवं अनाज की दुकानों पर धावा बोलकर उन्हें लूटा तथा पुलिस के साथ उनकी हिंसक झड़पें हुई। रायबरेली, फैजाबाद और सुल्तानपुर इन गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र थे। धीरे-धीरे सरकारी दमन के कारण आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। इसी बीच सरकार ने ह्अवध मालगुजारी रेंट संशोधन अधिनियमह पारित कर दिया। मार्च 1921 तक आंदोलन समाप्त हो गया।

1930 और 1940 के दशक में भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ किसान आंदोलन की आवृत्ति भी बहुत बढ़ गयी। इस चरण के आंदोलन को उत्प्रेरित करने वाले तात्कालिक घटनाक्रम में 1929-30 की विश्व्यापी आर्थिक मंदी का निर्धन कृषक वर्ग पर अत्यंत बुरा प्रभाव पड़ना तथा कांग्रेस द्वारा 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' के साथ एक बार फिर व्यापक जनाधार का आंदोलन छेड़ना।

इस आंदोलन ने देश के बहुत बड़े हिस्से में टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप ले लिया। इस चरण के किसान संघर्षों ने यद्यपि तात्कालिक तौर पर कुछ ज्यादा प्राप्ति नहीं किया तथापि उन्होंने एक ऐसा वातावरण अवश्य तैयार किया जिसके फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक कृषि सुधार हुये। इस चरण में किसानों की जो तात्कालिक मांगे थी, उनमें टैक्सों में कटौती, सामंतों की गैर-कानूनी वसूलियाँ और बेगार की समाप्ति, जमींदारों के अत्याचारों से मुक्ति, ऋण बोझ में कमी, गैर-कानूनी तरीकों से ली गयी भूमि की वापसी तथा किसानों की सुरक्षा आदि प्रमुख थी। खेतिहर मजदूरों की मांगे आंध्र प्रदेश और गुजरात के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के किसान आंदोलनों में गौण ही रही। वास्तव में ये आंदोलन, कृषि ढ़ाँचे में आमूलचूल परिवर्त्तन के लिए नहीं हुये बल्कि इनका उद्देश्य इस व्यवस्था के कुछ अत्यंत पीड़ादायक पहलुओं का अंत करना था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने युवा एवं जुझारू राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की एक पूरी पीढ़ी पैदा की। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन में ठहराव आया तब इन कायकर्त्ताओं ने अपनी राजनीतिक उर्जा, किसान एवं मजदूर आंदोलनों में लगा दी। फिर 1937 के चुनावों में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस एवं मजदूर आंदोलनों में लगा दी। अखिल भारतीय किसान कांग्रेसा सभा की स्थापना अप्रैल 1936 में लखनऊ में की गयी। स्वामी सहजानंद सरस्वती इस सभा के अध्यक्ष तथा एन0 जी0 रंगा सचिव चुने गये। इस सभा ने किसान घोषणा पत्र जारी किया तथा इंदुलाल याज्ञनिक के निर्देशन में एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। 1936

में अखिल भारतीय किसान सभा का सम्मेलन फैजपुर में आयोजित किया गया। 1937 के प्रांतीया चुनावों हेतु जारी किये गये कांग्रेसी घोषणा-पत्र के अनेक प्रावधान अखिल भारतीय किसान सभा के एजेंडे से प्रभावित थे। 1937-39 के मध्य किसान आंदोलनों की आवृत्ति बहुत बढ़ गयी। कांग्रेसी सरकारों के सहयोगात्मक रवैये के कारण किसानों ने तेजी से अपनी मांगे उठानी प्रारम्भ कर दीं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वामपंथियों की विपरीत धारा की राजनीति के कारण आंदोलन में कुछ ठहराव सा आ गया। परंतु 1945 के बाद पुनः कृषक आंदोलन होने लगे थे।

उपलब्धियाँ एवं निष्कर्षः

किसान आंदोलनों ने स्वाधीनता के उपरांत किए गये विभिन्न कृषि सुधारों के लिए एक अनुकूल वातावरण का निर्माण किया। उदाहरणार्थ जमींदारी प्रथा का उन्मूलन। इन्होंने भू-स्वामियों अर्थात किसानों को उनके वास्तविक अधिकारों से अवगत कराया तथा कृषि व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ की। ये आंदोलन राष्ट्रीयवादी विचारधारा पर अवलंबित थे, लगभग सभी क्षेत्रों में इन किसान आंदोलनों की प्रकृति समान थी। इनसे किसानों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी।

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में किसान आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। किसान आंदोलन के दो पहलू थे और दोनों का ही आजादी के राष्ट्रीय संघर्ष से संबंध था। एक पहलू था किसानों का आजादी के संघर्ष में शामिल होना। इसने संघर्ष को व्यापक जन-आधार प्रदान किया और इसे एक वास्तविक जन-आंदोलन बना दिया। दुसरा पहलू किसानों की शिकायतों से संबंधित था। मजदूरों और किसानों के आंदोलनों पर समाजवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। आजादी के संघर्ष में शामिल कर उन्होंने इसके सामाजिक और आर्थिक उद्वेश्यों को बड़ी गहराई से प्रभावित किया।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. आधुनिक भारत - एन.सी.ई.आर.टी. - पृष्ठ सं. - 219-221।
2. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आंदोलन - वी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि. - पृष्ठ सं. - 228-231।
3. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आंदोलन - वी.एल. ग्रोवर एवं यशपाल, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि. - पृष्ठ सं. - 264-267।
4. आधुनिक भारत (1885-1947)-सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-पृष्ठ सं.-295-297।
5. आधुनिक भारत (1885-1947) - सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली - पृष्ठ सं. - 357-359।
6. आधुनिक भारत (1885-1947) - सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली - पृष्ठ सं. - 453-461।
7. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - बिपिन चन्द्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृष्ठ सं. - 19-21।
8. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - बिपिन चन्द्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृष्ठ सं. - 145-156।
9. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - बिपिन चन्द्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृष्ठ सं. - 277-287।
10. आधुनिक भारत का इतिहास एवं संस्कृति - अनिल केशरी, अंडर स्टैण्डींग इंडिया पब्लिकेशन नई दिल्ली, पृष्ठ सं. - 185-187।
11. आधुनिक भारत का इतिहास एवं संस्कृति - अनिल केशरी, अंडर स्टैण्डींग इंडिया पब्लिकेशन नई दिल्ली, पृष्ठ सं. - 189-192।
12. द सर्च लाइट - 9 फरवरी और 11 दिसम्बर 1930।
13. बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटि की साप्ताहिक रिपोर्ट 01 अगस्त 1930।
14. बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटि की साप्ताहिक रिपोर्ट 26 सितम्बर 1930।
15. कांग्रेस पीजेंट रिलेशनशिप - कपिल कुमार - पृष्ठ सं. - 238-248।
16. द पिजेन्टरी एण्ड नेशनलिज्म - सी.सी. मेहता।
17. ए हिस्ट्री ऑफ द ऑल इण्डिया किसान सभा - एम. ए. रासेल, कलकत्ता - 1974।

एम. ए., पी. एच. डी. (इतिहास विभाग)

टी. एम. भागलपुर वि. वि., भागलपुर।

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों के सामाजिक आयाम: एक ऐतिहासिक अध्ययन

मो. इरशाद खाँ

परिचय

छठी शताब्दी ई. पू. में भारत वर्ष की धार्मिक एवं वैचारिक मान्यताओं में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। वैदिककालीन जटिल, कर्मकाण्डों एवं ब्रहाणों की धार्मिक एवं सामाजिक सर्वोच्चता एवं जटिलता के खिलाफ कई धर्मों एवं पंथों का उदय हुआ, जिनकी मान्यताएँ तत्कालीन, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुकूल थी। वैदिकोत्तर काल में समाज स्पष्टत: चार वर्णों में विभाजित था-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हर वर्ण के कर्त्तव्य अलग-अलग निर्धारित थे और ऊपर के दो वर्णों को कुछ विशेषाधिकार दिये गए थे।

ये समाज में अपना स्थान सबसे ऊँचा होने का दावा करते थे। वर्णक्रम में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। वैश्य का स्थान तीसरा जो पशुपालन और व्यापार करते थे। शूद्रों का स्थान वर्णक्रम में सबसे नीचा था जो उन तीनों वर्णों की सेवा करते थे। यह स्वभाविक ही था कि इस तरह के वर्ण-विभाजन वाले समाज में तनाव पैदा हो। इन्हीं वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध एक प्रकार धार्मिक आंदोलन प्रारम्भ हुआ। इन धार्मिक आंदोलन में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म को अधिक लोकप्रियता मिली।

उद्धेश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य नये धार्मिक विचारों के उद्‌भव की पृष्ठभूमि, जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म के सिद्धांतो की चर्चा करना, इन धर्मो का तात्कालीन सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव परे तथा इन दोनों धर्मो के सामाजिक जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करना है।

विश्लेषण

छठी शताब्दी ई. पू. में मध्य गंगा घाटी के लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की नयी विशेषताएँ वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञ से मेल नहीं खाती थीं। यज्ञ और कर्मकाण्ड पशुधन के अंधाधुंध विनाश के कारण वन गये थे, जबकि पशुधन ही हलों से की जानेवाली नयी खेती का मुख्य आधार था।

वैदिक धार्मिक विचार उदीयमान सामाजिक समूहों की प्रगति में बाधक बन रहे थे। अत: छठी शताब्दी ई. पू. में ऐसे धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की आवश्यकता महसूस हुई जो लोगों के भौतिक जीवन में आये बुनियादी परिवर्त्तनों से मेल खाते हों। इस आवश्यकता की पूर्त्ति हेतु कई धार्मिक शिक्षक आगे आये। छठी शताब्दी ई. पू. में बौद्ध श्रोतों में 62 धार्मिक सम्प्रदायों का और जैन पाठों में तो 363 सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। इनमें से अनेक क्षेत्रीय रीति-रिवाजों तथा कर्मकाण्डों पर आधारित थे, लेकिन उनमें से कुछ ने दार्शनिक विचारों को जन्म दिया।

पूरण काश्यप नामक आचार्य घोर अक्रियावादी था। उसका मत था कि चोरी, डकैती, हत्या, झूठ आदि पाप नहीं है और दान, जप, तप, सत्य से किसी प्रकार का पुण्य प्राप्त नहीं होता है अर्थात कर्मो का कोई फल नहीं होता है। मक्खलि गोशाल नामक आचार्य ने आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। गोशाल की शिक्षा का मुख्य आधार नियतिवाद था। उसके अनुसार

सभी प्राणी भाग्य अथवा नियति के अधीन है। उसमें न बल है और न पराक्रम। उनका मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से शरीर निर्मित है। मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं बचता है। पाप-पुण्य तथा सत्य-असत्य की कल्पना झूठी है। पकुध कात्यायन नामक आचार्य पुर्नजन्म एवं कर्म की महत्ता को नहीं मानता था। उसके अनुसार जिस प्रकार मिटी, जल, वायु और प्रकाश शाश्वत है उसी प्रकार दु:ख, सुख और जीवन भी शाश्वत है तथा इनका विनाश नहीं हो सकता है। इनका सिद्धांत नितांत भौतिवादी है।

संजय वेलट्ठिपुत्र अनिश्चयवादी था। उनके अनुसार न यही कहा जा सकता है कि परलोक है और न यह कि परलोक नहीं है। जीवन संबंधी किसी भी प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर संभव नहीं है। छठी शताब्दी की इस अनीश्वरवादी धार्मिक उथल-पुथल ने समाज पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी किन्तु तत्कालीन, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को सबसे अधिक वर्द्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध की शिक्षाओं ने प्रभावित किया। इनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ही भारत में स्वतंत्र धर्म के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रख सका।

जैन धर्म

जैन परम्परा के अनुसार इस धर्म में 24 तीर्थंकर हुए है। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे किन्तु 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को छोड़कर पूर्ववर्त्ती तीर्थकरों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। वर्द्धमान महावीर का जन्म 540 ई. पू. में वैशाली के निकट कुंडग्राम में ज्ञातृक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इनके पिता सिद्धार्थ इस गणराज्य के प्रमुख थे तथा इनकी माता लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला थी जो लिच्छवि गणराज्य प्रमुख चेटक की बहन थीं। वर्द्धमान के जन्म पर देवताओं की भविष्यवाणी हुई कि ये भविष्य में या तो चक्रवर्ती राजा होंगे या परम ज्ञानी भिक्षु।

स्वाभाविक रूप से वर्द्धमान का प्रारंभिक जीवन सुख-सुविधापूर्ण था। बड़े होने पर उनका विवाह यशोदा नामक एक राजकुमारी से हुआ और उससे उन्हें प्रियदर्शना नामक एक पुत्री पैदा हुई। जब वर्द्धमान तीस वर्ष के हुए, तब उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई और वर्द्धमान के बड़े भाई नंदिवर्धन राजा हुए। वर्द्धमान प्रारंभ से ही चिन्तनशील स्वभाव के थे। अब उनमें त्याग की भावना पूर्णत: जागृत हो चुकी थी। अन्तत: अपने बड़े भाई से आज्ञा लेकर घर त्याग दिया और निर्ग्रन्थ भिक्षु का जीवन धारण कर तपस्या में लीन हुए। ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की। एक वर्ष एक महीने के बाद उन्होंने वस्त्र त्याग दिया और नग्न अवस्था में ही तपस्या करने लगे। 12 वर्ष तक शरीर की चिंता नहीं करके वे हर प्रकार के कष्ट सहते रहे। बारह वर्ष की घोर तपस्या के बाद 42 वर्ष की उम्र में उन्हें जुम्भिय ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर कैवल्य की प्राप्ति हुई।

जैन धर्म के सिद्धांत

जैन धर्म में संसार दु:खमूलक माना गया है। मनुष्य जरा तथा मृत्यु से ग्रस्त है। व्यक्ति को सांसारिक जीवन की तृष्णाएँ घेरे रहती है। सम्पति संचय के साथ ही मनुष्य की कामना रूपी पिपासा बढ़ती जाती है, जिसका कोई अंत नहीं है। काम-भोग, विष के समान है जो अंतत: दु:ख को ही उत्पन्न करते हैं। संसार त्याग तथा सन्यास ही मनुष्य को सच्चे सुख की ओर ले जा सकते है। जैन धर्म के अनुसार सृष्टि के रचयिता ईश्वर नहीं है, किन्तु संसार को एक वास्तविक तथ्य माना गया है, जो अनादि काल से विद्यमान है।

संसार के सभी प्राणी अपने अपने संचित कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं तथा कर्मफल भोगते हैं। कर्मफल ही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। जैनधर्म में सांसारिक तृष्णा बंधन से मुक्ति को 'निर्वाण' कहा गया है। कर्मफल से छुटकारा पाकर ही व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्व जन्म के संचित कर्म को समाप्त किया जाय और वर्त्तमान जीवन में कर्मफल के संग्रह से व्यक्ति विमुख हो। कर्मफल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक है।

- जैनधर्म के त्रिरत्न-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण।

- जैनधर्म के पाँच महाव्रत–
  - क) अहिंसा,
  - ख) सत्य,
  - ग) अस्तेय,
  - घ) अपरिग्रह,
  - ण) ब्रह्मचर्य।
- कायाक्लेश–जैनधर्म में तप पर अधिक बल दिया गया है।

जैन धर्म में ही सबसे पहले वर्णव्यवस्था तथा वैदिक कर्मकाण्ड की बुराईयों को रोकने के लिए गंभीर प्रयास किया। अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए जैनियों ने ब्राह्मनों की भाषा संस्कृत का नहीं बल्कि सामान्य जन की भाषा प्राकृत का सहारा लिया। उन्होंने अर्द्धमागधी में भी अपने धार्मिक ग्रंथ लिखे। इसी से आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं में उदय में सहायता मिली।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था जो कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रमुख थे। उनकी माता का नाम महामाया था। 563 ई. पू. में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी में आम्र कुंज में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। 16 वर्ष की आयु में इनका विवाह यशोधरा से हुआ। इनको राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, किन्तु बचपन से ही सिद्धार्थ चिन्तनशील रहा करते थे।

सांसारिक सुख उन्हें आकर्षित नहीं कर पाता था। संसार के दु:ख को देखकर वे इससे मुक्ति का उपाय ढुँढ़ा करते थे। चार दृश्य देखने के बाद इनके मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हुई। ये दृश्य थे–वृद्ध, रोगी, मृत व्यक्ति तथा आनंदित सन्यासी। सच्चे ज्ञान की खोज के लिए सिद्धार्थ ने 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया। सात वर्षों तक वे ज्ञान की खोज में विभिन्न आचार्यों के पास भटकते रहे। अन्त में उन्हें 35 वर्ष की उम्र में गया में पीपल वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने अपना पहला उपदेश सारनाथ में दिया। इसे धर्मचक प्रवर्तन कहते हैं। वे आजीवन अपने धर्म का प्रचार करते रहे।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

बौद्ध धर्म का मूल आधार चार आर्य सत्य है। ये चार आर्य सत्य है– दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:ख निरोध तथा दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपदा अर्थात अष्टांगिक मार्ग। बुद्ध के अनुसार मनुष्य का सारा जीवन दु:ख से भरा हुआ है। जन्म दु:ख है, व्याधि दु:ख है, मरण दु:ख है, अप्रिय मिलन दु:ख है तथा प्रिय वियोग भी दु:ख है। इस दु:ख का मूल कारण तृष्णा है। दु:ख के उन्मूलन हेतु तष्टष्णा को खत्म करना आवश्यक है। अष्टांगिक मार्ग ही दु:ख को समाप्त करने का मार्ग है। ये आठ मार्ग है।

(i) सम्यक् दृष्टि।
(ii) सम्यक् संकल्प।
(iii) सम्यक् वाणी।
(iv) सम्यक् कर्म।
(v) सम्यक् आजीव।
(vi) सम्यक् व्यायाम।
(vii) स्म्यक् स्मृति।
(viii) सम्यक् समाधि।

इस आष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना या अत्यधिक काया क्लेश में संलग्न होनी-दोनों को वर्जित किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में मध्यम प्रतिपदा का उपदेश दिया है।

छठी शताब्दी ई. पू. में पूर्वोत्तर भारत के लोगों के समक्ष जो समस्याएँ खड़ी थीं, बौद्ध धर्म ने उनको सुलझाने का प्रयास किया। लोहे के फालवाले हल से चली खेती तथा व्यापार और सिक्कों के प्रचलन से कुछ लोगों को धन संचित करने का मौका मिला। इस कारणों के चलते समाज में बड़े पैमाने पर सामाजिक एवं धार्मिक असमानता पैदा हुई। इस तनाव को दुर करने के लिए बौद्ध धर्म ने घोषणा की कि धनसंचय नहीं करना चाहिए।

इस धर्म के अनुसार दरिद्रता से घृणा, क्रुरता और हिंसा की उत्पत्ति होती है। इन बुराईयों को दूर करने के लिए बुद्ध ने उपदेश दिया कि किसानों को बीज और अन्य सुविधाएँ मिलनी चाहिए, व्यापारियों को धन मिलना चाहिए तथा श्रमिकों को मजदूरी मिलनी चाहिए। बौद्ध धर्म यह भी उपदेश देता है कि जो भी दरिद्र व्यक्ति भिक्षुओं को भीख देगा वह अगले जन्म में धनवान होगा। बौद्ध धर्म ने स्त्रियों और शूद्रों के लिए अपने द्वार खोलकर समाज पर गहरा प्रभाव जमाया। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने पर स्त्रियों तथा शूद्रों को इस सामाजिक अधिकार हीनता से मुक्ति मिल जाती है।

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के सामाजिक आयाम

जैन तथा बौद्ध धर्मों की कुछ विशेषताएँ समान हैं। पहली बात तो यह है कि दोनों धर्मों के प्रवर्तकों को अपने धर्मों के प्रचार के लिए काफी मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्न करना पड़ा था। यह बात महावीर और बुद्ध के नितांत सादे जीवन में स्पष्टत: देखी जा सकती है। दूसरे, दोनों धर्मों ने वेदों के प्रमाण को अस्वीकार कर दिया और पशुबलि का विरोध किया। इससे रूढ़िवादी ब्रह्मणों से उनके संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। लोहे का इस्तेमाल आरम्भ होने से हल से की जानेवाली खेती का विकास हुआ और इस प्रकार की खेती मुख्य रूप से पशुपालन पर निर्भर थी।

इस पृष्ठभूमि में देखें तो प्राणियों को कष्ट न देने का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण लगता है। अहिंसा की अवधारणा का प्रचार किया गया। इससे कृषि में सहायता मिली। प्रति वर्गमील क्षेत्र में जितने लोगों का गुजारा पशुचारक अर्थव्यवस्था में हो सकता था उससे दस गुना अधिक लोगों का निर्वाह कृषि अर्थव्यवस्था में संभव था, परन्तु जैन धर्म में अहिंसा पर अनावश्यक जोर देने से खेतिहर लोगों के बीच इस धर्म के प्रचार में बाधा पड़ी क्योंकि उनका धंधा ऐसा था जिसमें कीड़े-मकोड़ों का नाश होना ही था। इस कारण यह धर्म आम नागरिकों के बीच लोकप्रिय न होकर मुख्यतया व्यापारियों के बीच लोकप्रिय हुआ। बौद्ध धर्म में अहिंसा पर आग्रह जैन धर्म की तुलना में अधिक संयत था।

इसने कृषि की समकालीन आवश्यकताओं के प्रति अधिक सजगता दिखलाई। इसलिए बौद्ध धर्म ग्रामीण लोगों को अधिक स्वीकार्य हुआ। जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मों का दृष्टिकोण वाणिज्य-व्यापार के प्रति ज्यादा अनुकूल था। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों ने व्यापार करनेवाले वैश्यों को वर्णव्यवस्था में तीसरे स्थान पर रखा, सूदखोरी की निन्दा की तथा समुद्री व्यापार के प्रति घृणा का भाव दिखलाया, वहीं बौद्ध एवं जैन धर्मों ने वैश्यवर्ग को सामाजिक सम्मान दिया, सूदखोरी की निन्दा नहीं की तथा ऋणग्रस्त व्यक्ति के संघ में प्रविष्ट होने से मनाही कर दी। इसी कारण बौद्ध संघ को अनाथपिंडिंक तथा अन्य धनाढ्य व्यापारियों से भरपूर आर्थिक सहायता मिली।

छठी शताब्दी ई. पू. में विकसित हो रहे शहरी जीवन के प्रति भी बौद्धों का दृष्टिकोण अनुकूल था। ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ उच्च वर्णों के सदस्यों को दुकानों में पकाया गया भोजन न ग्रहण करने की सलाह दी, वहाँ बौद्ध ग्रन्थों में इस तरह के किसी निषेध की बात नहीं है। शहरी सामाजिक जीवन में जो एक महत्वपूर्ण नयी बात हुई, वह थी वेश्यावृत्ति में अभिवृद्धि। शहरों के उदय और जातिगत विभेदों में तीव्रता आने के फलस्वरूप पुराने कबायली परिवार के टूटने से मूल-विच्छिन्न स्त्रियों का एक वर्ग खड़ा हो गया होगा, जिन्होंने जीविकोपार्जन के लिए वेश्यावृत्ति अपना ली होगी। आरंभिक बौद्ध साहित्य में शहरों में निवास करनेवाली गणिकाओं का उल्लेख हुआ है।

आम्रापाली के कारण वैशाली को बहुत ख्याति मिली, किन्तु ब्राह्मण शास्त्रकारों ने वेश्यावृत्ति की निन्दा की है। ब्राह्मणों को गणिका तथा शीलरहित स्त्री का दिया हुआ भोजन ग्रहण करने से मनाही थी। इसके विपरीत गौतम बुद्ध ने एक बार आम्रापाली का आतिथ्य स्वीकार किया था। आरंभ में उन्होंने स्त्रियों के संघ में प्रवेश का विरोध किया था, किन्तु शिष्य आनंद के अनुरोध पर उन्होंने स्त्रियों को बौद्ध संघ में शामिल होने की इजाजत दे दी। गौतम बुद्ध का कहना था कि भिक्षुओं की तरह भिक्षुणियाँ भी निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं।

बौद्ध तथा जैन धर्मों के व्यवस्थाविरोधी स्वरूप के बावजूद, दो में से किसी ने वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के खिलाफ जमकर संघर्ष नहीं किया। इसके विपरीत, मालूम होता है, ब्राह्मणीय धर्म की तरह बौद्ध धर्म ने भी अस्पृश्यता की सच्चाई को स्वीकार किया जिसका उद्‌भव वेदोत्तर काल में हुआ था और जो आज भी भारतीय सामाजिक जीवन की एक भयावह विशेषता के रूप में कमोवेश मौजूद है।

आदिवासी मूल के चंडाल और निषाद बौद्धों के लिए अस्पृश्य थे। एक स्थल पर स्वयं गौतम बुद्ध अनुचित उपाय से अर्जित भोजन को चंडाल के उच्छिष्ट के समान बताते हैं। यह प्रारंभिक ब्राह्मणीय धर्मशास्त्रकारों के दृष्टिकोण से पूरे तौर पर मेल खाता है। इस प्रकार इन नये धर्मों ने तत्कालीन सामाजिक विभेदों को मिटाने का प्रयत्न नहीं किया, परन्तु निर्वाण की प्राप्ति के लिए जाति के महत्व का उन्होंने प्रबल खंडन किया।

बौद्ध तथा जैन धर्मों ने गुलामों की स्थिति सुधारने का भी कुछ प्रयत्न किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य का व्यापार करने का निषेध केवल ब्राह्मणों के लिए है, किन्तु दोनों नये धर्म अपने गृहस्थ अनुयायियों के लिए भी इसका निषेध करते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में स्वामियों को अपने दासों के साथ सद्‌व्यवहार करने का परामर्श दिया गया है। एक जैन पाठ में कहा गया है कि दासों तथा दासियों के मालिकों को उनकी देखभाल अच्छी तरह करनी चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध एवं जैन धर्मों ने छठी शताब्दी की परिवर्तित सामाजिक सरंचना की ओर सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया तथा नयी व्यवस्था के अनुकूल अपने सिद्धान्तों का विकास किया। इसी कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में उनकी स्वीकार्यता बढ़ी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(i) The culture and civilization of Ancient India An Historical outline - D.D. Kosambi.

(ii) Material culture and social formations in Ancient India - R.S. Sharma.

(iii) Indian Buddhism - A.K.Warder.

(iv) A History of India, Volume one pengum books Great Britain, 1981 - Romila Thapar.

(v) Ancient India an Introductory outline, peoples publishing house, New Delhi, 1990 - D.N. Jha.

(vi) The History and Culture of the Indian People - R.C. Majumdar.

(vii) प्राचीन भारत (कक्षा-11) - एन. सी. ई. आर. टी.।

(viii) प्राचीन भारत का इतिहास - द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली।

(ix) उद्‌भूत भारत - ए. एल. बाशम।

(x) प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. सत्यनारायण।

(xi) प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति - के. सी. श्रीवास्तव।

(xii) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - डॉ. जयशंकर मिश्र।

(xiii) प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था - डॉ. ओम प्रकाश प्रसाद।

यू.जी.सी.(नेट), इतिहास विभाग

पटना वि. वि. पटना

नालन्दा-विश्वविद्यालय: एक ऐतिहासिक विश्लेषण

संजय कुमार एवं अनिल कुमार मिश्रा

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यंत ज्ञानपूरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित या, जिसमें व्यक्ति को लौकिक और परलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से सम्भव माना जाता था। मनुष्य के जीवन में विद्या अथवा ज्ञान का अत्यंत विशिष्ट स्थान है। छांदोभ्य उपनिषद में कहा गया है, 'तेनौयौ कुरूतौ यश्चैतदेव वेद त्रश्च न वेदे। नाना तु विद्या चा विद्या च यदेव विधा करोति श्रद्धयोपनिष्ठा वदेव वीर्यवतंर भवमीति खेल्वेत-स्यैवाक्षर रूस्योपन्यारूयाने भवति।' अर्थात अक्षर को जानने और न जाननेवाले, दोनों कार्म करते है। किन्तु विधा और अविधा दोनो भिन्न-भिन्न फल देनेवाली है। जो कर्म विधा, श्रद्धा और योग से संयुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।

ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों को मूल को समझने में समर्थ करता तथा उसे सही कार्यो की ओर प्रवृत करता है। संसार की समृद्धि और अभीष्ट की प्राप्ति ज्ञान पर ही अवलंबित रहती हैं। इसलिए ज्ञान भी अप्रंतक माना गया। शिक्षा से मनुष्य का जीवन विभुद्ध, प्रज्ञासम्पन्न, परिण्कृत और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि समाज भी सत्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्धेश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा धन, आयु और अमृतत्व, को सम्मिनिहित किया गया है। छांदोग्य उपनिषद में धर्म के तीन स्कंध बताये गए है। पहला स्कंध यज्ञ, अध्ययन और दान था, दुसरा स्कंध तप और तीसरा स्कंध आर्चाकुल में रहते हुए अपने शरीर को अत्यंत क्षीण कर देना। सभी लोग पुण्यलोक प्राप्त करते थे।

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। इसके अन्तर्गत नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सम्मार्ग का अनुसरण करता था। जब मनुष्य को सत्र का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल लेता था, तब उसके चरित्र एवं आचरण का उत्थान प्रारम्भ होता था। ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसीलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करनेवाला ही तेजोमय ब्रहमा (ज्ञान) को धारण करता था और उसमे समस्त देवता निवास करते थे।

शिक्षित और ज्ञानवान होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठा-पूर्वक निष्पन्न करता था। शिक्षा और विद्या के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। छात्र प्राय: उपनयन संस्कार के पश्चात के गृह त्यागकर गुरू के सान्निध्य में जाता था तथा वहाँ गुरूकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था। उपनिषदों में गुरूकुल के स्थान पर आर्चाय कुल का प्रयोग किया गया है। कुल शब्द अत्यंत सार्थक और सारगर्भित था जिससे एक परम्परा का बोध होता था। गुरूकुल के दो प्रकार विकसित हो गए। एक गृहरूप गुरू आश्रम और वनरूप प्रवजित गुरू आश्रम। महाकाव्य से गुरूकुलों का संदर्भ मिलता है, जो शिक्षा और विद्या के विख्यात अधिष्ठान थे। भारद्धाज और बाल्मीकि के आश्रम उच्च कोटि के गुरूकुल थे। दुर्वासा ऋषि जब कुरू नरेश से मिलने गए तब उनके साथ दस हजार शिष्य थे। यह ऋषि की विद्धता और लोकप्रियता का पारियाचक था। गुरूकुल अथवा आर्चाय कुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करने की प्रथा प्राचीन काल में बराबर चलती रही। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला में चाणक्य के साशिध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्धग्रथों से भी ब्रहमण आचार्यों के कुलों का वितरण मिलता है। गुप्तकाल में भी शिक्षा निबोध रूप से चलती रही। गुप्त अभिलेखों से विदित होता है कि आर्चाय ब्राह्मणों को ग्राम दान में दिए जाते थे।

बौद्ध शिक्षण पद्धति का आरम्भ महात्मा बुद्ध ने किया था, जिसमे सरल और सुबोध जयभाषा में जीवन के तत्वों की चर्चा की। व्याख्यान और प्रश्नोत्तर के आधार पर विचारों को आख्यान किया गया था। उन्होनें धर्म के प्रचार में प्रासंगिक उपमा, दुष्यंत, उदाहरण कथा आदि का समावेश किया था जिससे उसका तत्व श्रोताओं को सरलतापूर्वक बोधगम्य होता था। विचार-विनिमय, तर्क और पर्यावाचन को बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठित किया गया। बौद्ध शिक्षा पद्धति में सत्य, तथ्य, तर्क, पर्यवेक्षण, मनन आदि पर अधिक बल दिया गया। बुद्ध के पश्चात् समाज में बौद्ध शिक्षा का क्रमशः प्रयास होने लगा। बौद्ध मठों और विहारों के माध्यम से बौद्ध शिक्षा का प्रसार भारत के विभिन्न भागों में हुआ था। प्रारंभ में हिन्दू और बौद्ध शिक्षाओं के मूल में कोई विशेष अंतर नहीं था, किन्तु कालान्तर में दोनों शिक्षण प्रणालियों के आदर्श और पद्धति में बहुत कम ऐक्य रह गया।

बुद्ध के बाद से बौद्ध विहारों और मठ बौद्ध शाला के केन्द्रों के रूप में विकसित होने लगे। नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविधालयों तथा श्रावस्ती और मलयी विहारों का उत्कर्ष इसी प्रकार हुआ था। बौद्ध शिक्षण संख्या की सम्पूर्ण व्यवस्था बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में रहती थी। विश्वविधालयों का प्रबंध किसी विशिष्ट विद्धान के निर्देशन में होता था, जो संघ के सदस्यों के मतों से भिक्षुओं में से चुना जाता था। ऐसा प्रबंधक अपने ज्ञान में विख्यात हुआ। नवीं शदी में उसका प्रधानाचार्य एक भिक्षु ही चुना गया था। ऐसे प्रधान आचार्य के प्रबंध में सहायता प्रदान करने के लिए कई समितियाँ होती थी, जिनमें दो समितियाँ प्रघान थी, शिक्षा समिति और प्रबंध समिति।

शिक्षा-समिति के प्रबंध में अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण और व्यवस्था का नियोजन होता था। तथा प्रबंध समिति के अन्तर्गत शिक्षा संस्थाओं की प्रशासनिक व्यवस्था, कार्यकत्ताओं की नियुक्ति तथा भवनों का निर्माण आदि सभी कार्य होते थे। इस प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं की आर्थिक स्थिति धनी-मनी राजाओं और श्रेष्ठिओं के दान पर निर्भर करती थी, जिनमें बड़े-बड़े गाँव व भूखंड भी शामिल होते थे।

धीरे-धीरे बौद्ध मठ और विहार ब्रह्ममणों के गुरूकुलों के आधार पर विकसित होने लगे, जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र बन गए। इन शिक्षण संख्याओं के अनुशासन और नियम हिन्दू ब्राहण व्यवस्था के अनुसार ही थे। राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु आदि नगरों में कई प्रसिद्ध विहारों और मठों का उत्कर्ष हुआ था, जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हुए। इस युग के प्रसिद्ध विहारों में श्रावस्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का निग्रोधाम वैशाली का कुटा-गारशाला तथा आम्रवन, राजगृह का वेणुवन, यशिटवन तथा सीतावन थे। इन विहारों मे अतिरित्त अनेक संधारायों का थी। विकास हुआ जहाँ आध्यात्मिक चिंतन और मनन हुआ करता था।

बड़गाँव इस समय एक साधारण गाँव है। यहाँ अवस्थित 1600 लम्बे और 400 फीट चौड़े ईटों के खण्ड उस स्थान का बताते है। जहाँ पहले प्रसिद्ध विधा केन्द्र था। उसके आस-पास उँचे-उँचे टीले पुरानी धर्मशालाओं तथा मंदिरों के चिन्ह है। यहाँ प्राचीन काल में जगत विख्यात बौद्ध विधा केन्द्र नालन्दा था। भगवान बुद्ध ने यहाँ तीन मास देवताओं के हित के लिए उपदेश दिया था। अशोक ने नालन्दा विहार की स्थापना की थी। द्वितीय ईस्वी सदी क प्रसिद्ध महात्मा नागार्जुन ने यहाँ विघाध्यन किया था। नालन्दा से चार-मील पूर्व दक्षिण आर्य सारिपुत्र, जो भगवान बुद्ध के दाहिने हाथ कहे जाते है। का जमा हुआ था और डेढ़ मील दक्षिण-पश्चिम आर्य मुदगल (यौदगलयापन) जो भगवान बुद्ध के बाँए हाथ कहलाते थे, का जन्म हुआ था। परम पुज्य जैन महात्मा महावीर ने यहाँ चौदह चौमास, वास किया था। बख्तियारपुर-राजगीर रेलमार्ग पर नालन्दा स्टेशन से डेढ़ मील दूर प्राचीन भारत के इस प्रसिद्ध विश्वविधालय में ध्वसावमेष विस्तृत भू-भाग का धेरे हुए है।

यहाँ आजकल बड़गाँव नामक ग्राम स्थित है जो राजगीर से 7 मील तथा बख्तियारपुर से 25 मील हैं। नालन्दा के खण्डहारो से प्राप्त अभिलेखों तथा अवशेषों से ज्ञात होता है। कि गुप्तवंश के राजा कुमारगुप्त प्रथम (413-455ई.) पाँचवी सदी में इस प्रचीन और सभ्य संसार के सर्वदोष तथा जगत प्रसिद्ध विश्वविधालय की स्थापना की थी। पहले यहाँ केवल एक बौद्ध विहार बना था जो धीरे-धीरे एक महान विश्वविधालय के रूप में परिवर्तित हो गया। इस विश्वविधालय को गुप्त तथा मौखरी नरेशों और सम्राट हर्ष से निरंतर आर्थिक अनुदान और संरक्षण प्राप्त हुआ तथा उन्होनें वहाँ अनेक भवनों, विहारों तथा मंदिरों का निर्माण करवाया। नालंदा के संरक्षण में हर्ष के अतिरिक्त नरसिंह गुप्त कुमारगुप्त द्वितीय, विष्णुगुप्त, सर्ववर्मन, तथा अवंति वर्मन मौखरी और कायरूप नरेश थास्करवर्मन मुख्य हैं। इसमें अतिरितन एम प्रस्तर लेख ये कनौज में यशावर्धन और ताम्रपट् लेखों में धर्मपाल और देवपाल (बंगाल में पाल नरेश) नामक राजाओं का भी उल्लेख है। श्री विजय या जाबा-सुमात्रा में थैलेन्द्र नरेश वालपूत्र देव थी नालन्दा में सरंक्षणो में नाम मिलता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुवेनसांग नालन्दा में प्रथम बार 637 ई में पहुँचा था और उसमें कई वर्ष यहाँ अध्ययन किया था। उसकी विकृता पर मुग्ध होकर नालन्दा में विद्वानों ने उसे मोक्षदेव की उपाधि दी थी। उसके यहाँ से जाने के बाद नालन्दा के भिक्षु प्रजादेव ने हुवेनसांग को नालंदा के बिद्यार्थियों की ओर से भेंट के रूप में एक जोड़ा वस्त्र भिजवाए थे। हुवेनसांग के पश्चात भी अगले तीस वर्षों में नालन्दा में प्राय: ग्यारह चीनी और कोरियायी यात्री आए थे। चीन से इकिंग और हुइली तथा कोरिया से हारनीह, यहाँ आनेवाले विदेश यात्रियों में प्रमुख है। जिस समय हयवेनसांग यहाँ आया था, विश्वविद्यालय अपने चरमोत्कर्ष पर था। उसने अनेक शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख किया है। सर्वप्रसिद्ध पल्लवी का हिमयान विश्वविद्यालय तथा नालन्दा का महायान विश्वविद्यालय था। नालन्दा का महाविहार या विश्वविद्यालय उस युग का सर्वप्रमुख भिक्षा केन्द्र था। यह एक स्नातकोत्तर विश्वविद्यालय था, जिसमें 8500 विद्यार्थी और 1500 शिक्षक थे। यहाँ कठिन परीक्षा के बाद प्रवेश मिलता था। उस परीक्षा में केवल बीस प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण होते थे। यहाँ कोरिया, मंगोलिया, जापान, चीन, तिब्बत, लंका आदि विदेशों से विद्यार्थी और विज्ञान अध्ययन के लिए आते थे। हवेनसांग को 50 ऐसे विद्यार्थी मिले थे जिन्होंने कुछ भारतीय आय रख लिए थे। नालंदा में विद्यार्थियों के द्वारा ही सारे ऐशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार प्रसार हुआ था। यहाँ के विद्यार्थियों तथा विद्वानों की माँग एशिया के सभी देशों में थी और उनका सर्वत्र आदर होता था। तिब्बत में राजा के नियंत्रण पर 21दंत शांतिरक्षित और पद्मसंभव तिब्बत गए थे और वहाँ उन्होंने संस्कृत बौद्ध साहित्य और भारतीय संस्कृति का प्रचार करने में अप्रतिम योग्यता दिखायी थी।

नालंदा विश्वविद्यालय ऊँच शिक्षा के लिए उपयुक्त केन्द्र था। अध्ययन पद्धति उच्च कोटि की थी। यह विचार गोष्ठियों में विचारों मे आदान-प्रदान पर आधारित थी। प्रतिदिन इस प्रभार भी एक सौ गोष्ठियाँ होती थी। विश्वविद्यालय में कला, विज्ञान, शिल्प और उधोग भी भिक्षा दी जाती थी। हेतु विद्या (तर्क), शब्द विद्या (व्याकरण), चिकित्सा, दर्शन, अथर्ववेद तथा सांख्य से संबंधित विषय भी पढ़ाए जाते थे। चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा अनिवार्य थी। इत्सिंग ने इसे सामाजिक सेवा के लिए उपयोगी बतलाया था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालन्दा में एक हजार विद्वान आचार्यों में सौ ऐसे थे जो सूत्र और शास्त्र जानते थे, पाँच सौ तीन विषयों में पारंगत थे और बीस पचास विषयों में। नालन्दा के आचार्यों में शीलभद्र, नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबंधु और दिंगनाग बड़े प्रतिभाशाली थे। शीलभद्र ऐसे आचार्य थे जिनकी सभी विषयों में समान गति थी। नालंदा विश्वविद्यालय के तीन महान पुस्तकालय थे: रत्नोधि, रत्नसागर और रत्नरंजक। इन भवनों में ऊँचाई का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग ने लिखा है कि नौ मंजिलो शिखर बादलों से भी अधिक ऊँचे थे। इनपर प्रात: काल का हिम जम जाया करता था। इनके झरोखों में से सूर्य का सतरंगा प्रकाश अंदर आकर वातावरण को सुन्दर एवम दिव्य बनाता था। इन पुस्तकालयों में सहस्त्रों हस्तलिखित ग्रंथ थे इनमें से अनेक की प्रतिलिपियाँ हयवेनसांग ने तैयार की थी। जैन ग्रंथ सूत्र कृतांग में नालंदा के हरियान नामक सुन्दर उद्यान का वर्णन है।

विश्वविद्यालय की अपनी मुद्रा थी जिसपर श्रीनालंदा महाविहार आर्यभिक्षु संघस्थ लेख उत्कीर्ण था। उससे संबंध पृथक विहार में विद्यालय थे और उनकी अलग-अलग मुद्राएँ थी। स्थानीय विद्यालय के अतिरिक्त विदेशी विद्यालय थी जो विश्वविद्यालय से संबंध थे। ऐसा एक विद्यालय स्वर्णद्वीप के शैलेन्द्रवंश के महाराज वलपुत्रदेव ने स्थापित किया था। विश्वविद्यालय का अपना कृषि-क्षेत्र था। हर्ष विश्वविद्यालय को प्रतिवर्ष बहुत-सा दान दिया करता था। विद्यार्थी भिक्षुक भिक्षा प्राप्त करते थे, स्त्रियों का भी प्रवेश वैध था, लेकिन कक्षा में विद्यार्थियों में साथ बात नहीं कर सकती थी। प्राचीनकाल के उत्तरार्द्ध में नालंदा विश्वविद्यालय अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त कर सका था जहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन भी शिक्षा के अतिरिक्त अन्यान्य विषयों की भी भिक्षा दी जाती थी। वैसे नालन्दा भी ख्याति बुद्ध के समय से थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर दस करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र भी क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। इसकी प्रमुखता पांचवी सदी में मध्य में अधिक बढ़ी जब बौद्ध विद्वान दिंगभाग ने नालन्दा में जाकर वहाँ के विख्यात ब्रहाण पंडित सुदुर्गम को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। नालंदा का सबसे बड़ा विहार 203 फीट लम्बा और 164 फीट चौड़ा था। इसके कक्ष 9 फीट से 12 फीट तक लम्बे थे। यशोवर्या के एक अभिलेख से विदित होता है कि नालंदा के विहारों भी शिखर श्रेणियाँ मेघों का चुम्बन करती थी। इनमें अनेक जलाशय थे, जिनमें कमल तैरते रहते थे। व्याख्यान के लिए सात विशालकाय कक्ष व तीन सौ छोटे बड़े कक्ष थे। विद्यार्थी छात्रावासों में रहते थे तथा प्रत्येक कोने पर कूपों का निर्माण किया गया था, जिसकी पुष्टि उत्खनन में मिले साक्ष्य से होती है।

नालंदा विश्वविद्यालय के पोषण के लिए दो सौ गाँव दान में प्राप्त थे, जहाँ भी आय से यहाँ के भिक्षु आर्यभत्ताओं और अध्येताओं का गुजारा होता था। इसमें अतिरिक्त इन गाँवों के निवासी कई मन चावल व दूध यहाँ भेजा करते थे। विधार्थियों

से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के इच्छुक विधार्थियों के लिए कड़े नियम थे। ऐसे विधार्थियों को सबसे पहले द्वारपाल से वाद-विवाद करना पड़ता था तथा उसकी शंकाओं का समाधान करना आवश्यक था। अपने-अपने विषय में यहाँ अनेक मूर्धन्य विद्वान थे। हयवेनसांग के समय इस विश्वविद्यालय का कुलपति शीलभद्र था। उसके पहले धर्मपाल कुलपति था। ह्वेनसांग की यहाँ के प्रधान भिक्षुकों में था जिसमें अनेकानेक विषयों पर अधिकार प्राप्त किया था। विधार्थियों के अध्ययन के लिए यहाँ एक धर्मज्ञ नामक विशाल पुस्तकालय था। चीनी यात्री इत्सिंग ने स्वयं 400 संस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थी जिनमें पाँच लाख श्लोक थे। यहाँ का एक अध्यापक नौ या दस विधार्थियों को पढ़ाता था। नालंदा में विशेषकर महायान शाखा का अध्ययन किया जाता था। पाली भाषा भी शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। नागार्जुन, वसुबंधु, असंग, धर्मनीति आदि ऐसे ही मायाकी आचार्य थे जिन्होंने इसी शिक्षा केन्द्र से अपने को उन्नत किया था। ह्वेनसांग ने अनेक ऐसे विद्वान आचार्यो का उल्लेख किया है जो अपने अपने विषय के प्रगाह पंडित थे तथा भारत के विभिन्न प्रदोशों से आकर यहाँ अध्ययन अध्यायापन करते थे। धर्मपाल काँची झा रहनेवाला था। शीभद्र बंगाल का निवासी था। गुमति और स्थिमति वल्लभ के रहनेवाले थे।

कुतुबुद्वीन ऐबक का एक सेनानायक वख्तियार खिलजी ने 1203 ई0 में बिहार और बंगाल पर आक्रमण के दौरान नालंदा विश्वविद्यालय भी थी अपना प्रकोप का शिकार बनाया। यहाँ के सभी भिक्षुओं को आक्रांताओं ने मौत के घाट उतार दिया। विश्वविख्यात पुस्तकालयों को जलाकर भस्मसात् कर दिया। वह इस तरह भारतीय विद्या, सभ्यता संस्कृति का केन्द्र नालंदा विश्वविद्यालय को तहस नहस कर दिया गया। नालंदा के हवेनशांग ने विहारों, स्तूपों, मंदिरों तथा मूर्तियों में अनगिनत अवशेष पाए गए हैं जो स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

उपरोक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि नालंदा विश्वविद्यालय, जिसपर हमें प्राचीन वैश्विक जगत में एक अत्यंत महत्वपूर्ण शैक्षणिक केन्द्र के रूप में गर्व है। आज वर्त्तमान वैश्विक जगत में अपने को विकसित देशों की श्रेणी में बताने वाली यूरोपीय देशों में थी। इसमें समकालीन कोई ऐसा महत्वपूर्ण शैक्षणिक केन्द्र नहीं था। यहाँ भारतीय उपमहाद्वीप के अतिरिक्त चीन, कोरिया इत्यादि के लिए विद्यार्थी अध्ययन एवं अध्यापन के लिए आते थे। ह्वेनसांग और इत्सिंग जैसे विद्वान इस प्राचीन भारत के गौरवशाली रहे। शैक्षणिक केन्द्र भी भव्यता व व्यवस्था पर काफी कुछ अपनी यात्रा वृतांत में लिख छोड़ा है। इन दोनों महत्वपूर्ण यात्रियों के अतिरिक्त कोरिया तथा विभिन्न क्षेत्रों के 11 महत्वपूर्ण यात्रियों ने अपना सुखद प्रस्थिति दर्ज कराया था। यह विश्वविधालय प्राचीन भारतीय शैक्षणिक परम्परा की ही एक हिस्सा थी जो गुरूकुल परम्परा में सदियों से चली आ रही थी। यहाँ विशेष तौर पर महायान शाखा को ज्यादा प्रश्रय मिला, जिस प्रकार पल्लवी में हिमयान शाखा का। इसके अतिरिक्त यहाँ अनेकानेक विषयों की भी व्यवस्था थी जिसका वर्णन विस्तार से किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. Altekar, A.S. - Education in Ancient India
2. Basham, A.L. - The wonder that was India
3. Majumdar, N.M. - A history of education in Ancient India
4. Majumdar, R.C. - The classical Accounts of India
5. जयशंकर मिश्र - भारत का सामाजिक इतिहास
6. विभिन्न शोध-पत्र एवं पत्रिकाएँ
7. विभिन्न पर्यटन अभिलेख - ASI
8. सूचना एवं जनसंपर्क द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ

संजय कुमार

M.A. (A.I. & A.S.), M.U. Net(UGC), New Delhi.

Research Scholar (P.U.), Patna.

अनिल कुमार मिश्रा

M.A. (Ancient Indian His.& Archalogy)

Research Scholar (P.U.), Patna.

गाँवों के विकास में दलित महिलाओं की भागीदारी का प्रश्न: एक अवलोकन

शेखर कुमार

एक आदर्श और उन्नतशील समाज के निर्माण के लिए यह आवश्यक होता है कि उस समाज में स्त्रियों को सम्मान जनक दर्जा प्राप्त हो। देश की जनसंख्या का आधा हिस्सा महिलाएँ होती है। अत: देश का समग्र विकास महिलाओं की भागीदारी के बिना नहीं हो सकता। मानव मूल्य आधारित सभी अधिकार इन्हें प्राप्त हो। इसके लिए उन्हे सुशिक्षित कर सशक्त बनाना जरूरी होता है।

भारत में अनादि काल से जीवन के हरेक क्षेत्रा में महिलाओं ने पुरूषों के साथ मिलकर काम किया है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही ''यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'' अर्थात जहाँ नारी की पूजा की जाती है, वहाँ ईश्वर निवास करते हैं, किन्तु पुरूष प्रधान समाज ने अपनी संकीर्ण मानसिकता के कारण अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखां यहाँ तक कि मनुस्मृति में भी स्त्राी एवं शूद्र को शिक्षा मत दो (स्त्रीं शूद्रों न धीमताय) कह कर उन्हें बौद्धिक विकास से वंचित किया गया। यह सर्वविदित है कि आज भी कमोवेश मौका मिलते ही इन्हें खुलेआम अपमानित किया जाता है।[1]

वर्तमान में हम कृषि, पशुपालन, हथकरघा और अन्य किस्म के क्षेत्रों की समृद्धि का बहुत कुछ श्रेय महिलाओं को दिया जा सकता है। यह शत-प्रतिशत सच है कि भारतीय समाज एक पुरूष प्रधान समाज है। हमारे देश में जन्म से लेकर मृत्यु तक महिलाओं के साथ दोहरे मानदंड अपनाए जाते हैं।

दलित समाज में दलित महिला का उत्तरदायित्व पुरूष की अपेक्षा ज्यादा है। फिर भी विडंबना यह है कि देश के ग्रामीण विकास में जी तोड़ मेहनत करनेवाली दलित महिला को दो जून रोटी की तलाश में अपनी आबरू तक को दाँव पर लगाना पड़ता है। इसका मुख्य कारण इनका अशिक्षित होना है। इसके लिए जरूरी है कि शिक्षा का प्रचार व प्रसार युद्ध स्तर पर किया जाय।

अभी भी भारत में मात्र 54.2 प्रतिशत महिलाएँ ही साक्षर है। जबकि भारत की समग्र साक्षरता 65.4 प्रतिशत है। (2001 की जनणगना के अनुसार) बिहार के सन्दर्भ में महिलाओं की साक्षरता दर और भी शोचनीय है। अत: सरकार द्वारा इन्हें शिक्षित करने की चिन्ता उचित ही है।

जहाँ तक सवाल है गाँव का, गाँव में सारा कार्य हल चलाने से लेकर बोझा ढोने तक का कार्य महिलाएँ ही कर रही हैं। चाहे वह घर की सफाई का कार्य हो या गाँव की गलियों की सफाई का। गाँव से शहरों तक गाय, भैंस के पालन का कार्य या फसल की बुआई, निराई एवं कटाई का कार्य महिलाएँ ही करती हैं। हल से खेत-खलिहान तक गाँव की दलित महिला हाथ में समान, गोद में बच्चा और सिर पर लकड़ियाँ ढ़ोते हुए नजर आती हैं।

जो दलित महिलाएँ गाँवों में कार्य कर रही है, नौकरी कर रही हैं, उनको किसी भी तरह का संरक्षण नहीं, परन्तु शहरों में उनके नाम से कामकाजी महिलाओं का हॉस्टल आदि जरूर है, परन्तु गाँव में दलित महिला खेतों में अपनी अस्मिता दाँव पर रखकर कार्य करती है। परन्तु जब सुविधाओं का नाम आता है तो महिलाओं के नाम से तथाकथित स्वर्ण समाज

की महिलाएँ सेनाओं तक में कप्तान व पायलट बनकर वे सभी सुविधाएँ प्राप्त कर रही हैं, जो दलित महिला को मिलनी चाहिए थी।

हाल के वर्षों में नारी शक्ति को उभारने के लिए इन्हें मुख्यधारा से जोड़ने हेतु कुछ प्रयास किये गये हैं। पंचायतीराज व्यवस्था में बिहार सरकार ने महिलाओं के लिए पचास प्रतिशत स्थान निर्धारित किया है। इनमें से कुछ स्थान ग्राम प्रधान के लिए दलित एवं पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं। परन्तु तथाकथित उच्चवर्गीय समाज के लोगों की घटिया मानसिकता के कारण वहाँ पढ़ी-लिखी दलित महिला को न लाकर एक अनपढ़ महिला को लोकतंत्र के नाम पर चुन लिया जाता है ताकि लोगों को यह कहा जा सके कि दलित महिला को कुछ नहीं आता और गाँव के छुटभैये नेता उसे राजनीतिक मोहरा बनाकर घिनौनी चालें चलते हैं।[2]

हालाँकि हाल के वर्षों में स्त्री शिक्षा एवं सशक्तिकरण के लिए कई प्रयास किये गये हैं। सर्व शिक्षा अभियान ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बिहार सरकार स्त्रियों को सशक्त करने के लिए, किशोरी शक्ति योजना, नारी शक्ति योजना जैसी कई योजनाएँ चलाई हैं।

देश की स्वतंत्रता के छह दशक बीत चुके हैं, परन्तु आज भी दलित महिला के कार्य का सही-सही मूल्यांकन नहीं हुआ है। उसे पत्थर तोड़ने में भी पुरूष के मुकाबले आधी दिहाड़ी ही मिलती है जो उसके प्रति सरासर अन्याय है।

बाबा साहेब डॉ॰ अंबेडकर ने कहा है कि किसी भी समाज की प्रगति का अगर पता लगाना है तो उसके महिला वर्ग को देखो।

आज के दौर में जब विज्ञान एवं तकनीकी अपने उच्च शिखर पर है। पूरा विश्व एक छोटे से गाँव में परिवर्तित हो गया है, परन्तु दलित महिलाओं को इसका आशातीत फायदा नहीं हुआ है।

दलित महिलाओं की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ सुझाव हैं–

1. प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।
2. स्कूल दलित बस्तियों में होनी चाहिए।
3. आवासीय कन्या विद्यालय होने चाहिए जहाँ महिला ही शिक्षक होनी चाहिए।
4. लड़की की छोटे भाई-बहनों को पालने की जिम्मेदारी से दूर रखना चाहिए।
5. दसवीं पास करते ही रोजगार की गारंटी होनी चाहिए।
6. महिला आरक्षण में भी दलित महिला का आरक्षण अलग से होना चाहिए।
7. स्वास्थ्य एवं बीमा की व्यवस्था होनी चाहिए।

शिक्षा मानव के उत्थान में कारगर भूमिका निभाती है। शिक्षा के द्वारा ही समाज में बदलाव आ सकता है।[3]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. तलाश - नवम्बर, 2009, पृ॰-11, 16
2. डॉ॰ मंजू सुमन- दलित महिलाएँ, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 178, 179, 189, 181
3. डॉ॰ मंजू सुमन, ज्ञानेन्द्र रावत- दलित नारी एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰-138-39

शोधप्रज्ञ

(नेट) यू.जी.सी., आरजीएनएफएस,

इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन संबंधी औपनिवेशिक काल का साहित्य

डॉ. रघुवंश

इतिहास लेखन संबंधी प्राचीन, मध्यकाल या अन्य इसी तरह के काल खण्डों को अगर छोड़ दिया जाए और आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन की मूल प्रवृत्तियों संबंधी साहित्य की चर्चा तक ही सीमित रहा जाए तब यह जरूरी हो जाता है कि आधुनिक काल की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों के संबंध में जानकारी हासिल करें, क्योंकि इतिहास लेखन पर इन स्थितियों का मूलभूत प्रभाव पड़ा है।

भारत में आधुनिक काल की शुरुआत अगर भारत में यूरोपियनों के आगमन और उनके द्वारा औपनिवेशिक विस्तार से माना जाए तब देखा जा सकता है कि इस औपनिवेशिक काल ने भारत की आर्थिक संरचना को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि इस बदलाव के तदनुसार भारतीय चेतना में भी बदलाव दिखा। यूरोप में हुए औद्योगिक विकास ने भारतीय चेतना को ऐसा प्रभावित किया कि यूरोप की श्रेष्ठता भारतीय इतिहासकारों के बीच एक मान्य साय के रूप में स्थापित दिखा। उस काल में इतिहास लेखन में एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रवेश दिखता है जिसने उप शासकों और उपनिवेशवादी गुलामी को भारत के लिए एक ऐसे वरदान के रूप में स्वीकार किया जिसके द्वारा भारत का उत्थान हो सकता था। इसका नतीजा था कि अंग्रेज शासकों को केन्द्र बिन्दु मानकर उस काल का इतिहास लिखा गया। इस इतिहास लेखन की धाक आज भी कई इतिहासकारों की लेखन प्रवृत्तियों पर हावी दिखता है। मगर उस काल में भी भारतीय इतिहास लेखन में मूलत: दो प्रवृत्तियों को स्पष्ट देखा जा सकता है। पहली प्रवृत्ति में भारत को एक धन-धान्य से परिपूर्ण देश के रूप में चित्रित किया गया और दूसरी प्रवृत्ति में भारत और इसकी आबादी को अंधकार युग में भटकते हुए अशिक्षितों, सपेरों, भूखड़ों आदि के देश के रूप में चित्रित किया गया।

इसमें पहली प्रवृत्ति के इतिहासकार भारत के संबंध में विदेशी यात्रियों और पर्यटकों के लेखनों आदि के आधार पर अपनी स्थापनाओं की पुष्टि करते हैं और यह स्थापित करना चाहते हैं कि भारत में यूरोपियनों के आगमन के पूर्व जो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियां थी वे यूरोप से भी उन्नत थी और उन्हें अंग्रेजी शासकों ने बर्बाद किया। 17वीं और 18वीं सदी के प्रारंभ में भारत आने वाले विदेशी यात्रियों ने प्राय: यह उल्लेख किया है कि उस समय गांवों में भी लोग काफी खुशहाल थे। 17वीं सदी में भारत की यात्रा पर आए तेवनियर ने टिप्पणी की है कि छोटे से छोटे गांव में भी चावल, आटा, मक्खन, दूध, सेम तथा अन्य सब्जियां, चीनी तथा सूखी और शेरेवाला अन्य मिठाइयां प्रचुर मात्रा में प्राप्त की जा सकती है।[1]

वेनिस निवासी मनूची ने, जो 17वीं सदी में औरंगजेब का मुख्य चिकित्सक बना, अपने संस्मरणों में अत्यंत भाव-विभोर होकर अलग-अलग प्रांतों के हिसाब से भारत के वैभव का वर्णन किया है। इसका ठेठ उदाहरण उसका बंगाल का वर्णन है। बाद के वर्षों में क्लाइव और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में हुई इसकी बरबादी और वर्तमान भयंकर गरीबी को ध्यान में रखते हुए मनूची का यह वर्णन देखने योग्य है।

मुगल शासकों के सभी राज्यों में से बंगाल फ्रांस में सबसे अधिक मशहूर है। बंगाल की बेहद उर्वरता का सबूत उसकी अपूर्व संपदा है, तो वहां से यूरोप भेजी जाती थी। हम बेझिझक कह सकते हैं कि वह किसी भी मामले में मिस्र से कम नहीं, बल्कि सिल्क, कपास, चीनी और नील के उत्पादन के मामले में तो वह मिस्र से भी आगे है। यहां फल, दाल, अनाज, मलमल और जरी तथा रेशम के कपड़े, सभी चीजें भरी पड़ी हैं।[2]

इसी तरह फ्रांसीसी यात्री वर्नियर ने 17वीं सदी के मध्य में भारत की यात्रा की और भारत में जो कुछ देखा उसका वर्णन किया।

अपनी दो बार की यात्रा में बंगाल के बारे में मैं जो कुछ जान सका हूं उससे मुझे विश्वास होने लगा है कि यह मिस्र की तुलना में अधिक धनी है। यह भारी मात्रा में सिल्क और कपास, चावल, चीनी और मक्खन का निर्यात करता है। यह अपने उपभोग के लिए प्रचुर मात्रा में गेहूं, साग-सब्जियां, अनाज, मुरगे-मुरगियां, बतखें और कलहंस पैदा करता है। इसके पास ढेर सारे सुअर, भेड़ें और बकरे हैं।

हर तरह की मछलियों का इसके पास बाहुल्य है राजमहल से लेकर समुद्र तक असंख्य नहरे हैं जिन्हें बहुत मेहनत से काटकर बनाया गया है ताकि नौका संचालन और सिंचाई का काम लिया जा सके।[3]

इस तरह के विवरणों के आधार पर भारत के इतिहास को लिखना कहां तक सही होगा, कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसे आंकड़ों और सूचनाओं को शक के निगाह से देखा जाना चाहिए। जिन लोगों ने इन सूचनाओं को संप्रेषित किया है उन्होंने संपति के वितरण पर ध्यान देने के बजाय धनी और शक्तिशाली लोगों के पास जमा संपत्ति पर अपना ज्यादा ध्यान केंद्रित किया। इस तरह के संपत्तिवान वर्ग की संपत्ति के आधार पर की गई स्थापनाओं को सामान्यीकृत करके इतिहास लिखना, इतिहास के उस काल का चित्रण सही नहीं कर सकता।

इसका स्पष्ट उदाहरण 1957 का क्लाइव का दिया गया बयान है, जिसे उसने बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद को देखकर दिया था। ''यह शहर उतना ही विस्तृत, उतना ही अधिक आबादी वाला और उतना ही समृद्ध है जितना लंदन। फर्क इतना है कि यहां ऐसे लोग हैं जिनके पास लंदन की तुलना में असीम संपत्ति है।[4]

ब्रिटिश शासन के पहले के भारत में आम जनता के जीवन स्तर से संबंधित सामान्य मसलों पर अनिवार्य रूप से विवाद पैदा होते हैं हालांकि साक्ष्यों और जनश्रुतियों से निस्संदेह रूप से यह संकेत मिलता है कि काफी लोग खुशहाल थे।

फिर भी, यह तथ्य विवाद से परे और सर्वमान्य है कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत का औद्योगिक विकास समकालीन विश्व स्तर के संदर्भ में काफी अधिक था। 1916-1918 के भारतीय औद्योगिक आयोग ने इस वक्तव्य के साथ अपनी रिपोर्ट शुरू की।

ऐसे समय जबकि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जनजातियां बसी हुई थीं, भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने शिल्पियों की अत्यंत कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था। और काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक विकसित यूरोपीय देशों से कम नहीं था।[5]

दूसरी विचारधारा साम्राज्यवाद के समर्थक इतिहासकारों की है, जो शुरू के दिनों में प्राय: एक प्रश्न किया करते थे और आज भी जिसे बहुधा दुहराया जाता है, हालांकि अलग-अलग अवस्थाओं में इस प्रश्न का स्वरूप बदला हुआ रहता है। इस तरह के इतिहासकार साम्राज्यवाद के वे पोषक तत्व हैं जो सवाल उठाते रहते हैं कि क्या भारत की जनता जैसी कोई चीज है? क्या उप-महाद्वीप जैसे विस्तारवाली विशाल भारतभूमि पर जातपांत की दीवारों तथा भाषा एवं अन्य दूसरे कारणों से अपने टुकड़ों में बंटे विभिन्न नस्लों और धर्मों के लोगों के विविधता पूर्ण जमघट जो, जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी व्यापक तौर पर भिन्नता है, एक 'राष्ट्र' माना जा सकता है या कभी वह एक 'राष्ट्र' बन सकता है? क्या यह बिल्कुल ही बदली हुई परिस्थितियों में पश्चिमी अवधारणाओं का स्थानांतरण नहीं है? क्या ऐसा नहीं है कि भारत में जो एकमात्र एकता है वह ब्रिटिश शासन के जरिए थोपी गई एकता है?

इस बुनियादी प्रश्न के प्रति जो दृष्टिकोण है वह कई अवस्थाओं से गुजरा है। पुराने मत के साम्राज्यवादियों ने भारतीय राष्ट्र की प्रत्येक धारणा को तिरस्कारपूर्ण ढंग से ठुकरा दिया और इसे कल्पनामात्र कहा। 20वीं सदी में राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति को देखते हुए भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को कम से कम साम्राज्यवादियों के उदार मतावलंबियों द्वारा व्यापक मान्यता

मिली। फिर यह दलील दी जाने लगी कि भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को मान्यता दिए जाने जैसी स्थितियों का विकास ब्रिटिश शासन की देन है और लोगों के मन में अंग्रेजों के उदारतावादी आदर्शों के घर कर जाने का नतीजा है। अभी बिल्कुल हाल के वर्षों में भारत की अधिकाधिक जनता में राजनीतिक जागरूकता के पैदा न होने और उनके बहुराष्ट्रीय चरित्र के बढ़ते हुए संकेत ने इस प्रश्न को एक नया आयाम दिया है। इस पहलू को, जिसे ठीक ही समझा जाता है कि यह किसी भी अर्थ में भारत की एकता के प्रतिकूल नहीं है, 'पाकिस्तान' के इस विशेष प्रचार अभियान द्वारा तोड़ा मरोड़ा गया है जिसमें हिंदुओं और मुसलमानों को 'दो राष्ट्र' के सिद्धांत के साथ जोड़ा गया है। बेशक, साम्राज्यवाद के समर्थकों ने इस बात की दलील का पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

साम्राज्यवादी इतिहासकार जॉन सीले की भी धारणा यही थी। उन्होंने लिखा कि भारत को एक राष्ट्र मानने की धारणा उस भद्दी भूल पर आधारित है जिसको राजनीतिशास्त्र मुख्यतया दूर करना चाहता है। भारत कोई राजनीतिक नाम नहीं है बल्कि वह यूरोप या अफ्रीका की तरह मात्र एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। वह किसी एक राष्ट्र या एक भाषा की सीमा रेखा को नहीं बल्कि अनेक राष्ट्रों और अनेक भाषाओं की सीमा का अंकन करता है।[6]

इस तरह के इतिहास लेखन में सरजॉन महाशयों की मंशाएं स्पष्ट थी कि वे भारतीय जनता के संघर्षों को जिसे वे आबादी के लिए शुरू करने की प्रक्रिया में थे या जो शुरू हो चुके थे उसे एक भद्दी भूल करार देना था। साम्राज्यवादी सोची समझी नीति के तहत उन प्रारंभिक दिनों में भारत के अस्तित्व को बड़े साफ शब्दों में नकारने की हरकतों के बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन की तीव्र धारा में कोई रुकावट नहीं आई और तब बादशाह कानूते के दरबारियों ने अपनी रणनीति बदल दी। अब यह दलील दी जाने लगी है कि साम्राज्यवाद द्वारा पहले तो नकारने और बाद में उसे समाप्त करने की असफल कोशिशों के बावजूद यदि आज भारतीय राष्ट्र जैसी कोई चीज है तो यह जाहिर है कि इसका श्रेय ब्रिटिश राज्य की उपलब्धियों को दिया जाना चाहिए जिसके कारण भारतीय राष्ट्र अस्तित्व में आया है।

इस तरह के रवैये के द्वारा भारत के इतिहास लेखन को स्थापित करने का मकसद स्पष्ट था। दरअसल इतिहास की ऐसी व्याख्या के द्वारा उन पाठकों के मन में, जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं है, यह धारणा तेजी से बैठाना था कि भारत में स्वशासन स्थापित करने की योजना असंभव है। इसका प्रभाव तो इतना पड़ा कि एक डब्लू नेसिंसन जैसे वामपंथी इतिहासकार भी एक समाजवादी पत्रिका में भारत के साथ पूरी सद्भावना रखते हुए यह समीक्षा कर डाला कि एक ऐसे छोटे महाद्वीप के अनुकूल संविधान या सरकार के स्वरूप की रचना (न कि आलोचना) के काम में अत्यंत दुस्तर कठिनाइयां है, जिसमें 560 देशी रियासतें (नाममात्र के लिए स्वतंत्र) हैं, 222 विभिन्न भाषाओं वाली जातियां हैं, दो प्रमुख और एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण धर्म हैं (अकेले ब्रिटिश भारत में 16 करोड़ 80 लाख हिंदू और 6 करोड़ मुसलमान), 1 करोड़ लोग ऐसे हैं जो जाति से निकाले गए हैं या 'उत्पीड़ित' हैं और जिन्हें 'अछूत' कहा जाता है। भारत के बारे में जो व्यक्ति कुछ जानना चाहता है उसे अपने अध्ययन शुरू करने के लिए इन ठोस तथ्यों को जानना होगा।[7]

संदर्भ ग्रंथ

1. तेवनियर, ट्रावेल्स इन इण्डिया, (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस संस्करण 1925) खण्ड 2 पृष्ठ 238।
2. एफ॰ एफ॰ कात्रू ''दि जनरल हिस्ट्री ऑफ दि मुगल इम्पायर'' वेनिस निवासी मनूची के मेमायर्स से उद्धत (जान बायर, लंदन, 1709)।
3. सर विलियम विलकाफ्स, लेक्चर्स आर्न दि एन्सियन्ट सिस्टम ऑफ इरीगेसन इन बंगाल, (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1993) पृष्ठ 18-19।
4. इन्डियन इन्डस्ट्रीयल कमीशन, 1916-18 की रिपोर्ट, पृष्ठ 249।
5. उपरोद्धत, पृष्ठ 6।
6. जॉन सीले, दि एक्सपैनसन ऑफ इंग्लैण्ड, 1883 पृष्ठ 254-57।
7. एच॰ डब्ल्यू॰ नेविंसन, लीडर 27 जून, 1930, (साइमन कमीशन की रिपोर्ट की समीक्षा के क्रम में)।

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की अवधारणा: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

विपिन चन्द्रा

सामाजिक न्याय आधुनिक जटिल समाज के अन्तर्गत उत्पन्न समस्याओं के निराकरण करने हेतु योग्य साधन होने के साथ ही साथ समकालीन दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक न्याय अवश्य ही एक नवीन अवधारणा है किन्तु इसका सम्बन्ध न्याय के परम्परागत सिद्धान्त से है। स्वतन्त्र भारतीय राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक न्याय की अवधारणा से जुड़े मूल्य के अनुरूप स्थापित की गयी है। इस कार्य में डॉ० भीमराव अम्बेडकर की महत्वपूर्ण व सराहनीय भूमिका रही है।

पाश्चात्य और पूर्वात्य दोनों ही राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत न्याय को अनिवार्य और सर्वश्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। किसी भी दार्शनिक या अवधारणात्मक चिन्तन का औचित्य इस पर आधारित होता है कि वह मानवीय समस्याओं के समाधान में किस मात्रा तक सफल है तथा इनकी प्रासंगिकता या उपयोगिता भी इसी आधार पर सुनिश्चित होती है।[1] प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित प्राप्य प्राप्त हो न्याय की यह परम्परागत व्याख्या सर्वमान्य रूप से स्वीकार की जाती है। अपने परम्परागत अर्थों में न्याय नैतिकता, कानून, धर्म, कर्तव्यपरायणता आदि मूल्यों से सम्बन्धित रहा है। यहाँ व्यक्ति के व्यक्तिक पक्ष को कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं था। उसे स्वयं के हितों को राज्य के विकास हेतु त्यागना पड़ता था और राज्य के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था। ऐसे में राज्य से पृथक होकर व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करना सम्भव नहीं था किन्तु वैज्ञानिकता के विकास और धार्मिक एवं बौद्धिक पुनर्जागरण व सुधार के परिणामस्वरूप न्याय का परम्परागत स्वरूप परिवर्तित हो गया और न्याय नये आधारों पर परिभाषित किया जाने लगा।

लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था में सामाजिक न्याय से सम्बद्ध दावों को मुख्यत: व्यक्तियों की सुरक्षा, जीवन जीने के लिए आधाभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, एक व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों से प्रतियोगिता करने हेतु अवसर की समानता, आधुनिक राज्य के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न लाभों के उचित भाग की उपलब्धता, राजनीतिक स्वतंत्रता और स्वतन्त्र परिवेश तथा विधि द्वारा शासन संचालन के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय–भारत में सामाजिक न्याय का सन्दर्भ नवीन है परन्तु भारतीय दार्शनिक परम्परा में इसकी मांग अपेक्षाकृत प्राचीन है। वेदों और स्मृतियों में सामाजिक न्याय को वसुधैव कुटुम्बकम् के दर्शन के सन्दर्भ में परिभाषित किया गया है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भ से ही एकता और विभिन्नता दोनों का सम्मिलित स्वरूप रहा है और इसे दार्शनिक परम्पराओं में भी स्वीकार किया गया है। परम्परागत भारतीय समाज धर्म पर आधारित वर्गीकृत और असमानताओं से व्यवस्थित थी। इन समाजों मे जो असमानताएँ विद्यमान थी वे सामान्यत: वर्ण-व्यवस्था और महिलाओं के सम्बन्ध में निर्योग्यताओं के रूप में दृष्टिगत थीं। चूँकि भारतीय परम्परा के अन्तर्गत धर्म और न्याय को एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्धित माना जाता था। इसलिए इन विभेदों और निर्योग्यताओं को विधिक व्यवस्था के रूप में शास्त्रों पर आधारित या रीति-रिवाजों द्वारा व्यवस्थित एवं समर्पित किया जाता था। ऋग्वेद के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था को परमब्रह्म के शारीरिक विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चर्तुवर्णों द्वारा निर्मित संस्था का उल्लेख किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था की स्थिति अच्छी रही तथा प्रत्येक वर्ण के लिए अधिक या कम निर्धारित स्थान, विशेषाधिकार और कर्त्तव्यों का निर्धारण करके न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाती थी। उस समय धर्म के आधार पर निर्धारित कार्यों को करना ही न्याय था तथा राजा से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी इसके अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य थे।[2] इस परंपरागत धर्म

व्यवस्था का मनु, गौतम, नारद आदि ने अपने दर्शन के माध्यम से उल्लेख किया है। इस न्याय व्यवस्था का विकास किसी लाभ या हानि के उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं किया गया अपितु तात्कालिक समय की परिस्थितियों और मानव कल्याण के उद्देश्य ने इसके विकास को सम्भव किया।[3] धर्म आधारित परम्परागत न्याय की अवधारणा को बाद के हिन्दू वंशावलियों द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। जिसके कारण न्याय व्यवस्था ने अपने मूल स्वरूप को खो दिया। धीरे-धीरे वर्णव्यवस्था में आये कठोरता ने इसे जन्म आधारित जाति व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया और इस व्यवस्था ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानवीय जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र ने व्यक्तियों के मध्य विभेद और असमानता को बढ़ाने का कार्य किया।

मुस्लिम शासन के समय में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का संचालन इस्लाम के पवित्र ग्रन्थ कुरान, सुन्ना और इज्मा के द्वारा किया जाता था, इतः इस समय भी सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म के इन चार स्तम्भों पर आधारित की गयी थी।[4] सम्पूर्ण न्यायिक निर्णय शरियत कानून के माध्यम से नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित होते थे। मुस्लिम शासन प्रणाली के अन्तर्गत गैर मुस्लिम व्यक्तियों की स्थिति मुस्लिम समुदाय की अपेक्षा दयनीय थी।[5] इस काल में शासन का मुख्य उद्देश्य स्वहित की सुरक्षा तथा हिन्दू जनसंख्या पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करता रहा।

ऐसे में मुस्लिम शासन ने उस भेदभावपूर्ण व्यवस्था को जो जाति, रंग, धर्म, वंश, भाषा व लिंग पर आधारित थी उसे और अधिक दृढ़ किया। इस सम्पूर्ण शासन काल में मुस्लिम शासन ने न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों मानवीय प्रतिष्ठा, समानता और बन्धुत्व के स्थान पर विभेद व अन्याय को बढ़ाया तथा जिससे सामाजिक न्याय अपनी पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके।

औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय से सम्बन्धित कोई महत्वपूर्ण सुधार दृष्टिगत नहीं हुआ। अंग्रेजों के द्वारा मुगलकालीन शासन व्यवस्था से चले आ रहे असमानताओं को न सिर्फ यथावत बनाये रखा गया बल्कि इन्हें और अधिक जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया। उन्होंने भारतीय समाज को सामाजिक आधारों के साथ-साथ आर्थिक आधारों पर भी विभाजित कर दिया था। औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक व आर्थिक हितों को पूर्ण करते हुए भारत में साम्राज्यवाद का विस्तार करना था, अतः इस समय सामाजिक न्याय के संदर्भ से जुड़े स्वतन्त्रता, समानता और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया।[6] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन काल में सामाजिक न्याय को स्थापित करने हेतु कोई ठोस राजनैतिक प्रयत्न नहीं किया गया।

लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि अनेक भारतीयों ने इस समस्या के वास्तविक समाधान के आधार को ढूंढ़ने का प्रयास किया। औपनिवेशिक भारत में सामाजिक न्याय की सबसे प्रबल मांग अम्बेडकर के विचारों में दिखाई पड़ती है, अतः सामाजिक न्याय से जुड़े भारतीय संदर्भ को समझने के लिए अम्बेडकर के चिन्तन व प्रयासों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

भीमराव अम्बेडकर और सामाजिक न्याय–

प्रजातांत्रिक मूल्य के रूप में सामाजिक न्याय राजनीतिक समानता–स्वतंत्रता व एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकारता है। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार न्याय सामान्यतः स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भाव का ही दूसरा नाम है।[7] उनके सामाजिक न्याय की धारणा का भी यही आधारभूत विचार है। संविधान का मुख्य निमार्ता होने के नाते न्याय, स्वतंत्रता, समानता भातृभाव और व्यक्ति की गरिमा को मूल्यों पर निर्धारित किया।

अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए जो पारस्परिक मान-सम्मान, मैत्रीभाव, समान नागरिक होने की उत्कण्ठा राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी आदि पर आधारित हो।

अम्बेडकर ने अपनी सामाजिक न्याय की धारणा के अनुरूप, उन सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया, जिन्हें उन्होंने वर्णव्यवस्था, प्लेटो की योजना, अरस्तू के चिन्तन, नीत्शे के विचार, दैविक कानून, मध्यकालीन दृष्टिकोण, मार्क्सवादी सर्वहारा समाजवाद और गांधी के सर्वोदय समाज में अंतर्निहित पाया। उन्होंने सामाजिक न्याय के वर्णाश्रमवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया, क्योंकि उसने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए कर्तव्य निर्धारित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धान्त मान लिया। प्लेटो के योजना में भी न्याय को एक ही वर्ग के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। समस्त-राज-सत्ता बौद्धिक वर्ग (दार्शनिक राजा) को सौंपने का प्रस्ताव रखा गया, क्योंकि इसी वर्ग के लोग सक्षम, योग्य और

स्वभावत: विवेकशील एवं न्याय प्रिय समझे गये। अरस्तू ने वर्णव्यवस्था की भाँति सभी नागरिकों को एक ही वर्ग की सेवा में अर्पित कर दिया। नीत्शे ने समस्त न्याय को अतिमानव की कृपा व इच्छा का विषय मान लिया, जो कुछ अतिमानव कहता है वही शुभ, उचित और न्याय है। अम्बेडकर ने कहा कि वह शक्ति की इच्छा, हिंसा, आध्यात्मिक मूल्यों का निषेध अतिमानव तथा बलिदान सामान्य आदमी की दासता और पतन के साथ जुड़ गया है।[8]

दैविक कानून के आधार पर कुछ ईश्वरवादी धर्मों तथा धर्मशास्त्रियों द्वारा जिस प्रकार के सामाजिक न्याय की तलाश की गई उसे भी अम्बेडकर ने अमान्य कर दिया जिसमें कहा गया कि सभी लोग ईश्वर के समक्ष समान है और ईश्वर ही उन्हें न्याय देगा, क्योंकि इस प्रकार की समानता एवं न्याय कोरी कल्पना के सिवाय कुछ नहीं है।

सामाजिक न्याय की मार्क्सवादी धारणा भारत के पद्दलित, कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण लगती है। इस धारणा में शोषितवर्गों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों को अच्छे ढंग से दर्शाया गया है। लेकिन अम्बेडकर ने इस धारणा को भारतीय सामाजिक स्थिति में उपर्युक्त नहीं पाया, क्योंकि उसमें आर्थिक तत्व पर अधिक बल दिया गया है। न्याय की प्रभावी प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को आवश्यक माना गया है, धर्म की भूमिका का निषेध किया गया है।

गांधीजी का सर्वोदय सामाजिक न्याय का आदर्श निश्चय ही धर्म से जुड़ा हुआ है। आर्थिक तत्व पर अधिक बल नहीं है और तानाशाही का भी निषेध है लेकिन अम्बेडकर ने इसे पूर्णत: अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसका मूलाधार वर्णाश्रम धर्म है, उसमें न्याय की रख-रखाव की प्रक्रिया में दरिद्रनारायण की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है एवं उसने आर्थिक न्याय के लिए जिस न्यासिता के आदर्श को प्रस्तावित किया गया है वह भेड़िया को मेमना की रखवाली करने के समान है अर्थात् पूंजीपति धन सम्पत्ति के स्वामी न होकर सामाजिक हित में उसके प्रबंधक न्यासी होंगे जो भारतीय परिस्थिति में संभव नहीं है। यह मूलत: उस सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराना था जो हिन्दू समाज दर्शन में निहित है।

अम्बेडकर के अनुसार धर्म उन सिद्धान्तों से निर्मित होना चाहिए जो सार्वभौमिक रूप से लागू करने योग्य हो न कि व्यक्ति व समुदाय की स्वतंत्रता को समाप्त करने वाला व असमानता को बढ़ावा देने वाला हो।[9] वस्तुत: अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में वर्णाश्रम की भावना और ईश्वर की संकल्प की भूमिका को आधार नहीं बनाया। उन्होंने तो संवैधानिक शासन, कानून, धर्म और नैतिकता को सामाजिक न्याय का आधार स्वीकार किया।

अम्बेडकर का सामाजिक न्याय, न्याय की वह विराट धारणा है जिसमें विधिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्राकृतिक सभी प्रकार के न्याय समाहित है। गरीबी, बेगार, दरिद्रता मिटाना, स्त्रियों को समान प्रतिष्ठा देना, सम्पत्ति एवं कृषक झगड़ों का निपटारा, अभावग्रस्त लोगों को विधिक सहायता देना, पिछड़े वर्ग के लोगों को आरक्षण, राजनीतिक अधिकारों को कमजोर वर्ग के लोगों को सुलभ कराना तथा धार्मिक सद्भावना कायम रखना, ये सब सामाजिक न्याय के ही विभिन्न पक्ष हैं जिनकी सम्पूर्ति समाज व्यवस्था को न्यायोचित बनाने में सहायक सिद्ध होती है। इसलिए अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय को एक व्यापक धारणा मानकर उस पर अधिक बल दिया।

अम्बेडकर के अनुसार स्वतंत्रता व समानता सम्बन्धी जो अधिकार दलितों से अतीत में छीन लिये गये थे उन्हें महात्मा गांधी के सवर्णों के हृदय परिवर्तन व सामाजिक सुधार से सम्बन्धित कार्यक्रमों से नहीं बल्कि कठोर संघर्ष के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। अत: दलितों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति पैदा करने के लिए उन्होंने स्थापना 1920 में मूक नायक, 1927 में बहिष्कृत भारत पाक्षिक पत्रों के प्रकाशन की पहल की। 1927 से 1930 ई० के मध्य उन्होंने दलितों को सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया, इनमें चवदारताल से पानी लेने सम्बन्धी महादसत्याग्रहसहित अम्बादेवी ठाकुर द्वारा गणपति प्रांगण तथा कालाराम मंदिरों में प्रवेश के लिए किये गये आन्दोलन मुख्य हैं।

उनका मानना था कि विश्व के अधिकांश देशों में निम्नवर्ग के व्यक्ति प्रारम्भ से ही विद्यमान रहे हैं, जैसे–रोम में दास, स्पार्टा में हेलोट्स, ब्रिटेन में विलियन, अमेरिका में नीग्रो आदि इन समस्त निम्नवर्गों का समापन हो चुका है किन्तु अछूतों से संबन्धित समस्याओं का आज तक कोई उचित समाधान नहीं हो सका, जिनकी संख्या 60 मिलियन से भी ज्यादा है।[10]

शिक्षा के प्रति दलितों के उद्धार का सशक्त माध्यम मानते हुए उन्होंने 1924 में बहिष्कृत हितकारिणी सभा, 1928 में डिपरेस्डक्लास एजुकेशन सोसायटी तथा 1946 में पीपुल्स एजुकेशनल सोसायटी की स्थापना की। दलितों में शिक्षा के

प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से ही पीपुल्स एजुकेशनल सोसायटी के अन्तर्गत उन्होंने मुम्बई में सिद्धान्त कालेज (1946) तथा औरंगाबाद में मिलिंद कॉलेज (1951) की स्थापना की।

अम्बेडकर का विचार था कि दलितों को न्यायपूर्ण अधिकारों की प्राप्ति और स्वयं के हितों की रक्षा करने हेतु राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति आवश्यक है, क्योंकि राजनैतिक शक्ति पर आधिपत्य हो जाने से यह वर्ग अपने आर्थिक व सामाजिक हितों की रक्षा करने में स्वयं सक्षम हो जायेगा। दलितों में राजनीतिक जागृति लाने के उद्देश्य से उन्होंने 1927 में समता सैनिक दल की स्थापना की, श्रमिकों व दलितों को एक संयुक्त ईकाई के रूप में संगठित करने के प्रयास से 1936 में तथा अम्बेडकर ने स्वतंत्र लेबर पार्टी के नाम से एक नये दल की स्थापना आल इंडिया सेड्यूल क्लास फेडरेशन की स्थापना 1942 में की। 1938 में मुम्बई विधि सभा द्वारा पारित विधेयक, जिसके द्वारा मजदूरों के हड़ताल करने से सम्बन्धित अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, इस विधेयक पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, हड़ताल स्वतंत्रता का अधिकार हैं यह विधेयक मजदूरों की नागरिक स्वतंत्रता पर पाबंदी लगाने वाला पाश्विक व प्रतिगामी है। इस विधेयक ने जनतंत्र का मजाक उड़ाया है।[11] 1942 से 1946 तक ब्रिटिश भारत की वायसराय काउन्सिल के लेबर मेम्बर के रूप में डॉ० अम्बेडकर ने महिला व पुरुष श्रमिकों के हितों की रक्षा करने से सम्बन्धित जैसे बेरोजगारों को रोजगार प्रदान करना, श्रमिकों के वेतन, सामाजिक सुरक्षा व मजदूरी से सम्बन्धित उस समय के श्रम नियमों में संशोधन करने व उनको सुरक्षा प्रदान के लिए कई योजनाएँ बनाई। साउथवोरो समिति, साइमन कमीशन, मुम्बई लेजिस्लेटिव काउन्सिल, गोलमेज सम्मेलन व संविधान सभा में जब कभी भी डॉ० अम्बेडकर को बोलने का अवसर प्राप्त हुआ, उन्होंने दलित व अल्पसंख्यकों के पक्ष को पूरे सशक्त रूप में प्रस्तुत किया।

भीमराव अम्बेडकर भारतीय समाज में महिलाओं को न्याय प्रदान करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। वह हिन्दू समाज में सती प्रथा के विरुद्ध संघर्ष, विधवा पुनर्विवाह व छोटी उम्र के महिलाओं का पुनर्विवाह के समर्थक थे। प्रथम कानून मंत्री के रूप में उन्होंने हिन्दू कोड बिल का निर्माण किया, जिसके द्वारा भारतीय महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार किया जा सके।[12] यद्यपि यह बिल पास न हो सका किन्तु इस बिल के आधार पर भारतीय संविधान में हिन्दू विवाह कानून, हिन्दू विच्छेद कानून, हिन्दू दत्तक अधिकार व रख-रखाव कानून, हिन्दू अल्पसंख्यक व अभिभावक कानून पास किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप महिलाओं की स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार किये जा सके।

सामाजिक न्याय को अम्बेडकर ने चूंकि समता एवं भ्रातृभाव से जोड़ा इसलिए वह सम्पूर्ण समाज का कार्यात्मक रूप है। सामाजिक न्याय समूचे राष्ट्र की सीमाओं को छूता है और उसमें रहने वाले समस्त नागरिकों को बंधुत्व में बांधने का प्रयास करता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय की अवधारणा सर्वसमाहित और सम्पूर्ण समाज व्यवस्था का संचालन है। इसी कारण अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय पर अत्यधिक बल दिया और कहा कि "भारत में समाज व्यवस्था को न्याय, स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों पर निर्मित किया जाना चाहिए जो सामाजिक न्याय के प्रमुख तत्त्व हैं। यह कोई एक व्यक्ति, जाति, समुदाय या धर्म का मुद्दा नहीं है। सामाजिक न्याय एक गतिशील अनवरत चलने वाला आन्दोलन है जिसे भलीभाँति संचालित करने के लिए ज्ञान, कर्म और धैर्य की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. Paul Wiethman, Jhon Rawls : A Remembrance, the Review of Politics, Vol. 65, No. 1 (Winter 2003), p. 6
2. Dunchan, M. Derret : Religion, Law and State in India (1968), pp. 97-98
3. Kamal Jeet Singh : Distributive Justice in India, Chapter-2, p. 46
4. M.B. Ahmed : Administration of Justice in Medieval India (1941), p. 70
5. Paras Diwan : Muslim Law in Modern India (1982), p. 17
6. Prabha Chawla : Equality and Justice in East and West, (1989), pp. 87-88.
7. बाबा साहब अम्बेडकर : रायटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड 3 (1987), पृष्ठ 25
8. डी०आर० जाटव : सामाजिक न्याय का सिद्धान्त (1993), पृष्ठ 72-79
9. Mohammad Shabbir (Ed.) : B.R. Ambedkar, Study in Law and Society (1997), p. 86
10. डॉ० सूर्यनारायण रणस्रभे : डॉ० बाबा साहब अम्बेडकर, (2006), पृष्ठ-98

शोधप्रज्ञ, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

ऋग्वैदिक काल में राजतंत्र, राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन

राजकुमार प्रसाद

आर्य विभिन्न जनों में विभक्त थे। प्रत्येक जन का एक नेता या राजा होता था। यही 'राजा' वैदिक युग के राष्ट्र या जनपद का मुखिया होता था। सामान्यतया, राजा का पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद राजा के पद को प्राप्त करता था। वैदिक युग में प्रजा जिस व्यक्ति को राजा के पद पर वरण करती थी, उससे वह यही आशा रखती थी, कि वह ध्रुवरूप से राष्ट्र का शासन करेगा। राजा को किसी निश्चित अवधि के लिए राजा नहीं बनाया जाता था। इसीलिये अथर्ववेद में कहा है– हे राजन्, तू सुप्रसन्न रूप से राष्ट्र में दशमी अवस्था तक शासन करता रहे। 90 साल से ऊपर की आयु को 'दशमी' अवस्था कहते हैं। वैदिक काल में राजा से यही आशा की जाती थी कि वह दशमी अवस्था तक (अर्थात् वृद्धावस्था तक) राष्ट्र के शासन का संचालन करता रहेगा। लेकिन ऐसे अवसर भी उपस्थित हो सकते थे, जबकि राजा दशमी अवस्था तक राष्ट्र का शासन न कर सके। कतिपय कारणों से राजा को निर्वासित भी किया जा सकता था, किंतु यदि जनता उसे राजा के पद पर पुनः अधिष्ठित करना चाहे तो उसे निर्वासन से वापस भी बुलाया जा सकता था। विश या प्रजा जिस राजा का वरण करती थी, उससे वह कतिपय कर्तव्यों के पालन की आशा भी रखती थी। राजा के ऊपर विश का अंकुश रहता था।

राजा के मुख्यतः दो कर्तव्य थे– प्रथम, युद्ध में नेतृत्व करना और दूसरे, कबीले की रक्षा करना। युद्ध की आवश्यकताओं के अनुकूल राजा का पद था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में विश समिति में एकत्रित होकर राजा का चुनाव करती थी। वैदिक साहित्य में दी गयी वंशावलियों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का पद वंशानुगत था और पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था। इस आधार पर गैल्डनर महोदय का मत है कि जन साधारण द्वारा राजा का चुनाव औपचारिकता मात्र था। इस बात का द्योतक यह औपचारिकता भी है कि उत्तराधिकारी के निर्णय में जनमत की भूमिका थी। ऋग्वैदिक काल में प्रशासन का लोकप्रिय स्वरूप राजतंत्रात्मक था। संभवतः कुछ गैर-राजतंत्रात्मक राज्य भी थे। ऋग्वेद में इसे **गण** कहा गया है एवं इसका प्रमुख ज्येष्ठक या गणपति होता था। इस तरह यहाँ गणतंत्र का प्रारंभिक उल्लेख मिलता है। राजा की स्थिति स्पष्ट नहीं थी और राजा की पहचान उसके कबीले से होती थी।

राजा को 'जनस्य गोप्ता' तथा दुर्ग का भेदन करने वाला (पुराभेत्ता) कहा जाता था। इनके अतिरिक्त राजा की निम्नलिखित उपाधियाँ भी प्राप्त थीं, यथा–विशाम्पति, गणनांगणपति, ग्रामिणी आदि। कबीले के लोग स्वेच्छा से राजा को एक कर देते थे। इसे बलि कहा जाता था। संभवतः इस बलि की दर कुल उत्पादन के 1/16 से 1/10 भाग तक थी। इसके अलावा कुछ कबीलाई संस्थाएँ अस्तित्व में थीं। सभा, समिति, विदथ और गण। अथर्ववेद के अनुसार सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं। मैत्रायणी संहिता के अनुसार सभा में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती थीं। सभा में भागीदारी करने वाले को 'समये' कहा जाता था। इसके सदस्य श्रेष्ठ जन होते थे और उन्हें 'सुजात' कहा जाता था। सभा के कुछ न्यायिक कार्य भी थे। ऋग्वेद में आठ बार 'सभा' की चर्चा की गयी है। संभवतः राजा का निर्वाचन समिति करती थी। समिति के अध्यक्ष को पति या ईशान कहा जाता था। कुछ विद्वानों का मानना है कि राजा ही समिति का अध्यक्ष होता था। ऋग्वेद में नौ बार समिति की चर्चा हुयी है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समिति में राजकीय विषयों की चर्चा होती थी तथा सहमति से निर्णय लिया जाता था। जीमर ने सभा को ग्राम संस्था एवं समिति को केंद्रीय संस्था कहा है। पंचालों के राजा प्रवाहण जैवलि ने समिति के समक्ष पाँच प्रश्न रखे, इनका वह उत्तर न दे पायी। अतः संभवतः समिति राष्ट्रीय अकादमी की तरह भी काम करती थी। रॉथ के अनुसार 'विदथ' संस्था सैनिक, असैनिक तथा धार्मिक कार्यों से संबद्ध थी। यही वजह है कि के.पी. जायसवाल विदथ को एक मौलिक बड़ी सभा मानते हैं, जो आगे चलकर सभा, समिति एवं सेना में विभक्त हो गयी। रामशरण शर्मा इसे आर्यों की प्राचीनतम संस्था मानते हैं। विदथ का महत्वपूर्ण दायित्व था।

'प्रथम वितरक' त्वष्ट्रि को कहा गया है। जिन ऋभुजनों की सभा का वह प्रधान था, उन्हें वितरण के काम में लगे होने के कारण स्वैच्छिक वितरक की संज्ञा दी गयी। इसी बात से विदथ का महत्व आंका जा सकता है कि जहाँ ऋग्वेद में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार और समित का नौ बार हुआ है, वहीं विदथ शब्द का उल्लेख 122 बार हुआ है। यद्यपि विदथ के महत्व में परवर्तीकाल में कमी आयी, तथापि सभा और समिति के सापेक्ष में इसका भी महत्व बरकरार रहा। सभा शब्द अथर्ववेद में सत्रह बार और समिति शब्द तेरह बार आया है, वही विदथ का प्रयोग 22 बार हुआ है। इसी प्रकार 'गण' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में 46 बार तथा अथर्ववेद में 9 बार हुआ है। इस तरह कुछ मायने में ऋग्वैदिक राजनीतिक संस्थायें लोकतांत्रिक प्रतीत होती हैं।

प्रशासन

ऋग्वैदिक काल में राज प्रणाली एवं प्रशासन अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी। इस काल की अर्थव्यवस्था चूंकि एक निर्वाह अर्थव्यवस्था थी, जिसमें अधिशेष के लिए बहुत कम गुंजाइश थी। अत: करारोपण प्रणाली भी स्थापित नहीं हो पायी तथा राजकीय अधिकारियों की संख्या भी सीमित थी। अपने दायित्व निर्वाह के बदले राजा को प्रजा से बलि या कर पाने का अधिकारी माना जाता था। यह राजा को स्वेच्छापूर्वक दिया गया उपहार होता था। प्रारंभ में राजा को प्रजा से नियमित कर नहीं मिलते थे। अत: इन्द्र से प्रार्थना की गयी कि वह राजकर देने के लिए प्रजा को विवश करे। नियमित करों की प्रथा कालांतर में उत्तरवैदिक काल में प्रतिष्ठित हुई। समाज की सबसे बड़ी इकाई राज्य के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग मिलता है। जन शब्द का 275 बार ऋग्वेद में प्रयोग हुआ है, पर जनपद शब्द का एक बार भी नहीं। 'कुल' राज्य का आधार थे, जिन्हें 'संजाति' एवं 'सनाभि' (एक नाभि से उत्पन्न) कहा गया है तथा अन्य राष्ट्र के लिए 'अनाभि' या 'अरण' शब्द आया है।

प्रारंभ में जन अनवस्थित एवं संचरणशील थे अर्थात् ग्राम के ग्राम अपने पशुओं के साथ संचरण करते थे। समय क्रम से आर्य स्थायी रूप से निवास करने लगे। अत: कुलों के स्थायी होने से ग्राम एवं जनपदों से राष्ट्र का प्रारूप सामने आया। समाज, 'कुल' (परिवार); ग्राम 'विश्' तथा 'जन' या 'राष्ट्र' के रूप में विभक्त था। पर यह जानकारी नहीं मिलती है कि परिवार या कुल में कितनी पीढ़ी तक लोग एक साथ रहते थे, तथापि कीथ की धारणा है कि तीन पीढ़ी तक एक परिवार या कुल के सदस्य साथ-साथ रहते होंगे। इसी तरह कीथ के अनुसार उस समय ऐसी प्रथा भी नहीं होगी कि माता-पिता की मृत्यु के बाद अलग रहा जाये, संभवत: उस काल में भूमि अथवा संपत्ति के प्रति अधिक लगाव नहीं रहा होगा, क्योंकि कृषि भूमि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। परिवार एवं कुल में साथ रहने का उद्देश्य मात्र पारस्परिक सहयोग एवं सहायता था। कुल का संरक्षक कुलप कहलाता था। कुलप के अनुशासन को मानते हुए परिवार के समस्त सदस्य एक ही गृह में निवास करते थे। विभिन्न परिवारों के समुदाय से ग्रामों का आविर्भाव हुआ। ग्राम स्वशासी एवं आत्मनिर्भर थे तथा ग्रामीण लोगों के हितों की रक्षा का दायित्व 'ग्रामणी' नामक पदाधिकारी का होता था। वह युद्ध काल में राजा की सहायता भी करता था एवं युद्ध काल के अतिरिक्त ग्राम का सामान्य प्रशासन देखता था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ग्रामणी सैनिक, आर्थिक तथा सामाजिक आदि सभी मामलों में ग्राम का प्रमुख था और संभवत: ग्राम से 'कर' या 'बलि' भी वसूल करता होगा। राजा को 'बलि हृन्त' (बलि कर को अपद्वत करने वाला) कहा गया है। ग्राम के लोगों को गोधन के लिए उत्सुक कहा गया है। अनेक ग्रामों से मिलकर बने उपजिला का स्पष्ट वर्गीकरण ऋग्वेद में नहीं मिलता। जन के सदस्यों को सामूहिक रूप से 'विश' कहा जाता था। ऋग्वेद में इसका 170 बार उल्लेख है। ग्राम से बड़ी इकाई विश स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि इसके मुखिया विशपति का उल्लेख मिलता है। इसके अलावा पुरप (दुर्गपति), स्पश (गुप्तचर) नामक अधिकारी होते थे। राजा के मंत्रियों में 'पुरोहित' का महत्वपूर्ण स्थान था। उसे राजा का प्रमुख परामर्शदाता माना जाता था एवं यह धारणा प्रचलित थी कि उसकी प्रार्थना 'राजा' तथा 'जन' की रक्षा करती है। पुरोहित युद्ध के समय राजा की विजय के लिए प्रार्थना ही नहीं करता था, बल्कि युद्ध में भी भाग लेता था। पुरोहित द्वारा राजा एवं उसके परिवार के धार्मिक कृत्यों के निष्पादन किये जाने के बदले उसे दान मिलता था। कीथ ने वैदिक पुरोहित को वैदिक राजनीति का अग्रज कहा है।

प्रारंभिक वैदिक राज्य में विश्वामित्र एवं वशिष्ठ जैसे पुरोहितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पुरोहित शान्ति तथा युद्ध दोनों अवस्थाओं में राजा का शिक्षक, पथ प्रदर्शक, मित्र तथा राजनीतिक एवं धार्मिक परामर्श-दाता होता था। राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य युद्ध में विजय के लिए सैन्य संचालन करना था और सेनानी नामक मंत्री उसे इस कार्य में सहयोग प्रदान करता था। राजा की प्रमुख योग्यता युद्ध में नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता मानी गयी थी। स्मरणीय है कि तत्कालीन युद्धों का प्रमुख

कारण एक दूसरे के क्षेत्र पर अधिकार करने की कामना के साथ पशु धन की प्राप्ति भी था। पशुधन की प्राप्ति के लिए उस काल में युद्ध इतने सामान्य थे कि ऋग्वेद में युद्ध के लिए 'गविष्टि', 'गोषु', 'गवेषण', 'गव्यत' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। सामान्यत: पैदल एवं रथारोही सेना में होते थे। इसके अतिरिक्त अश्वरोहियों का अस्तित्व भी रहा होगा। रथों का युद्धों में विशेष महत्व था। राजा तथा प्रमुख योद्धा रथों पर सवार होकर युद्ध करते थे। योद्धा सुरक्षा की दृष्टि से कवच एवं शिरस्त्राण युद्ध में धारण करते थे, जिनके लिए क्रमश: 'वर्म' एवं 'शिप्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है। वैदिक मंत्रों में विविध अस्त्र-शस्त्रों का विवरण मिलता है। युद्ध काल के प्रमुख शस्त्र धनुष बाण थे, किंतु परशु, भाला (सृक्ति) और तलवार का प्रयोग भी किया जाता था। बाणों का आगे का सिरा सींग अथवा धातु से मढ़ दिया जाता था। विष युक्त बाण भी कभी-कभी प्रयोग में लाये जाते थे। युद्ध के दौरान विभिन्न प्रकार की व्यूह रचनाएँ की जाती थीं। 'शर्ध', 'गण' एवं 'व्रात' आदि शब्द संभवत: विविध प्रकार की व्यूह रचनाओं को इंगित करते हैं। प्राय: नदियों के किनारे युद्ध आयोजित होते थे। दशराज्ञ युद्ध पुरुष्णी नदी (रावी) तट पर लड़ा गया था। ऋग्वेद में 'पुर-चरिष्णु' का उल्लेख मिलता है, जिसका तात्पर्य दुर्गों को गिराने के प्रयोग में लाया जाने वाला कोई उपकरण रहा होगा। सेनापति युद्ध संबंधी मामलों में राजा का सहयोग करता था। सेनापति की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। राजा की सहायता से सेनापति सेना का गठन करता एवं युद्ध की योजना बनाता था। सेनानी के पद के विषय में जी.एस.पी मिश्र की मान्यता है कि वह अधिकारी राज्य के अधिक संस्थागत हो जाने के पश्चात् अस्तित्व में आया होगा। 'कुलपति' परिवार का यह मुखिया होता था, 'विशपति' विश का प्रधान होता था। 'व्राजपति'-चरागाह का अधिकारी होता था। 'ग्रामणी' ग्राम का प्रधान था और युद्ध में ग्राम का नेतृत्व करता था। साथ ही यह युद्ध में कुलप को संगठित कर युद्ध मैदान में ले जाता था। यह स्पर्श गुप्तचर होता था। यह दूत विभिन्न राजनीतिक इकाइयों को एक दूसरे के विषय में सूचित करता था। यह दुर्ग का अधिकारी होता था। सबसे बड़ा अपराध पशु-चोरी को माना जाता था। वेतन सोने, चांदी, अन्न, वस्त्राभरण या पशुधन के रूप में दिया जाता था।

न्याय व्यवस्था

राजा देश का सर्वोच्च न्यायाधीश था। इस काल में विचारकों ने विधि या धर्म की सर्वोच्चता की घोषणा ही नहीं की थी, वरन् राजसत्ता द्वारा इसके पालन पर भी जोर दिया था। ऋग्वेद में विधि अथवा व्यवहार के लिए 'धर्मन्' (बाद में 'धर्म') शब्द का प्रयोग हुआ है। आगे जाकर धर्म के अनेक उपादान विधि के अंग बन गये। धर्म या विधि के स्वरूप तथा सर्वोच्चता की परिभाषा सामाजिक संदर्भ में की गयी है, क्योंकि धर्म एवं विधि का मूल मानव समाज है। व्यक्ति नैसर्गिक रूप में समाज में धर्म से अनुप्राणित होकर व्यवस्था बनाये रखता है अथवा दंड के भय से व्यवस्था को स्वीकार करता है। 'धर्म' इस प्रकार प्रारंभ में ऐसे नियमों का संग्रह प्रतीत होता है, जिसके अनेक प्रावधानों ने बाद में विधि का स्वरूप ग्रहण कर लिया था और वे प्रावधान प्रारंभ में समाज की व्यवस्था तथा नैसर्गिक नियमों के द्योतक थे।

वेदों की ऋचाओं में पाप और अपराध परस्पर संबद्ध दिखायी देते हैं। 'ऋत' या 'धर्म' के विपरीत किया गया कार्य अपराध माना गया। इस काल में चोरी, सेंधमारी, डकैती एवं पशु अपहरण मुख्य अपराध थे। हत्या का दंड द्रव्य के रूप में दिया जाता था। उच्च श्रेणी के व्यक्ति की हत्या का दंड द्रव्य के रूप में 100 गायों तक लिया जाता था, जो मृतक के संबंधियों को प्रदान किया जाता था। वरदेय (बदला चुकाने की प्रथा) का प्रचलन था, जिसके लिए शतदाय (100 गायों का दान) सदृश विशेषण का प्रयोग होता था। इसका तात्पर्य यह था कि वह व्यक्ति जिसके जीवन मूल्य की बराबरी 100 गायें करती थीं। दिवालिये को ऋणदाता का दास बनाया जाता था। छोटे-छोटे विवादों का निर्णय ग्राम पंचायत करती थी। अग्नि परीक्षा, जल परीक्षा अथवा सन्तप्तपरशु परीक्षा के उदाहरण मिलते हैं।

संदर्भ

- The Ancient History of India (Vedic Period) : A New Interpretation/KC Singhal and Roshan Gupta.
- Administrative System in India (Vedic Age to 1947)/U.B. Singh
- Jurisprudence in India : Through the Ages/D.D. Aggarwal
- Facets of Vedic Studies/edited by Bidyut Lata Ray.

आधुनिक भारत में निम्न जातीय आन्दोलन

डॉ. संजय कुमार वर्मा

19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे निम्न जातियों में जातीय चेतना जगी और उन्होंने जातीय समानता प्राप्त करने का भार अपने ऊपर ले लिया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में भिन्न-भिन्न जातीय आन्दोलन आरम्भ हुए। अंग्रेज़ों की 'बांटो और राज करो' की नीति के फलस्वरूप, पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण, एक समान दण्ड संहिता (1861) तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता (1872) के लागू होने से, रेलों के विस्तार से (जिनमें प्रत्येक व्यक्ति टिकट खरीद कर किसी भी उपलब्ध स्थान पर बैठ सकता था), राष्ट्रीय जागरण के विकसित होने से, समानता तथा सामाजिक समतावाद पर आधारित आधुनिक राजनैतिक विचारों के प्रसार, सभी ने एक ऐसा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण बना दिया, जिसमें जाति-पाँति प्रथा को न्यायसंगत कहना असम्भव हो गया। इसीलिए निम्न जातियों में ऐसे नेता उभरे, जिन्होंने स्वयं इन समानता के आन्दोलनों का नेतृत्त्व किया। दक्षिणी भारत में निम्न जातीय आन्दोलन मद्रास प्रान्त में स्पष्ट: ब्राह्मणीय प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह था। 1916 में निम्न जातियों के एक प्रवक्ता ने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में भेजे मद्रास प्रान्त के 15 सदस्यों में से केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था, जो ब्राह्मण नहीं था। यह प्रचार भी निम्न जातियों के कुछ नेताओं ने किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे और आर्य लोग बाहर से आये और अपने साथ वर्ण-व्यवस्था जैसी बुरी प्रथा लाए।

न्याय दल (जस्टिस पार्टी)–1917 में श्री पी. त्यागराय तथा डॉक्टर टी.एम. नैयर ने प्रथम इत्तर-ब्राह्मण संस्था गठित की, जिसका नाम था **दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ,** जिसे कालान्तर में प्राय: **'न्याय दल'** कहने लगे। **रामास्वामी नैकर** (1879-1973) 1937 में इस न्याय दल के सभापति चुने गए। नैकर सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयोद्धा थे, उन्होंने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के विरुद्ध अभियान चलाया। नैकर ने हिन्दू धर्म की भर्त्सना की और कहा कि यह ब्राह्मणों के नियन्त्रण का एक साधन है और मनु के विधान को 'अमानुषी' और पुराणों को 'परियों की कथाएँ' की संज्ञा दी। नैकर ने हिन्दू देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाई और यह कहा कि कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं, जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अन्त ही करना होता है ब्राह्मणीय हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।" धर्म को नैकर ने बेकार माना और हिन्दी भाषा को द्रविड़ों पर थोपने का विरोध किया। क्रोधी स्वभाव का तो वह था ही, नैकर ने होटलों के नाम पट्टों पर जातिवाचक शब्दों को तारकोल से मिटाने का प्रयत्न किया, ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत को तोड़ा, तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों को चप्पलों से पीटा। इस तरह नैकर का कार्य काफी प्रतिक्रियावादी था।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.)–नैकर के अनुयायी तथा मित्र **श्री. सी. एन अन्नादुरै** (1909-1969) ने द्रविड़ आन्दोलन को आगे बढ़ाया। अन्ना (बड़ा भाई) काँचीपुरम की एक **तंतवाय** जाति से थे। न्याय दल का नाम बदलकर 'द्रविड़ कड़गम' (द्रविड़ संघ) 1944 में कर दिया गया। सितम्बर 1949 में दल में विभाजन हो गया और अन्ना ने अपने दल का नाम **'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम'** (द्रविड़ प्रगतिवादी संघ) रख लिया। अन्ना 1962 में राज्य सभा के लिए चुन लिए गए। 1967 के आम चुनावों में इस दल ने तमिलनाडु में प्रथम द्रमुक सरकार बनाई, जिसमें अन्नादुरै मुख्यमंत्री बने। भारतीय एकता के अन्ना विरुद्ध नहीं थे, परन्तु वह राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता माँगते थे।

एस.एन.डी.पी.–दक्षिण के एक अन्य नेता केरल में थे, जो **एझवा** (एक अस्पृश्य) जाति से थे। श्री **नारायण गुरु** (1854-1928) ने केरल तथा केरल के बाहर कई स्थानों पर **एस.एन.डी.पी. (श्री नारायण धर्म परिपालन योगम)** नाम की एक संस्था तथा उसकी शाखाएँ स्थापित कीं। एझवा वर्ग के उत्थान के लिए श्री नारायण तथा उनके सहयोगियों ने दो बिन्दु का कार्यक्रम बनाया। पहला था कि अपने से नीची जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना। नारायण गुरु ने इसके अतिरिक्त कई मन्दिर बनवाए, जो सभी वर्णों के लिए खुले थे। इसी प्रकार उन्होंने विवाह संस्कार, धार्मिक पूजा तथा अन्त्येष्टि आदि के कर्मकाण्डों को सरल बना दिया। गाँधीजी के चतुर्वर्णीय, व्यवस्था में विश्वास रखने के लिए उन्होंने उनकी आलोचना की क्योंकि यह चतुर्वर्णीय व्यवस्था ही जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता को जन्म देने तथा बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। नारायण गुरु के अनुसार जातीय भेद केवल तलीय है और उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस, सार रूप से एक ही होगा। उन्होंने एक नया नारा दिया "मानव के लिए एक धर्म, एक जाति तथा एक ईश्वर।" नैकर और अन्नादुरै के विपरीत नारायण गुरु की प्रतिक्रिया बहुत नकारात्मक नहीं थी।

सत्य शोधक समाज–पश्चिम भारत में **ज्योतिराव गोविन्दराव फूले** (1827-90) ने निम्न जातियों के लिए संघर्ष किया। ज्योतिराव ने पुणे में माली जाति में जन्म लिया। उसके पूर्वज पेशवाओं को पुष्प, मालाएँ इत्यादि उपलब्ध कराया करते थे इसलिए उन्हें फूले कहा जाने लगा था। ज्योतिबा का समस्त दृष्टिकोण ब्राह्मणों के डर की कुछ घटनाओं ने बदल दिया। एक ब्राह्मण ने उन्हें इसलिए फटकारा तथा उनका इसलिए अपमान किया क्योंकि उन्होंने अपने एक ब्राह्मण मित्र की बारात में सम्मिलित होने की धृष्टता की थी। ज्योतिबा का ब्राह्मणों ने इसलिए भी विरोध किया क्योंकि वह स्त्रियों तथा निम्न जातियों के लिए एक पाठशाला चला रहे थे। ज्योतिबा को ब्राह्मणों के दबाव के कारण पाठशाला बन्द करनी पड़ी। ऊँची जाति के दबाव के कारण उनके पिता **गोविन्द राव** ने ज्योतिबा तथा उनकी पत्नी को वंशानुगत गृह से बाहर निकाल दिया। ज्योतिबा अब यह समझने लगे कि लोग ब्राह्मण धर्म की आड़ लेकर अन्य वर्णों पर अत्याचार करते हैं तथा उन्हें अपना दास बना लेते हैं। दूसरे निम्न जातीय नेताओं के साथ ज्योतिबा ने भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं की कमजोर वर्गों के लोगों के हितों की अनदेखी करने के लिए आलोचना की। उनका कथन था कि कांग्रेस उस समय तक वास्तविक रूप में राष्ट्रीय कहलाने की अधिकारी नहीं है, जब तक वह निम्न तथा पिछड़ी हुयी जातियों के हितों की ओर ध्यान नहीं देती। ज्योतिबा ने 1873 में **'सत्य शोधक सभा'** (सत्य को खोजने वाली समाज) बनाई, जिसका उद्देश्य था कि समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिला सके। उन्होंने सभी वर्णों के अनाथों तथा स्त्रियों के लिए अनेक पाठशालाएँ तथा अनाथालय खोले। उन्हें 1876 में पुणे नगर पालिका का सदस्य चुन लिया गया। ज्योतिबा के प्रकाशनों में धर्म तृतीय रत्न (पुराणों का भंडाफोड़), **इशारा** (एक चेतावनी), **शिवाजी की जवानी** इत्यादि सम्मिलित हैं। 1888 में लोग उन्हें महात्मा कहने लगे थे। आज भी महाराष्ट्र में इन्हें काफी आदर प्राप्त है। समस्त भारत में एक सामाजिक सुधारक के रूप में इन्हें काफी आदर प्राप्त है।

अम्बेडकर–अपनी मृत्यु के पचास वर्ष बाद भी अम्बेडकर भारतीय राजनीति के केन्द्र- बिन्दु बने हुए हैं। निम्न जातियों में अम्बेडकर भगवान तुल्य हैं। निम्न जातियों के उत्थान के लिए भीमराव अम्बेडकर एक अन्य धर्मयोद्धा थे। भीमराव का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को एक **महार कुल** (एक अस्पृश्य हिन्दू कुल) में **महू** में हुआ था। 1905 में उनका विवाह अपनी जाति की एक कन्या रमाबाई से हो गया था। 1935 को उसकी मृत्यु हो गयी। भीमराव ने 1948 में दूसरा विवाह डॉक्टर शारदा कबीर से किया, जो बम्बई के एक **सारस्वत ब्राह्मण** कुल से थीं। बम्बई के एल्फिंसटन कॉलेज से अम्बेडकर ने स्नातक परीक्षा पास की और फिर उन्होंने अपनी एम.ए. तथा पी.एच.डी. परीक्षाएँ कोलम्बिया (अमरीका) विश्वविद्यालय से पास कीं। 1923 में वह बैरिस्टर बन गए। उन्होंने जुलाई 1924 में बम्बई में एक संस्था **'बहिष्कृत हितकारिणी सभा'** बनाई, जिसका उद्देश्य अस्पृश्य लोगों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करना था। अम्बेडकर ने आन्दोलन की नीति अपनाई और अछूतों के लिए मन्दिरों में प्रवेश तथा जन-साधारण के कुओं से पानी भरने के नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अम्बेडकर ने 1930 में राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने अछूतों के लिए अलग मताधिकार माँगा। उनको लन्दन में हुयी तीनों गोल मेज सभाओं (1930-32) में अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में बुलाया गया। जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 17 अगस्त, 1932 को साम्प्रदायिक निर्णय दिया, तो उसमें दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मण्डलों का प्रावधान किया गया। इससे गाँधी जी बहुत दु:खी हुए और उन्होंने इसे हटाने के लिए आमरण उपवास आरम्भ कर दिया। अन्त में एक समझौता, जिसे प्राय: "पूना समझौता" कहते हैं, किया गया (24 सितम्बर, 1932), जिसमें दलित वर्गों के लिए साधारण वर्ग में ही सीटों का आरक्षण किया गया। अम्बेडकर ने हताश होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वतंत्रता की माँग का विरोध किया और कहा कि 'भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य बना रहे ताकि दलित वर्ग के हितों की रक्षा हो सके।' उन्होंने अप्रैल 1942 में अनुसूचित जातीय संघ का एक अखिल भारतीय दल के रूप में गठन किया। इसके बाद उन्होंने यह घोषणा की कि अनुसूचित जातियाँ हिन्दू धर्म को पूर्ण रूप से त्याग देगी और वह स्वयं अपने बहुत-से अनुयायियों के साथ **बौद्ध** बन गए। जिस संविधान सभा का स्वाधीन भारत के लिए गठन हुआ, उसकी 'प्रारूप समिति' (ड्राफ्टिंग कमेटी) के वे अध्यक्ष बनाए गए। अपने इस दायित्व का उन्होंने पूरी निष्ठा और योग्यता से परिपालन किया। उन्होंने संविधान सभा में समय-समय पर अपने जो वक्तव्य और आलोचकों को जो प्रत्युत्तर दिये, उससे उनकी योग्यता और देश-भक्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अपने इस योगदान के लिए डॉ. अम्बेडकर का नाम स्मरणीय रहेगा। आज अम्बेडकर के नाम का भारत की राजनीति में इतना डंका बजता है कि कोई भी राजनीतिक दल उनके दर्शन के विरोध का साहस नहीं कर सकता।

संदर्भ

- Untouchable Castes in India : The Raigar Movement (1940-2004)/Shyamlal
- Social Reform Movement and Jyotiba Phule/K.L Chanchreek
- Nationalist Movement in India : A Reader/edited by Sekhar

साकेत विहार, अनीसाबाद, पटना

धन की निकासी का सिद्धान्त

उपासना

ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे घातक प्रभाव जो भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा रहा था वह था भारतीय पूँजी और अन्य वस्तुओं का भारत से बाहर इंग्लैंड में जाना और उसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होना। 1757 तक यूरोपीय व्यापारियों को अपने देश में कड़े विरोधों के बावजूद भारत में धात्विक मुद्रा लानी पड़ती थी क्योंकि पश्चिमी देशों में तो भारत के सूती एवं रेशमी कपड़ों का फैलता व्यापार था लेकिन भारत में पश्चिमी उत्पादों की माँग आमतौर पर नगण्य होती थी। इस समस्या को प्लासी के युद्ध ने बड़े नाटकीय ढंग से सुलझा दिया।

अब बंगाल से लूटा हुआ धन, देश के भीतर किए जाने वाले कर मुक्त व्यापार का लाभ और बंगाल का दीवानी राजस्व-इन सबको ही कम्पनी अपना 'पूँजी-निवेश' कहने लगी। वास्तविकता यह थी कि यह सब खुलेआम भारतीय धन की निकासी की प्रक्रिया थी क्योंकि बंगाल में सैन्य-विजय से प्राप्त लाभांश का उपयोग बंगाल से ही माल खरीदकर निर्यात करने के लिए किया जा रहा था। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् जब मैनचेस्टर की प्रतिस्पर्धा के कारण भारतीय रेशमी और सूती कपड़ों के निर्यात में गिरावट आ गयी तो कम्पनी को उसके कर्मचारियों और निजी व्यापारियों के लिए समान रूप से धन इंग्लैंड भेजने की गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा। आरम्भ में इस समस्या का सामना करने के लिए नील की खेती का विकास किया गया। साथ ही चीन को चाय के बदले अफीम का निर्यात किया गया। तत्पश्चात् 1850 से भारत से नए प्रकार की वस्तुओं का निर्यात करके इस समस्या का अधिक सफलतापूर्वक सामना किया गया।

निर्यात किये जाने वाली ये नई वस्तुएँ थी–पश्चिमी भारत की कपास, पंजाब का गेहूँ, बंगाल का पटसन, असम की चाय, दक्षिण भारत के तिलहन, चमड़ा और खालें इत्यादि। ब्रिटेन को धनराशि का एकतरफा हस्तांतरण स्थायी तथ्य था और वस्तुत: समय के साथ इसमें बढ़ोतरी ही हुई। 1858 के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के लंदन प्रतिष्ठान एवं हिस्सेदारों के लाभांश का स्थान भारत-सचिव के इंडिया आफिस के व्यय ने ले लिया। कम्पनी के सैन्य अभियानों के कारण एवं गदर को दबाने में हुए व्यय के कारण इंग्लैंड में भारतीय ऋण पहले ही बहुत बढ़ गया था।

1858 में इसमें अत्यधिक वृद्धि हुयी क्योंकि कम्पनी के हिस्सेदारों को दिये गये मुआवज़े का भार भी इसी खाते में डाल दिया गया। ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों एवं सैन्य अधिकारियों की पेंशनें, इंग्लैंड में खरीदी जाने वाली सैन्य एवं अन्य सामग्रियाँ, सैन्य प्रशिक्षण, परिवहन एवं भारत के बाहर होने वाले अभियानों का व्यय, जो भारत के ही वित्त से किया जाता था, और रेलमार्गों का प्रत्याभूत ब्याज-ये सभी व्यय घरेलू मदों में सम्मिलित थे। 1901-02 में घरेलू मदों की कुल राशि 173 लाख पाउंड थी। इस सरकारी हिसाब में वह धन भी जोड़ा जाना चाहिए जो भारत में रहने वाले अंग्रेज़ अधिकारी इंग्लैंड भेजते थे। इसके अतिरिक्त भारत में निजी ब्रिटिश पूँजी-निवेश के लाभांश का स्थानांतरण भी इस काल में धन की निकासी का एक मुख्य स्रोत हो गया।

1870 में पाउंड स्टर्लिंग की तुलना में चाँदी के रुपए का अवमूल्यन हो जाने के कारण घरेलू मदों एवं भेजे जाने वाले निजी धन का वास्तविक भार बहुत बढ़ गया। भारत में सम्पत्ति की निकासी की इस प्रक्रिया की ओर नौरोजी और उनके बाद के राष्ट्रवादी बराबर ध्यान आकृष्ट करते रहे।

दादा भाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, जी.वी. जोशी, डी.सी. वाचा, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि राष्ट्रवादियों द्वारा विकसित निकासी सिद्धांत इस विश्वास पर आधारित था कि भारत की राष्ट्रीय संपत्ति अथवा कुल वार्षिक उत्पादन का एक बड़ा भाग इंग्लैंड को निर्यात किया जा रहा है, जिसके बदले में भारत को कोई समुचित भौतिक या आर्थिक लाभ नहीं मिलता। दूसरे शब्दों

में, भारत को परोक्ष रूप से ब्रिटिश राज को खिराज़ देने के लिए बाध्य किया जा रहा है। धीरे-धीरे कुछ वर्षों के उपरांत देश में जनता के दिलों में निकासी-सिद्धांत ने इतनी अधिक व्यापक लोकप्रियता और प्रभाव जमा लिया कि कितने ही ब्रिटिश प्रवक्ताओं और लेखकों को यह सिद्ध करने के लिए प्रबल प्रयास करने को बाध्य होना पड़ा कि यह सारी की सारी कल्पना आर्थिक दृष्टि से निराधार और भ्रांतिमूलक है।

निकासी के आर्थिक प्रभाव

धन की निकासी के साथ जुड़ा उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दुष्परिणाम देश की घोर दरिद्रता थी, यद्यपि प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं का इस संबंध में दृष्टिकोण थोड़ा-बहुत भिन्न रूप अवश्य लिए हुए था। दादाभाई नौरोजी ने निकासी को देश के सभी रोगों, दु:खों और दरिद्रता का वास्तविक, प्रधान और यहाँ तक कि एकमात्र मूल कारण घोषित किया, तथा अन्यान्य कारणों को केवल भ्रामक बताया। इस संबंध में दादाभाई के दृष्टिकोण को अपनाने वाले केवल थोड़े से ही अन्य राष्ट्रवादी नेता थे। ज्यादातर राष्ट्रवादी मानते थे कि धन की निकासी भारत की दरिद्रता का एक मुख्य कारण है।

राष्ट्रवादी नेताओं ने व्यापक रूप में निकासी के रूप और अर्थ को जिस प्रकार समझा तथा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से जिस प्रकार उसका प्रचार-प्रसार किया, वह यह था कि इस निकासी का देश की अर्थव्यवस्था पर भले ही अन्य कोई दुष्प्रभाव न पड़ता हो फिर भी इससे राष्ट्रीय उत्पादन में होने वाली कटौती ही अपने आप में इतना विशाल दोष है कि इसे एक भारी रोग कहा जा सकता है। कुछेक भारतीय नेता इस तथ्य को भी समझने में सफल हो गये कि विदेशों में राष्ट्रीय संपत्ति के स्थानांतरण से देश की आय पर और देश के भीतर रोजगार पर घातक प्रभाव पड़ा।

उन्होंने इस तथ्य की ओर निर्देश किया कि निकासी के कारण राष्ट्रीय आय को देश के भीतर ही खर्च किए जाने और उससे आय और रोजगार में अतिरिक्त वृद्धि होने की संभावना भी कम हुई। इस प्रकार धन की निकासी भारत के पुराने स्वेच्छाचारी धारकों और ब्रिटिश शासकों के बीच अन्तर का आधार थी। अतीत में शासकों ने अपनी प्रजा को भले ही लूटा हो परन्तु देश की संपत्ति देश के भीतर ही बनी रही और देश के भीतर ही खर्च की गयी। इससे निजी तौर पर कुछ नागरिकों को कष्ट अवश्य पहुँचा होगा, परन्तु कुल मिलाकर देश को कोई हानि नहीं हुई।

दूसरी ओर ब्रिटिश शासक देश की संपत्ति को देश से बाहर ले गये और उसे देश के बाहर ही उन्होंने खर्च किया। इस प्रकार पुराने शासकों के अन्तर्गत कराधान का भार कितना भी भारी क्यों न रहा हो परन्तु उसके आर्थिक प्रभाव देश की जनता के लिए इतने अधिक हानिप्रद नहीं थे जितने कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत, अपेक्षाकृत निम्न कराधान के आर्थिक प्रभाव हानिकारक हुए।

यहाँ तक कि जब नादिरशाह जैसे विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश पर आक्रमण किया और इसे लूटा, तब भी देश को होने वाली आर्थिक हानि अस्थाई थी। ये झटके अनियमित थे और कभी-कभी ही लगते थे। ब्रिटिश शासन काल में धन की निकासी सरकार की चालू व्यवस्था का ही एक अंग थी। अत: वह अबाध और निरन्तर चलने वाली थी और वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ने वाली भी थी। राष्ट्रवादियों ने निकासी से होने वाली संपत्ति की हानि की अपेक्षा पूँजी की हानि को अधिक घातक माना। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि संक्षेप में निकासी इस रूप में हानिप्रद थी क्योंकि यह देश को उत्पादक पूँजी से वंचित करती थी।

दादाभाई नौरोजी निकासी संबंधी अपनी समीक्षा के विश्लेषण में प्रारम्भ से ही इस पक्ष को सर्वोच्च स्थान देने वाले महानुभाव थे। राष्ट्रवादियों का मंतव्य था कि निकासी के कारण देश में पूँजी संचय में बाधा उपस्थित हुयी और वर्तमान संचित पूँजी के विशाल भाग को विदेशी भूमि पर ले जाने से देश की प्रगति विलंबित हुई। राष्ट्रवादियों का मत था कि निकासी से उत्पन्न होने वाली पूँजी की न्यूनता के परिणामस्वरूप भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास, जो देश की आर्थिक मुक्ति के लिए अत्यावश्यक था, प्रतिबंधित हो गया। राष्ट्रवादियों द्वारा निकासी के विरुद्ध लगाया गया एक अन्य आरोप यह था कि इससे विदेशी पूँजी को देश में घुसने और देश का शोषण करने की सुविधा उपलब्ध होती थी।

उनके अनुसार सुविधा जुटाने का यह कार्य दो रूपों में होता था। प्रथम, निकासी भारत के अंदर पूँजी के संग्रह में बाधा पहुँचाकर और इस प्रकार से आंतरिक पूँजी को पंगु बनाकर, किसी प्रकार की स्वदेशी प्रतियोगिता की संभावना को समाप्त

करके विदेशी पूँजीपतियों को भारत में आकर एकाधिकार जमाने तथा भारत के सभी संसाधनों का स्वेच्छापूर्वक दोहन करने की सुविधा जुटाती थी। द्वितीय, निकासी देश में निवेशित विदेशी पूँजी के संग्रह का एक प्रधान स्रोत थी क्योंकि निकासी का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी पूँजी के रूप में फिर भारत में लाया जाता था।

राष्ट्रवादी नेता यह देखने में भी सफल हो गये कि संपत्ति के एक पक्षीय स्थानांतरण के परिणामस्वरूप होने वाली प्रत्यक्ष हानि के अतिरिक्त निकासी विदेशों के साथ भारत के व्यापार-संबंधों को बिगाड़ने के रूप में एक दूसरा आघात भी कर रही थी क्योंकि निकासी के साथ विनिमय अधिशेष अनिवार्य रूप से जुड़ा तत्त्व था और यह भारत के निर्यात की एक अनिवार्य विशेषता बन गयी थी। फलतः भारत को विदेशी क्रेताओं को अपना माल खरीदने को प्रलोभित करने के लिए अपने माल की कीमत घटानी पड़ती थी। दूसरे शब्दों में निकासी के फलस्वरूप जिन शर्तों पर भारत आयात के बदले निर्यात करता था, वह इसके सर्वथा अनुकूल नहीं थी।

निकासी सिद्धांत की आलोचना

निकासी के इस सिद्धांत की आरम्भ से ही कटु आलोचना हुई। निस्संदेह इस संबंध में राष्ट्रवादियों के कुछेक विचार आज अतिरंजित प्रतीत होते हैं। कहा गया है कि दोहन की बात को राष्ट्रवादियों ने बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। विदेश व्यापार एवं निर्यात भारत की राष्ट्रीय आय का एक छोटा सा हिस्सा ही थे।

किन्तु नौरोजी के इस तर्क में भी बल है कि जिस धन का दोहन किया जा रहा था वह संभाव्य पूँजी का प्रतिनिधित्व करता था जिसका यदि देश के भीतर ही समुचित निवेश किया जाता तो भारतीय आय को पर्याप्त बढ़ाया जा सकता था। निकासी सिद्धांत का मानक साम्राज्यवादी उत्तर स्ट्रेची के इस कथन में मिलता है कि 'इंग्लैंड को भारत से कुछ नहीं मिलता, सिवाय उसके जो अंग्रेजों की सेवाओं एवं खर्च की गयी उनकी पूँजी के बदले में मिलता है।'

इस तर्क के पहले भाग में स्पष्ट रूप से अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित तथाकथित सुशासन, कानून एवं व्यवस्था, इत्यादि से मिलने वाले लाभों का संकेत है। निकासी के 'आर्थिक' पक्षों की हिमायत इस आधार पर की गयी है कि भंडार-सामग्री की खरीद इंग्लैंड में की जा रही थी और लंदन के मुद्रा-बाजार में जितनी कम ब्याज दर पर ऋण जुटाया जा रहा था वैसा 19वीं सदी के भारत में संभव नहीं था। फिर भी कहा जा सकता है, जैसा कि राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने कहा भी है कि, यदि ऋण व्यवस्था एवं खरीद भारत में ही की जाती तो ऊँची दरों पर किया गया भुगतान भी देश के भीतर ही रहता। इसी प्रकार रेलों, बागानों, खानों एवं मिलों में निवेशित ब्रिटिश पूँजी से मिलने वाले लाभांशों का इंग्लैंड भेजना इस आधार पर उचित ठहराया गया कि अंततः यह सब भारत को 'विकसित करने' एवं 'आधुनिक बनाने' के लिए ही किया जा रहा था।

साम्राज्यवादी पक्ष का मत था कि भारतीय राष्ट्रवादी आवश्यक कटौतियों का हिसाब न करके प्रायः निकासी को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं; वे इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते कि निर्यात अधिशेष का एक भाग तो अदृश्य आयातों, जैसे कि जहाजरानी सेवाएँ, आयातों और निर्यातों पर लगने वाला बीमा शुल्क तथा भारतीय छात्रों और पर्यटकों द्वारा विदेशों में किए गये खर्चे आदि के खाते में चला जाता है।.

संदर्भ

- Economic History of Modern India (1757 to 1947)/S.N. Pandey
- Economic History of Early Medieval Northern India/Gian Chand Chauhan
- Perspective in Social and Economic History of Early India
- Essays on Indian Economy/edited by Raj Kumar
- Socio-Economic History of Medieval India/K.N. Chitnis
- Economic and Social History of India/edited by Rajender Kumar

शोधप्रज्ञ, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार में वेश्याओं के बच्चों में समाजीकरण की प्रक्रिया: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल एवं गजनफर आलम

सारांश

'वेश्यावृत्ति' शब्द का व्यवहार भले ही आधुनिक काल में हुआ हो परन्तु एक वृत्ति के रूप में इसे मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरण से ही अपना लिया गया था। विद्वानों का मानना है कि यह विश्व का सबसे पुराना व्यवसाय है। अलग-अलग समय में इसका नाम और इसके स्वरूप भले ही भिन्न रहे हों परन्तु इसके मौलिक तत्व हमेशा एक ही रहे है। भारत में वेश्यावृत्ति का इतिहास बहुत प्राचीन है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस वृत्ति का उल्लेख विभिन्न नामों से हुआ है। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों में वेश्याओं को कई नामों जैसे–गणिका, रूपाजीवा, भोग्य आदि से संबोधित किया गया है। भारत में स्वतंत्रता के बाद भी वेश्यावृत्ति का व्यवसाय बंद नहीं हुआ बल्कि शहरों की बढ़ोत्तरी एवं भौतिकवाद के प्रति बढ़ते आकर्षण ने वेश्यावृत्ति को और अधिक बढ़ावा दिया। सरकार ने इसके नियंत्रण के लिए समय-समय पर कई कानून बनाये पर उन्हें अधिक सफलता नहीं मिला। आज भी वेश्यावृत्ति देश में कई हिस्सों में अलग-अलग रूपों में व्याप्त है। बिहार में भी वेश्यावृत्ति का इतिहास बहुत पुराना है। खास कर मुख्य रूप से मुजफ्फरपुर, भागलपुर, भोजपुर आदि जगहों में आज भी वेश्यावृत्ति गुप्त रूप से ही सही व्यवसाय का रूप धारण कर रहा है। प्रस्तुत शोध-पत्र का में यह दर्शाया गया है कि वेश्यावृत्ति का महत्वपूर्ण कारण क्या है? तथा इसके निदान के सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर क्या प्रयास किए जा रहे है। इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

परिचय

वेश्यावृत्ति एक प्रमुख सामाजिक समस्या है। विवाह एवं परिवार में जब से काम भावना को सीमित किया गया तब से एक व्यवसाय के रूप में वेश्यावृत्ति का उदय हुआ। वेश्यावृत्ति को यौन तृप्ति का एक विकृत एवं घृणित साधन माना गया है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति का शारीरिक एवं नैतिक पतन होता है तथा आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। इसके कारण परिवार एवं विवाह जैसी सामाजिक संस्थाएँ प्रभावित होती है। यही कारण है कि भारत में न तो इसे सामाजिक मान्यता प्राप्त है न ही कानूनी, तो दूसरी ओर विधि विशेषज्ञों एवं समाजशास्त्रीयों का मानना है कि वेश्यावृत्ति को भारत में कानूनी मान्यता मिलनी चाहिए। वेश्यावृत्ति को कानून द्वारा मान्यता नहीं मिलने के कारण ही समाज में वेश्याओं के प्रति एक 'स्टिग्मा' फैला हुआ है, जिसके फलस्वरूप ही वेश्याओं और उनसे संबंधित समस्याओं पर खुल कर विचार नहीं हो पाता है। विश्व के सभी समाजों में वेश्यावृत्ति को हेय दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि विश्व के कई देशों में इसे कानूनी मान्यता प्राप्त है, फिर भी वेश्यावृत्ति नैतिक मान्यताओं एवं आदर्शों पर भयंकर कुठाराघात माना जाता है। महान समाजशास्त्री ईमाइल दुर्खीम के शब्दों में यदि कहा जाए तो वेश्यावृत्ति एक सामाजिक तथ्य है। चुँकि वेश्यावृत्ति एक सामाजिक तथ्य है, अत: इसकी जड़ समाज में ही निहित है एवं समाजिक परिवेश में ही इसके कारण एवं इसके निदान को ढुढ़ना है।

अध्ययन का उद्धेश्य

प्रस्तुत अध्ययन 'बिहार में वेश्याओं के बच्चों में समाजीकरण की प्रक्रिया एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण' को चुनने का महत्वपूर्ण उद्वेश्य निम्नलिखित है–

(i) प्रस्तुत अध्ययन का एक महत्वपूर्ण उद्वेश्य यह है कि यह एक ऐसे विषय से संबंधित है जो भारतीय समाजशास्त्रीय साहित्य में शायद ही कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन वेश्याओं के संतानों से सम्बन्धित है। यह उम्मीद किया जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन समाजशास्त्रीय साहित्य के कमी को बहुत हद तक दूर करेगा।

(ii) इस अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यद्यपि बिहार एक कल्याणकारी राज्य है फिर भी हमारे समाज में वेश्याओं के संतानों को शिक्षा एवं उससे जुड़े हुए अन्य सुविधाओं से वंचित रखा गया है। इस प्रकार यह अध्ययन मानवाधिकार के मुद्दे से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

(iii) इस अध्ययन का तीसरा महत्वपूर्ण उद्वेश्य यह जानना है कि वेश्याओं के संतानों की समाजीकरण की प्रक्रिया कैसा है और यह प्रक्रिया वृहत्तर समाज में पाये जाने वाले समाजीकरण की प्रक्रिया से किस अर्थ में भिन्न है।

(iv) प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्वेश्य यह भी जानना है कि वेश्यावृत्ति का बिहार के सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पर रहे है। एवं उनके बच्चों का लालन-पालन के आधार क्या है?

(v) प्रस्तुत शोध-पत्र का एक अन्य उद्वेश्य यह जानना है कि वेश्यावृत्ति को कैसे रोका जाए जिससे उनके बच्चों का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा ठीक ढ़ंग से हो सके।

(vi) दूसरी ओर यह भी जानने का प्रयास किया गया है कि सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्था ने वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के क्या-क्या प्रयास कर रहे है और कहाँ तक वे सफल हुए है।

शोध की उपकल्पनाएँ

किसी भी अनुसंधान और सर्वेक्षण की समस्या के चुनवा के बाद अनुसंधानकर्त्ता समस्या के बारे में कार्य करण संबंधो का पूर्वानुमान लगा लेता है। यह पूर्वानुमान ही उपकल्पना कहलाती है। एक अच्छी उपकल्पना अध्ययन को दिशा निर्देशित करती है। अत: प्रस्तुत शोध-पत्र की उपकल्पनाएँ निम्नलिखित इस प्रकार है–

(i) वेश्याओं के बच्चों में प्राथमिक समाजीकरण व्याधिकीय होता है।

(ii) बिहार में वेश्यावृत्ति आज एक उद्योग का रूप ले लिया है। अत: बच्चे भी इससे अछुते नहीं है।

(iii) मौलिक आवश्यकताओं के साधनों एवं शिक्षा के अभाव में उनका समाजीकरण सही ढ़ंग से नहीं हो पाता है।

(iv) बिहार या अन्य जगहों में वेश्याओं के बच्चों में पिता के निर्धारण की समस्या पायी जाती है।

(v) वेश्याओं के बच्चों में प्राय: विवाह, परिवार एवं नातेदारी जैसे संस्थाओं से जुड़े हुए संकट पाये जाते है।

(vi) जिन बच्चों के माँ वेश्या व पिता दलाल होते हैं, उनके बच्चे भी प्राय: यही पेशा अपनाते है।

(vii) सरकार द्वारा चलाये जा रहे कल्याण कार्यक्रमों के सही कार्यान्वयन के अभाव में वेश्याओं के बच्चों में सही समाजीकरण नहीं हो पाता है।

अध्ययन समीक्षा

प्रस्तुत शोध-पत्र के अन्तर्गत वेश्याओं और उनके बच्चों से सम्बन्धित कुछ अध्ययनों की समीक्षा की गई है। ऐसा उम्मीद किया जा रही है कि ये अध्ययन कार्य को दिशा निर्देश करेगा।

नीना श्रीवास्तव ने अपने अध्ययन 'बिहार के स्त्रियों में वेश्यावृत्ति का नृजातीय अध्ययन' (2002) में बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के चतुर्भूज स्थान के 55 वेश्याओं के साक्षात्कार के आधार पर उपर्युक्त विषय का अध्ययन किया है। इस अध्ययन में वेश्याओं के साथ जो मानवाधिकार का हनन हो रहा है उस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए राज्य को उनकी मानवाधिकार की रक्षा करने की बात की गई है तथा गैर-सरकारी संगठन, नागरिक समाज एवं परिवार की पूरक भूमिकाओं को भी इस संदर्भ में देखा गया है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड (1996) द्वारा 'भारत के महानगरों में वेश्यावृत्ति का अध्ययन' के. के. मुखर्जी एवं दीपा दास के नेतृत्व में किया गया। यह अध्ययन में 2906 वेश्याओं का अध्ययन किया गया है और पाया गया है कि ज्यादातर वेश्याएँ कम उम्र की है तथा उसमें 40 प्रतिशत अशिक्षित है और एक तिहाई वेश्याएँ प्राथमिक शिक्षा ली हुई है। अध्ययन में उनके विकास एवं कल्याणकारी कार्यक्रमों को अधूरा बताया गया है साथ ही सामाजिक विकास रोजगार के

अवसरों का सृजन, शिक्षा तथा नये पीढ़ियों में जागरूकता लाने की बात की गई है। 'प्रेरणा' जो एक गैर-सरकारी संगठन है, ने 1995 में अपने अध्ययन 'Girl children prostitution in Mumbai' में पाया कि अधिकांश बालिका वेश्याएँ 18 वर्ष से कम उम्र की है और इनका औसत उम्र 16 वर्ष है। इनके वेश्यावृत्ति में आने का कारण बेरोजगारी एवं विवाह न करने की इच्छा रही है। मधुरभंडारकर सामाजिक सारोकार से जुड़े फिल्मों को बनाने वाले प्रमुख फिल्म निर्माता है। उनकी प्रसिद्ध फिल्म 'चाँदनीबार' जो 2002 में प्रसारित हुए जिसमें उन्होनें वेश्या और उसके बच्चों से संबंधित कहानी को व्यक्त किया है। इस फिल्म में वेश्या चाहती है कि वह जो धंधा कर रही है, वह उनके बच्चें न करें। परन्तु कठिन प्रयासों के बावजूद बेटा अपराधी बनकर जेल चला जाता है।

अत: इन साहित्यों के अध्ययनों से बिहार में वेश्याओं के बच्चों की समाजीकरण को जानने में महत्वपूर्ण सहायता मिलता है।

अध्ययन पद्धति

(1) प्रस्तुत शोध अध्ययन में द्वितीयक श्रोतों के तहत पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से संबंधित विभिन्न पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, इन्टरनेट, पेपर कटिंग आदि का उपयोग किया गया है।

(2) प्रस्तुत शोध अध्ययन में यथा संभव प्राथमिक श्रोतों का भी प्रयोग किया गया है। बिहार के निकटवर्ती क्षेत्रों जैसे–मुजफ्फरपुर, पटना के गंदी बस्तियों, भोजपुर के कुछ क्षेत्रों, भागलपुर के कुछ क्षेत्रों पर जाकर अनुसूचि के माध्यम से सूचनाओं को एकत्रित किया गया है।

विश्लेषण

भारत में वेश्यावृत्ति का इतिहास काफी प्राचीन रहा है। वेश्यावृत्ति का संगठित रूप हमे 600 ईसा पूर्व से देखने को मिलती है जब भारत में 16 महाजनपदों का उदय होता है। ये महाजनपद वर्तमान शहर के रूप में ही थे, फिर भी इस समय वेश्यावृत्ति समाजिक समस्या का रूप नहीं ले सका था। इस काल की वेश्याओं को नगर-वधू कहा जाता था। मौर्य काल में वेश्यावृत्ति केवल राजा महाराजा एवं कुलीनों तक ही सीमित थी। परन्तु मौर्योत्तर काल के बाद जो विदेशी आक्रमण भारत पर हुए उससे वेश्यावृत्ति का प्रसार बढ़ता गया। ये आक्रमणकारी विजित देश की महिलाओं से ही अपने काम वासना की तृप्ति करते थे, जिन्हें समाज बाद में स्वीकृत नहीं करता था और वे वेश्या बन जाती थी। इस संदर्भ में दूसरा प्रमुख कारण हमें गुप्तकाल में देखने को मिलता है जिस काल में स्त्रियों में गिरावट आयी और वेश्यावृत्ति में वृद्धि हुई। मध्यकाल में मुस्लिम शासकों के द्वारा वेश्यावृत्ति को बढ़ावा मिला और यह आम प्रचलन में आया एवं समाज के लिए एक समस्या का रूप ले लिया। आधुनिक समय में वेश्यावृत्ति के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है और वेश्यावृत्ति से नृत्य, गायन, वादन, की प्रथा समाप्त होकर आज यह केवल यौन-तृप्ति एवं शारीरिक सुख प्राप्ति का माध्यम बन कर रह गया हैं।

वेश्यावृत्ति के कारण समाज को अनेकों प्रकार के समस्याओं का सामना करना पड़ता है। हिंसा एवं अपराध में वृद्धि हो जाती है, पारिवारिक विघटन बढ़ जाता है। मद्यपान की समस्या जोर पकड़ने लगती है तथा समाजिक मूल्यों एवं प्रतिमानों का ह्रास होने लगता है। साथ ही लूट, हत्या डकैती एवं बलात्कार की घटनाओं में वृद्धि हो जाती है। वेश्यावृत्ति के कारण पैदा होने वाले अवैध बच्चे समाज के लिए एक समस्या बन जाते है। जिनका न कोई सामाजिक पहचान होती हैं और न ही नातेदार। इसके फलस्वरूप प्राय: वे बाल अपराधी बन जाते है। इस प्रक्रिया में उनका कोई योगदान नहीं होता है क्योंकि जिस संस्कृति के अन्तर्गत वे पलते और बढ़ते हैं उसका ही वे प्रतिनिधित्व करते हैं। कहा भी जाता है कि संस्कृति व्यक्तित्व को निर्धारित करती है।

राष्ट्रीय महिला आयोग का खुलासा

राष्ट्रीय महिला आयोग की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि देश के 612 जिलों में से आधे-से-अधिक जिलों में महिलाओं और बच्चों से यौनाचार के लिए तस्करी की जा रही है। रिपोर्ट कहती है कि 378 जिलों में 1,794 ऐसे चिन्हित स्थान है जो देह व्यापार जैसे अनैतिक कार्य के केन्द्र है और 1,016 ऐसे स्थान है जहाँ पेशेवर देह व्यापार हो रहा है। केरल, आध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल के लगभग सभी जिलों अनैतिक कार्यो के लिए महिलाओं और बच्चों की तस्करी की समस्या से ग्रस्त है।

तमिलनाडु में 93.33 प्रतिशत जिले, उडी़सा में 86.66 प्रतिशत जिले और बिहार में 86.48 प्रतिशत जिले इस समस्या से प्रभावित हैं। रिपोर्ट के अनुसार देश में 15 साल से 35 साल की उम्र की महिलाओं की कुल आबादी में से 2.4 प्रतिशत महिलाएं वेश्यावृत्ति से जुड़ी है। इसमें कहा गया है कि भारत में पेशेवर यौनकर्मियों की संख्या करीब 28 लाख है। इनमें से 43 प्रतिशत से अधिक महिलाएं उस समय अवयस्क थी जब वे देह व्यापार से जुड़ी थी। आयोग का कहना है कि वेश्यावृत्ति के 50 प्रतिशत से अधिक मामलों का सबसे बडा़ कारण रोजगार के नाम पर झांसा देना है। रिपोर्ट में कहा गया है कि देह व्यापार से जुड़ी और इसकी खातिर तस्करी की शिकार 22 प्रतिशत से अधिक महिलाएं ऐसी है, जिन्हें उनके परिवार के सदस्यों ने ही इस धंधे में जाने के लिए बाध्य किया।

आयोग की रिपोर्ट आगे कहती है कि करीब 08 प्रतिशत महिलाओं को देह व्यापार के लिए उनके पतियों या ससुराल वालों ने बाध्य किया और 18 प्रतिशत महिलाओं को मित्रो या पडो़सियों ने लालच देकर इस धंधे में धकेला। पेशेवर देह व्यापार में लिप्त 51 प्रतिशत से अधिक महिलाएं ऐसी है, जिन्हें उनके परिवार वालों या ससुराल वालों ने इस धंधे में जाने के लिए मजबूर किया।

बिहार में देह-व्यापार एवं बच्चों में समाजीकरण

मुजफ्फरपुर शहर के ठीक केन्द्र में स्थित चतुर्भूज स्थान 'रेड लाइट एरिया' की गणना प्राय: अन्तराष्ट्रीय स्तर के रेड लाइट एरिया के रूप में किया जाता है। मुजफ्फरपुर के क्षेत्र में ही बौद्धकाल में विश्व प्रसिद्ध सुन्दरी एवं नृत्यांगना आम्रपाली रहा करती थी। ऐसी मान्यता है कि आम्रपाली की परंपरा किसी-न-किसी रूप में आज तक चतुर्भूज स्थान में मौजूद है। आज बूढी गंढक, लीची एवं चतुर्भूज स्थान का नाम लेते ही हमे बिहार के मुजफ्फरपुर जिले की याद तरो-ताजा हो जाती है, जिनसे किसी न किसी रूप में इस जिले को अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। चतुर्भूज स्थान में लगभग 3500 वेश्याएँ अपने कुनवे के साथ रोजमर्रा के संधर्ष एवं आजीविका की तलाश करती है और अपने परिवार का भरण-पोषण करती है।

दहेज-प्रथा के कारण युवितियों का विवाह न होना, परित्यक्ताओं का पुनर्विवाह न होना, अविवाहित माँ को समाजिक कलंक मानना, बलात्कृत महिला को कंलकित मानना आदि सामाजिक कुरीतियाँ बिहार में सबसे अधिक प्रचलित है। पारम्परिक एवं धार्मिक कुप्रथाएं यथा देवी-देवताओं की पूजा। सेवा के नाम पर देवदासी प्रथा या नेपाल में ब्रह्मकुमारी प्रथा, कुछ जनजातियों में बहुपति-विवाह या देह-व्यापार की धार्मिक मान्यता उत्तर-बिहार में नट जाति। बिहार के चार पूर्वी जिलों तथा कटिहार, पूर्णिया, अररिया, किशनगंज में बाढ़ की वजह से इस क्षेत्र के पुरूष दूसरे राज्यो में काम की तलाश में चले गये है और उनकी पत्नियाँ एवं बच्चें अपने घरों मे असहाय है, जिससे 2500 महिलाएं वेश्याएं बन गई है। इसके अलावा वहाँ नेपाल, बंगलादेश, पं. बंगाल से युवतियों को काम देने के बहाने या रुपयें देकर लाया जाता है। यद्यपि पहले वहाँ 'नट' जाति की युवतियाँ पारम्परिक रूप से वेश्यावृत्ति करती थी, जिनमें जमींदारों का समर्थन एवं संरक्षण मिलता था। और वे गुलाबबाग तथा फारबिसगंज के साप्ताहिक हाटों में अपना धंधा करती थी। बिहार के पूर्वी जिले किशनगंज, पूर्णियाँ अररिया आदि लड़कियों की खरीद-बिक्री की बड़ी मंडिया है, जहाँ से वे मुम्बई तक भेजी जाती है। बिहार में शिक्षा एवं बेरोजगारी की कमी तथा बच्चों का अच्छा समाजीकरण न होना इस कारोबार में महत्वपूर्ण योगदान देता है। प. चम्पारण तथा पूर्वी चम्पारण के तराई क्षेत्रों में कुछ धुसपैठों के कारण अपराधीकरण, समाजीकरण अधिक देखने को मिलता है। फलत: यहाँ वेश्यावृत्ति का कारोबार भी हो रहा है।

बिहार में अनैतिक व्यापार से जुड़े अपराध वर्ष 2008-2009 में

1	दर्ज किए गए मामले	47%
2	संचालन से जुड़े गैर सरकारी संगठन	90%
3	बचाए गए नाबालिग लड़कियाँ	108
4	गिरफ्तार किए गए ग्राहक	352
5	पीड़ितों का बचाव	716
6	अनैतिक व्यापार में शामिल लोग	1020

बिहार में वेश्याओं का वितरण

क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
मुजफ्फरपुर, पूर्णिया, कटिहार।	86%	गरीबी के कारण।	86%
नेपाल से आई।	2.6%	बेरोजगारी व मजबूरी के कारण।	74%
अन्य राज्यों से आई।	1.86%	घरवालों को ज्ञात है।	40%
एस.सी./एस.टी. एवं पिछड़ा वर्ग की महिलाऐं।	60%	यह काम अन्य कामों के अतिरिक्त करती है।	73%
यौन सेविकाऐं निरक्षर हैं।	89%	पति द्वारा त्याग के बाद शुरू की।	50%
परिवार के ही यौन उत्पीड़न के बाद आई।	50%	अनेक बीमारियों की चपेट में है।	82%

वेश्यावृत्ति स्त्रियों एवं लड़कियों को नैतिक एवं सामाजिक पतन की ओर ले जाती है। सामान्यत: समाज में प्रत्यक्ष रूप से इस तरह के व्यवसायों में लिप्त महिलाओं को जीवन भर कलंक, तिरस्कार, अपमान एवं घृणा से भरा जीवन बिताना पड़ता है। समाज उन्हें स्वीकार नहीं करता तथा सामाजिक मेल-जोल प्राय: शून्य होता है।

जो इस व्यवसाय से जुड़ी होती है उन स्त्रियों को तो पोल खुल जाने पर और अधिक लज्जा एवं अपमान का सामना करना पड़ता है। जब तक वेश्याओं का शारीरिक आकर्षण बना रहता है, तब तक उनका यह व्यवसाय आर्थिक रूप से अत्यंत लाभप्रद होता है, परन्तु उम्र के साथ-साथ जैस-जैसे उनका रूप ढलता जाता है वैसे-वैसे उनका व्यवसाय भी ढप होता जाता है और प्राय: सभी वेश्याओं का अन्तिम समय निर्धनता एवं अभाव में ही बीतता है। वेश्यावृत्ति के प्रभावों को अगर उनके स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसके केवल दुष्परिणाम ही नजर आयेंगे। नियमित शारीरिक शोषण, नींद की कमी, नशीले पदार्थों के सेवन से कम उम्र में ही उन्हें कई तरह के यौन अथवा अन्य रोगों का शिकार होना पड़ता है।

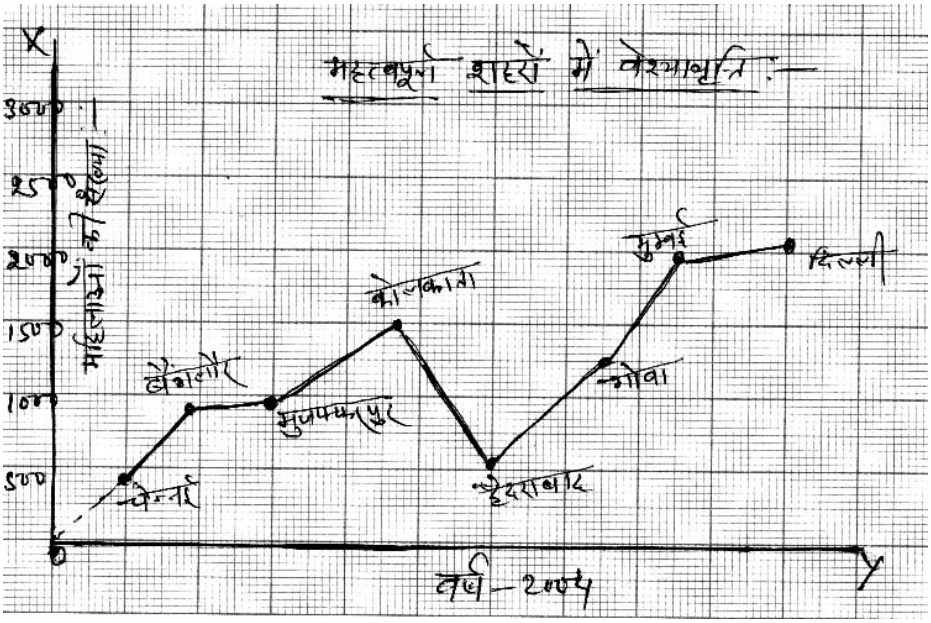

सुझाव एवं निष्कर्ष

पिछले लगभग डेढ़ वर्षों से यौन कर्मियों के संगठनों का कोलकाता से केरल तक अनैतिक व्यापार रोकथाम अधिनियम 1956 में प्रस्तावित संशोधनों का विरोध जारी रहा है। यौन कर्मियों को ऐसा लग रहा है कि इन संशोधनों से उनकी दशा बद से बदतर हो जाएगी। संसद में इन संशोधनों को पेश करने से पहले ही 08 मार्च 2006 को कम से कम 4000 यौन कर्मियों

ने दिल्ली की सड़कों पर रैली निकालकर राजनीतिक तौर पर और सार्वजनिक तौर पर लोगों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की उनका तर्क था कि इस संशोधन के कारण वे बची-खुची जीविका से भी वंचित हो जाएगी।

अत: सरकार को चाहिए कि उनके सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर ही कोई नवीन कानून पारित करें क्योंकि अब उनका ही नहीं उनके बच्चों का भी सवाल है। सरकार को चाहिए कि उनके पूणर्वास की व्यवस्था करे। उनके बच्चों को शिक्षा दे तथा उनके परिवार के किसी एक सदस्य को रोजगार मोहैया करावे। हलाँकि बिहार सरकार ने इन स्थानों पर जागरूकता लाने का सफल प्रयास किया परंतु फिर भी आशातीत सफलता नहीं मिल पा रही है। अनेकों गैर-सरकारी सगंठनों ने भी सराहनीय प्रयास किए है। अत: उम्मीद की जाती है कि वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है तथा उन्हें भी समाज के मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है। जिससे उनके बच्चों में अच्छा समाजीकरण हो सके तथा वे आगे चल कर पढ़ लिख कर एक संस्कारवान नागरिक बन सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Cooper, D, (1972) - "The Deth of Family" (Penguin, 1972)
2. Doshi, L.S. (2008) - "Post Modern Perspective on Indian Society." (Rawat Publication, New Delhi).
3. Goardar, B. (1984) - "Prostitution " (Historical Prospective), (Inter India Publication., New Delhi).
4. Goardar, B. (1984) - "Prostitution, "(Inter India Publication., New Delhi)
5. Modan, G.R.(1973) - " India Social Problem" (Allied Publishers Pvt.Ltd. (New Delhi).
6. Rampal, N.S. (1978) - " India Women & Sex", (Printex, New Delhi).
7. Saeed, Fouzia (2001) - Taboo: "The hidden culture of a Red Light Area."(Oxford University Press, Pakistan).
8. The 30th Report of the Committee on Social and Moral Hygine,1958.
9. राम आहूजा, (2005) -'सामाजिक सर्वेक्षण एवं अनुसंधान',(रावत पब्लिकेशन) नई दिल्ली।
10. भारत में स्त्री असमानता एक विमर्श-डॉ0 गोपा जोशी, हिन्दी माध्यम कार्यन्वयन निदेशालय नई दिल्ली।
11. भारत की महिलाएँ: दशा एवं दिशा-सुभाज़ शर्मा, शताब्दी प्रकाशन, पटना।
12. ट्रॉफिकींग ऑफ चिल्ड्रेन फॉर प्रास्टीच्यूशन-सिंचुएशन रिपोर्ट, इंडियन, न्यू कन्सेप्ट, नई दिल्ली।
13. नगरीय समाजशास्त्र - डॉ. डी. एस. वघेल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
14. नगरीय समाजशास्त्र - डॉ. हरिशचन्द्र उप्रेती एवं डॉ. रामेश्वर लाल सैनी राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
15. विवेचनात्मक अपराधशास्त्र - राम अहूजा एवं मुकेश अहूजा, रावत पब्लिकेशन जयपुर।
16. क्राइम इन इंडिया, 2005, नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो, मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 2005।
17. जुवेलाइन डेलीन्क्वेन्सी इन मोडर्न सोसाइटी, एच. एम. न्यूमेयर, न्यूयॉर्क-1997।
18. जुवेलाइन डेलीन्क्वेन्सी इन अरबन एरियाज, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस: शिकागो क्लिपोर्ड एण्ड हैनरी।
19. अरबन सोशियोलोजी इन इंडिया - एम. एस. ए. राव, ओरियंट लोंगमैन, नई दिल्ली, 1974।
20. सूचना एवं जनसम्पर्क, विभाग बिहार, बिहार समाचार की मासिक पत्रिकाएं।
21. कुरूक्षेत्र-दिसम्बर-2000 तथा दिसम्बर -2007।
22. समाज कल्याण-जनवरी 2005 (समस्याएँ यौन उत्पीडन की) मासिक पत्रिका, केन्द्रीय कल्याण भवन।
23. योजना "अनैतिक व्यापार" फरवरी-2008 प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली।
24. विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार पत्र (दैनिक हिन्दुस्तान, द हिन्दू, राष्ट्रीय सहारा आदि)
25. http:è/www.prostitutionin bihar.nic.in

डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल

वरीय व्याख्याता एवं विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, बी. एन. कॉलेज, पटना वि. वि. पटना।

गजनफर आलम

शोधप्रज्ञ एवं नेट, (यू.जी.सी.), समाजशास्त्र विभाग, पटना वि. वि. पटना।

वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि मजदूरों की दशा: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

बिकाश वर्मा

सारांश

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की प्रगति का मूल्यांकन करने पर सबसे पहले स्वाभाविक रूप से ध्यान देश का सबसे बड़ा और सर्वाधिक शोषित वर्ग कृषि मजदूर की ओर जाता है जिनके कंधों पर सम्पूर्ण भारतीय ढाँचा टिका हुआ है। नि:संदेह देश की आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षिक स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन आया है, लेकिन इस परिवर्त्तन का लाभ देश की नगण्य प्रतिशत जनता को ही मिला है। वर्तमान परिवेश में भी कृषि मजदूर अपनी पुरातन समस्याओं और कुप्रथाओं के कुचक्र में कैक्टस की भाँति उलझा हुआ है।

परिचय

भारत एक कृषि प्रधान देश है, अत: इसकी आर्थिक व्यवस्था में कृषि मजदूरों का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि मजदूरों से उन मजदूरों का बोध होता है जो कृषि कार्य में मजदूरी पर लगे हुए हों। कृषि मजदूरों को खेतिहर मजदूर या कृषि श्रमिक भी कहते हैं। जनगणना रिपोर्ट के अनुसार–''कृषि श्रमिक वह व्यक्ति है जो अन्य व्यक्तियों की भूमि पर श्रम करता है, अपने सेवा के बदले द्रव्य या फसल का कुछ भाग प्राप्त करता है तथा काश्त के संबंध में कोई जोखिम नहीं उठाता।'' इसी तरह श्रम जाँच समिति ने कृषि मजदूरों को परीभाषित करते हुए कहा कि–कृषि श्रमिक वे व्यक्ति हैं जो न केवल फसलों के उत्पादन में मजदूरी पर रखे गये हैं, वरन् जो अन्य कृषि धन्धों उदाहरणार्थ पशुपालन, दुग्ध उत्पादन, मुर्गी पालन इत्यादि में किराये के मजदूर के रूप में कार्य करते हों।

इस तरह संक्षेप में कृषि मजदूर से तात्पर्य ऐसे मजदूर से है जो कृषि व्यवसाय पर काम करके अपनी और अपने सम्पूर्ण परिवार की जीविका चलाते हैं और उनके आय का प्रमुख स्रोत या साधन कृषि मजदूरी होती है।

कृषि मजदूर का प्रकार: भारत में कृषि मजदूर तीन प्रकार के होते हैं–

1. **कुशल मजदूर:** किसी कार्य विशेष के तहत विशेषता रखने वाले मजदूर को कुशल मजदूर कहते हैं। जैसे-बढ़ई, लोहार, मैकेनिक, चालक, कुएँ खोदने वाले इत्यादि।
2. **अर्द्धकुशल मजदूर:** अर्द्धकुशल मजदूर उन कार्यों को कहते हैं जो किसी साधारण मजदूर द्वारा सम्भव नहीं है लेकिन वहाँ पर उस कार्य विशेष के लिए अतिकुशल मजदूरों की भी जरूरत नहीं है। इस प्रकार के कार्य को किसी कुशल मजदूर के साथ कुछ दिन कार्य का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् कोई भी मजदूर कर सकता है। इन मजदूरों की मजदूरी साधारण अकुशल मजदूरों से कुछ अधिक होती है।
3. **अकुशल मजदूर:** वह मजदूर जो किसी भी तकनीकी या कार्य विशेष की कुछ जानकारी न रखता हो तथा केवल जो श्रम बेचता हो, अकुशल मजदूर कहलाता है। अकुशल मजदूर सामान्यत: खेती के कार्य, जानवर चराना, कपास कटाई आदि का कार्य करते हैं।

भारतीय कृषि मजदूरों की प्रकृति:

1. ये संख्या में अधिक हैं।
2. अधिकतर अकुशल मजदूर हैं

3. स्थयित्व की शक्ति की कमी
4. इनमें से अधिकांश कर्ज से ग्रसित होते हैं एवं मोल भाव करने की शक्ति की कमी होती है।
5. इनकी मजदूरी अत्यधिक कम है जो ज्यादातर समय विशेष पर निर्भर है।
6. कार्य करने के घंटे अधिक एवं असंतुलित हैं इसका प्रमुख कारण है कार्य उपलब्धता में कमी, मौसम पर आधारित तथा कार्य की अनिश्चितता इत्यादि।

कृषि मजदूरों की भूमिका

कृषि उत्पादन के प्रमुख कारकों में मजदूर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि यंत्र कृषि उत्पादन की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से इसका विकल्प नहीं है। कृषि क्षेत्र में कुछ उच्च तकनीकी परिवर्तन के कारण भी हमारे देश में मानव श्रम अन्य देशों की अपेक्षा काफी अहमियत रखता है। पारम्परिक कृषि क्षेत्र में मजदूर उत्पादन वृद्धि हेतु प्राथमिक एवं प्रमुख घटक की भूमिका का निर्वाह करता है। मानव के विकास क्रम में, जबकि खाली जमीनें (कृषि योग्य) अत्यधिक मात्रा में थीं कृषि मजदूर बहुत अधिक संख्या में उसे अपनाकर उसमें फसल उगाने का कार्य किया करते थे। इस तरीके से उन्होंने अपने श्रम के द्वारा कृषि को बढ़ावा दिया और कृषि उत्पादन का सीधा सम्बन्ध मानव मजदूर तथा मजदूरों की इकाई से गुणित विकास से जुड़ गया। कृषि मजदूर के कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप, पारम्परिक से आधुनिक कृषि का स्वरूप परिलक्षित हुआ, जो तकनीकि का एक मानवीय उदाहरण है। लेविस ने आर्थिक विकास के सन्दर्भ में अतिरिक्त श्रम या मजदूर के उपयोग के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण रूप-रेखा प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने विकास के स्रोत के रूप में इस तथ्य पर बढ़ावा दिया है कि एक निश्चित आय वर्ग वाले मजदूर को कृषि क्षेत्र से गैर-कृषि क्षेत्र में अच्छी मजदूरी पर भेजा जाय तथा पूँजीपतियों को इस बात की आज्ञा दी जाय कि उन मजदूरो के कुशल कार्य से उत्पन्न उत्पादन के परिणामस्वरूप प्राप्त लाभ को दूसरे निवेश में लगाकर पूँजी क्षेत्र का फैलाव करें।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

1. ग्रमीण कृषि मजदूरों की समग्र जीवन वृत्ति एवं सामाजिक और आर्थिक उद्‌भव की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना।
2. कृषि मजदूरों की निम्न स्थिति के कारण ज्ञात करना एवं स्थिति में गिरावट के लिए उत्तरदायी कारकों का पता लगाना।
3. ग्रामीण कृषि मजदूरों पर राजनीति का प्रभाव एवं उनमें उभरते राजनीतिक उन्मेष का सर्वेक्षण करना।
4. शैक्षिक स्तर, कार्यदशायें एवं मजदूरी से संबंधित तथ्यों को ज्ञात करना।
5. मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए शासकीय प्रयासों की प्रामाणिकता, लाभान्वयन स्तर एवं अवरोधों का मूल्यांकन करना।
6. कृषि समाज में कृषि मजदूरों के लिए वांछित आवश्यक दशाओं का पता लगाना।

तथ्यों का संकलना

वर्तमान अध्ययन में दैव निर्देशन प्रणाली के माध्यम से सहरसा जिलान्तर्गत सत्तर कटैया प्रखण्ड के कुल 300 कृषि मजदूरों का चयन किया गया तथा प्राथमिक स्रोत जिसके तहत साक्षात्कार अनुसूची, अवलोकन एवं वैयक्तिक अध्ययन के माध्यम से उनके विभिन्न पक्षो की जानकारी ली गई वहीं द्वैतीयक स्रोत यथा-जनगणना प्रतिवेदन, संबंधित साहित्य एवं शोध ग्रन्थ, मानव विकास रिपोर्ट आदि का सहारा लेकर तथ्यों को एकत्रीकरण किया गया।

विश्लेषण

किसी भी शोध समस्या के अध्ययन में उत्तरदाताओं के सामाजिक-आर्थिक और शैक्षणिक परिदृश्य के सम्बन्ध में तथ्यों का ज्ञान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। इस परिप्रेक्ष्य में जाति महत्वपूर्ण है। इस अध्ययन में जाति के आधार पर कृषि मजदूर निम्न है-

जातिः कृषि मजदूरों की जाति का विवरणः सारणी संख्या-2

	पुरूष		महिला		योग
जाति	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या
हरिजन	60	40.00	49	83.00	109
यादव	43	29.00	59	33.00	102
मुस्लिम	47	31.00	42	28.00	89
योग	150	100.00	150	100.00	

आयुः मजदूरों की सामान्य दशाओं तथा सामाजिक असमानता के मध्य बेकारी, असमर्थता, निर्धनता बाध्यता एवं ऋणग्रस्तता आदि कुछ ऐसी महत्वपूर्ण स्थितियाँ है जो श्रम और आयु के बन्धनों मे हैं। इस संदर्भ में उत्तरदाताओं के आयु को जानने का प्रयास किया गया है जो सारणी-2 में है।

सारणी संख्या-2

आयु समूह (वर्ष में)	पुरूष संख्या	प्रतिशत	महिला संख्या	प्रतिशत	योग
17 से कम	41	27.00	35	23.00	76
17 से 50	86	57.00	94	63.00	180
50 से अधिक	23	16.00	21	14.00	44
योग	150	100.00	150	100.00	300

उपरोक्त सारणी के माध्यम से स्पष्ट है कि 60 प्रतिशत उत्तरदाता 17 से 50 वर्ष के आयु समूह के हैं फलतः कहा जाएगा कि अधिकांश कृषि मजदूर युवा हैं।

शिक्षाः वर्तमान अध्ययन में कृषि मजदूरों की शैक्षणिक स्थिति की जानकारी हासिल किया गया है जो सारणी- 3 में है–

सारणी संख्या-3

शैक्षणिक स्तर	पुरूष संख्या	प्रतिशत	महिला संख्या	प्रतिशत	योग
अशिक्षित	48	32.00	121	81.00	169
प्राइमरी	85	57.00	27	18.00	112
हाई स्कूल तक	17	11.00	02	1.00	19
योग	150	100.00	150	100.00	300

इस सारणी से स्पष्ट है कि कृषि मजदूरों में महिलाओं की अपेक्षा पुरूषों में शिक्षा का स्तर उच्च है परन्तु कृषि मजदूरों में अशिक्षितों का प्रतिशत सर्वाधिक है।

कृषि साधन एवं उपकरणः वर्तमान अध्ययन में कृषि मजदूरों के पास उपलब्ध कृषि सहयोगी साधनों के बारे में जानकारी प्राप्त की गयी है जिसके अन्तर्गत खेत जोतने, बुआई करने तथा फसल काटने से सम्बन्धित साधनों एवं उपकरणों के बारे में तथ्य संकलित किये गये हैं–

सारणी संख्या-4

कृषि उपकरण एवं साधन	पुरूष			महिला			कुल
	हाँ	नहीं	योग	हाँ	नहीं	योग	योग
बैल	50	100	150	0	150	150	300
चारा काटने वाली मशीन	13	137	150	16	134	150	300
लघु कृषि उपकरण	0	150	150	0	150	150	300

इस सारणी से स्पष्ट है कि अभी भी कृषि मजदूरों के पास कृषि सम्बन्धी उपकरण एवं साधन का अभाव है।

कृषि मजदूरों में श्रम की प्रवृति का तात्पर्य है कि कृषक मजदूर कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य यथा बुआई, कटाई, पशुपालन, मधुमक्खी या मुर्गी पालन आदि करते हैं या नहीं इसी तथ्य को सारणी 5 में दिख्लाया गया है:-

कृषि मजदूरों में श्रम की प्रकृति का विवरण सारणी संख्या-5

श्रम की प्रकृति	पुरूष	महिला	योग
हल जोतना	7 (4.6)	0 (0.00)	7 (2.3)
फावड़ा, कुदाल से कार्य करना	96 (64.00)	64 (42.6)	160 (53.3
निराई, कटाई, रोपाई आदि	44 (39.3)	86 (57.3)	130 (43.3)
अन्य कार्य	3.(2.00)	0 (0.00)	3(1.00)
योग	150 (100.00)	150 (100.00)	300 (100.00)

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि महिलाओं की अपेक्षा पुरूष कृषि मजदूरों में श्रम की प्रकृति कठिन एवं विभिन्न प्रकार की है।

मजदूरी भुगतान की अवधि: कृषि मजदूरों को मजदूरी का भुगतान किस तरह किया जाता है इसको सारणी-6 में दिखाया गया है–

कृषि मजदूरों का मजदूरी भुगतान की अवधि

सारणी संख्या-6

मजदूरी भुगतान की अवधि	पुरूष	महिला	योग
प्रतिदिन	108 (72.00)	150 (100.00	268 (86.00)
साप्ताहिक	32 (21.3)	0 (0.00)	32 (10.6)
मासिक	10 (6.6)	0 (0.00)	10 (3.3)
योग	150 (100.00)	150 (100.00)	300 (100.00)

उपरोक्त तालिका संख्या-6 में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर कहा जा है कि अधिकांश मजदूरों का मजदूरी का भूगतान प्रतिदिन किया जाता है जिससे वह अपना जीवकोपार्जन कर पाते हैं, लेकिन मजदूरी कम होने के कारण वह अपने परिवार का विकास नहीं कर पाता है।

कार्य मिलने का माध्यम: कृषक मजदूरों को मजदूरी मिलने के लिए भी काफी मेहनत करना पड़ता है। इसको किस प्रकार कार्य मिलते हैं का वर्णन सारणी-7 में है-

कृषि मजदूरों को कार्य मिलने के माध्यम का विवरण:

सारणी संख्या-7

कार्य मिलने का माध्यम	पुरूष	महिला	योग
मालिक ने बुलाया	135	40	175
स्थानीय दलाल से मिला	0	0	0
स्वयं काम खोजा	02	06	08
घर के सदस्य के कारण काम मिला	13	104	117
योग	150	150	300

सारणी संख्या 7 से स्पष्ट है कि महिला कृषि मजदूरों की अपेक्षा पुरूष कृषि मजदूरों को मालिक स्वयं बुलाते हैं महिलाएँ घरेलू कार्य में ही अधिकांशत: सम्मिलित रहती है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

उपरोक्त सारे विश्लेषण के बाद निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि ग्रामीण परिदृश्य में कृषि मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय है। सामान्यत: कृषि मजदूर निर्धन परिवारों के सदस्य हैं, जिसमें निरक्षरता, ऋणग्रस्तता, बेरोजगारी, जागरूकता का अभाव और परम्परा के प्रति प्रतिबद्धता अधिक है। वे लोग अंधविश्वास, जादू-टोना में विश्वास एवं भाग्य पर अत्यधिक भरोसा करते हैं। फलत: उन लोगों का विकास में अवरोध उत्पन्न होता है। कृषि मजदूरों को सम्पूर्ण वर्ष कार्य नहीं मिलता है, अधिकांश समय ये बेरोजगार रहते हैं ऊपर से मजदूरी अन्य व्यवसायों की अपेक्षा बहुत कम हैं। इन सब कारणों के अलावा ग्रामीण विकास एवं गरीबों के उत्थान के लिए जितने भी कार्यक्रम चलाये गये है, सबका अनुभव यहीं है कि उन कार्यक्रमों का लाभ कृषक मजदूरों को नहीं मिला है। फलत: कृषि मजदूर अपनी दयनीय दशा से जूझ रहा है और विवश होकर शहरों की तरफ रोजगार के लिये पलायन करने का विचार व्यक्त करता है। जिससे वह अपना दयनीय दशा में सुधार ला सके।

सुझाव

कृषि मजदूरों की समस्याएँ हम सभी लोगों के लिए एक चुनौती है। उनकी समस्याओं का समुचित समाधान खोजने का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण समाज पर हैं। इसके लिए किया उपाय आवश्यक हैं–

1. कृषि मजदूरों के लिए मजदूरी अधिनियम का कड़ाई से पालन हो।
2. कृषि मजदूरों के कार्य के घंटे निर्धारित किये जाए और यदि उससे निर्धारित घंटे से अधिक का कार्य लिया जाता है तो अतिक्ति मजदूरी देने की व्यवस्था हो।
3. कृषि मजदूरों की समस्याओं को हल करने के लिए आवश्यक है कि कृषि पर आश्रित उद्योग विकसित किया जाए।
4. भूमि व्यवस्था में सुधार कर अतिरिक्त भूमि को कृषि मजदूरों को प्रदान किया जाए।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार केन्द्र खुले, जिससे कृषि-मजदूरों को रोजगार सम्बन्धी सूचनायें मिल सके।
6. ऐसी सहकारी संस्थाएँ स्थापित की जाए तथा बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध करायी जाए जो कृषि मजदूरों को आसानी से ऋण सुविधायें दें।
7. कृषि मजदूरों को शिक्षा के प्रति आकर्षित किया जाए।
8. कृषक-मजदूरों में जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया जाए।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. Agarwal, P.C. - The Green Revolution and Rural Labour : A study in Ludhiana, New India Press, New Delhi (1973).
2. Agrawal, A.N. - Indian Economy-problems of Development and Planning, Willey Eastern Ltd, New Delhi (1983).
3. Brenner, Y.S. - 'Agriculature and the Economic Development of low Income countries ; Mouton, Paris. (1971).
4. Chaudhri, D.P. - 'Education, Innovations and Agricultural Development' Vikas, New Delhi (1979).
5. Chauhan, I.S. & Bais, V.S., 'Social structure & Rural Development, Rawat Publication , Jaipur (1995).
6. Dubey, S.C. - Contemporary India and its Moderhisation, Vikas Publishing House, Delhi (1974).
7. Francis, D.G. - Family Agriculture : Tradition and Transformation, Earthscan Publication, London (1994).
8. Ghose Kamal Kumar , Agricultural Labourers in India : Indian Publications, Calcutta (1969).
9. Jha, P.K. , Agricultural Labour in India, Vikash Publishing House, New Delhi (1979).
10. Srinivas, M.N. - (ed.), India's Villages, Asia Publishing House, Bombey (1963).

यू॰जी॰सी॰ (नेट)

शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना

देश की आधी आबादी: विकास की राह पर

डॉ. रंजना

किसी भी सभ्य समाज की स्थिति उस समाज में स्त्रियों की दशा को देखकर ज्ञात की जा सकती है। स्त्रियों की स्थिति ही वह सपना है जो समाज की दिशा और दशा को स्पष्ट करती है। स्त्रियाँ ही संतति की परंपरा के निर्वाह में मुख्य भूमिका निभाती रही हैं। फिर भी प्राचीन समाज से लेकर आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज ने स्त्रियों को बाजार की वस्तु बना दिया गया है। आज समाज अपने नैतिक मूल्यों, गरिमा और शिष्टता से कोसों दूर चला गया है। अब इस समाज में मर्यादा और मर्यादित जीवन सिर्फ दु:खद स्वप्न बनकर रह गया है। बाल-विवाह वेश्यावृति बधुओं को दहेज के लिए जलाकर मार देना और न जाने कितने अपराध सरकारी प्रयासों के बावजूद इस समाज की जड़ों में गहरे तक जम चुके हैं। आज के इस भूमंडलीकृत समाज में स्त्रियों का अवैध व्यापार बे-रोक-टोक जारी है। हालाँकि इस व्यापार को रोकने के लिए कानून बने हैं और उन कानूनों का यथासंभव अनुपालन भी होता है लेकिन देह व्यापार के धंधे में लिप्त दलाल इनका भी तोड़ निकाल लेते हैं। सिर्फ सरकारी प्रयासों या कानून से तब तक किसी समस्या का हल नहीं निकल सकता जब तक कि हम स्वयं सक्रिय और जागरूक न हो।

भारतीय संस्कृति में नारी को सदैव महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है, यहाँ तक कि मंत्र जाप के रूप में प्रयुक्त 'सीता-राम' और 'राधा-कृष्ण' में सीता और राधा क्रमश: भगवान राम और कृष्ण से पहले आती है। कहा जाता है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता का वास होता है। परन्तु यह भी सच्चाई है कि अनेक धर्म ग्रंथों में नारी को अपमान के दृष्टि से भी देखा गया है। स्वयं सीता की अग्नि परीक्षा लिए जाने की घटना को कई विद्वानों ने नारी अपमान के रूप में देखा है। हालाँकि भारतीय जीवन दर्शन में स्त्री शक्ति का पर्याय है, इसलिए उसे शक्ति कहा जाता है, हमारी मिथकीय परंपरा में शक्ति के अभाव में आदि देव शिव, शव है। शक्ति को समाहित होने से ही शव शिव बनता है–शिव अर्थात् मंगलकारी। जो मंगलकारी है वही कल्याणकारी है। इस प्रकार शक्ति शिव को कल्याणकारी होने का गौरव प्रदान करती है। लेकिन आज इस धारणा के विपरीत महिला उत्पीड़न से संबंधित समाचार प्रतिदिन सुनने को मिलते हैं। महिलाओं को प्रताड़ित कर घर से निकाल दिया जाता है। उन्हें विभिन्न प्रकार से ब्लैकमेल किया जाता है और उनका विभिन्न प्रकार से शोषण किया जाता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में लड़की या औरत अपने आप को असहाय महसूस करती है। उसकी तमाम निरीहता एवं लाचारी के पीछे निम्नांकित में से एक या अधिक कारण होते हैं जैसे–आर्थिक लाचारी, शील एवं चरित्र के रूप में रूढ़ीवादी दृष्टिकोण, बदनामी का भय, असुरक्षा का भय आदि। भय की इन ग्रंथियों में जकड़ी एक लड़की या औरत पुरुष वर्ग के सामने अपने घुटने टेक देती है और शुरू हो जाता है उसके शोषण का अन्तहीन सिलसिला यथा: शारीरिक शोषण, यौन, शोषण, छेड़छाड़, बलात्कार और दहेज हत्या आदि। इस तरह महिला सशक्तिकरण का एक सूत्रीय लक्ष्य औरत के दिमाग से भय और असुरक्षा की ग्रंथी को काट फेकना है ताकि महिला निर्भिक होकर जिंदगी जी सके। इस प्रक्रिया को दो मोर्चे पर संचालित किया जा सकता है, एक तो व्यापक नारी जागरण द्वारा संघर्ष झेलती महिला को प्रशिक्षित करे कि किस चालाकी कुशलता और हिम्मत के साथ उन्हें अपने सामने आई विषम परिस्थिति के हमले से लोहा लेना है और दूसरा नीति निर्धारण स्तर पर महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करे।

यद्यपि महिलाओं को सशक्त करने के लिए महिला सशक्तिरण की पहल 1985 में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन नैरोबी में की गई थी। वास्तव में यदि विचार किया जाए तो महिला सशक्तिकरण का सामान्य सा अर्थ है–महिला सशक्तिकरण यानी महिला के सामने हो खूला आसमान, आँखों में सपने एवं सर उठाकर जीने की स्वतंत्रता। यथा महिला सशक्तिकरण की वास्तविक उपलब्धियाँ यह हो कि वह स्वयं पर विश्वास रखे, अपने नारीत्व पर गर्व करे, अपनी शर्तों पर जिंदगी जीने का उसमें साहस हो। साथ ही वह पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक निर्भिकता के बीच भी संतुलन स्थापित करती हो। अर्थात् सशक्तिकरण का

अभिप्राय सत्ता प्रतिष्ठानों में महिलाओं की साझेदारी से है। वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में मनाया गया था और उनके विकास के लिए विशेष बजट भी आवंटित किये गये। निर्णय लेने के स्तर पर महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने की प्रक्रिया भी उचित ढंग से आगे बढ़ रही है। देश की आधी आबादी महिलाओं की है देश का समग्र विकास महिलाओं की प्रगति के बिना संभव नहीं है। राजनीति प्रक्रिया के विकास में महिलाओं की भागीदारी समानता और विकास दोनों ही नजरिये से अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय संविधान महिला एवं पुरुष दोनों को बराबर का हक देता है। परंतु महिलाओं को दूसरे तरीके से नीचे दिखाया जाता है।

महिलाएँ सदैव हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक व्यवस्था का आधार रही है। फिर भी उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा बदतर है क्योंकि उन्हें समान अवसर नहीं मिलते, समान प्रोत्साहन नहीं मिलता और समान परिश्रमिक नहीं मिलता। पारंपरिक रूप से महिलाओं को बच्चे जनने, बच्चों का पालन-पोषण करने, पर्दा में रहने, पति, सास-ससुर की सीमित भूमिकाओं में ही देखने की पारिपाटी रही है।

परंतु शहरीकरण, औद्योगीकरण, निजीकरण, शिक्षा के प्रसार, संचार माध्यमों आदि के प्रभाव के कारण जहाँ महिलाएँ घर से बाहर काम करने जा रही है, सार्वजनिक जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रही है और अपनी पहचान बना रही है वहीं वे घरेलू की हिंसा की भी शिकार हो रही है। इंटरनेशनल सेंटर फॉर रिसर्च ऑन वीमेन के एक अध्ययन में पाया गया कि ऐसी घटनाएँ अशिक्षित परिवारों में बहुत अधिक (76% से 81%) घटती है। सभी समूहों में 40: से अधिक महिलाएँ मारपीट की शिकार है। घर के जिस चारदीवारी को स्त्री की सुरक्षा का सबसे बड़ी गारन्टी माना जाता है। वस्तुत: वही कई बार स्त्रियों के लिए हिंसक, शारीरिक मानसिक उत्पीड़न का सबसे बड़ा स्थायी स्रोत बन जाता है। जिस देश में चालीस प्रतिशत महिलाएँ किसी-न-किसी रूप में घरेलू हिंसा की शिकार हो, वहाँ एक साल में करीब दस हजार मामले दर्ज होना सच के हिमशैल से आँख मिचौली खेलने जैसा ही है। घरेलू हिंसा निषेध कानून लागू होने के बाद आशा जगी कि इससे घर की चारदीवारी में औरतों पर हाथ उठाने वाले पुरुषों की जुबान और हाथ पर अंकुश लगेगा। साथ ही हिंसा को अपनी नियति मानने वाली औरतों और पत्नि से मारपीट को मर्दानगी का सबूत समझने वाले मर्दों की सोच में भी बदलाव आएगा, लेकिन यह आसान नहीं है। निम्न वर्ग की अनपढ़ औरते ही नहीं मध्य और उच्च वर्ग की पढ़ी-लिखी तथा नौकरी पेशा संभ्रात महिलाएँ भी सदियों से हमारे यह घरेलू-हिंसा की शिकार रही हैं। सदियों पुरानी सोच-स्त्री को बराबरी ही नहीं मानवाधिकार पाने से भी रोकती है। दुनिया के अधिकांश विकसित और विकासशील देशों में महिलाएँ घरेलू हिंसा का दंश झेलती रही है। कई सर्वेक्षणों से यह बात सामने आई है कि प्रताड़ना की शिकार महिला चाहे किसी भी वर्ग की हो, पति से पिटने के बावजूद शुरू में गहरी शर्म और हीनभावना के कारण मुँह नहीं खोल पाती। भारतीय समाज में यूँ भी पति के खिलाफ बोलना सामाजिक व पारिवारिक परवरिश के दायरों में शिष्टता के खिलाफ समझा जाता है। बचपन से ही लड़कियों को बोझ समझना, पराया मानना तथा यह सिखाना कि जिस घर में डोली गई है, अर्थी भी वहीं से उठनी चाहिए, उन्हें दब्बु और डरपोक बना देता है। परिणामस्वरूप अधिकांश मामलों में चाहकर भी वे अन्याय का विरोध नहीं कर पाती। घरेलू हिंसा के पाटो तले भले ही वे पिसती हों, मुँह नहीं खोल पाती। हिंसा को वे अपनी नियति मान लेती हैं और खुद को एक पिटने योग्य जीव।

संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोश की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 15-49 वर्ष की 70 प्रतिशत महिलाएँ किसी-न-किसी रूप में घरेलू हिंसा की शिकार हैं। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरों के अनुसार पति और रिश्तेदारों द्वारा महिलाओं पर हिंसा के मामले में एक साल में 9.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। लॉयर्स क्लेक्टिव (वुमन राइट्स इनिशिएटिव) नामक संगठन द्वारा तैयार रिपोर्ट 'स्टेइंग अलाइव' (अक्टूबर, 2007) के अनुसार देश भर में जुलाई 2007 तक घरेलू हिंसा के मात्र 7,913 मामले दर्ज हुए। सबसे ज्यादा मामले राजस्थान में (3,440) और दूसरे नंबर पर केरल (1,028) ये प्रकाश में आए जबकि उत्तरप्रदेश से कोई सूचना नहीं मिली फिर आंध्र प्रदेश (731) और दिल्ली में (607) दर्ज हुए। महाराष्ट्र व गोवा में 603, गुजरात में 315 पंजाब में 249 हरियाणा में 235 उत्तरांचल में 145 और कर्नाटक में 124 मामले सामने आए हैं। बिहार में घरेलू हिंसा के 64, पश्चिम बंगाल में 54 और उड़ीसा में केवल 12 मामले दर्ज हुए। संगठन की पहल पर सभी उच्च न्यायलयों ने राज्यों से आँकड़े एकत्र कर उच्चतम न्यायलय को भेजे थे। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की 2000 की रिपोर्ट के अनुसार पत्नियों की सबसे ज्यादा पिटाई पति द्वारा उस पर शक करने के कारण होती है। पिटाई के अन्य कारण है पत्नि के घर वालो से पैसा या अन्य सामान न मिलना, पत्नी द्वारा ससुराल वालों का अनादर, पति की अनुमति के बिना पत्नी का घर से बाहर जाना, घर व बच्चें की उपेक्षा करना तथा ठीक तरह से खाना न बनाना। क्राइम अगेन्स्ट बुमन सेथ ने 2002 में हेल्पलाइन सेवा शुरू की थी। वर्ष 2006

में जिन 3907 कॉल पर पुलिस ने कार्रवाई की उनमें से 70 प्रतिशत घरेलू हिंसा से संबंधित थी। इनमें से केवल 4 प्रतिशत पर ही पुलिस समझौता करा पाई।

देश में दहेज की हत्या की घटनाएँ भी पिछले तीन दशकों में काफी तेजी से बढ़ी है। हमारे देश की बहुत महिलाएँ दहेज हत्या की शिकार हो रही हैं। एक अनुमान के मुताबिक देश में हर दिन दहेज हत्या के 19 मामले यानि औसतन हर 77 मिनट में एक बहू मारी जाती है। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार 2003 में दहेज हत्या के 6208 मामले दर्ज हुए। 2004 में 7026, 2005 में 6787 और 2006 में 7618 मामले आए। दहेज निषेध कानून के अंतर्गत 2002 से 2006 के बीच क्रमशः 2816, 2684, 3592, 3204 और 4504 मामले दर्ज हुए। इन्हीं वर्षों में दहेज के कारण महिलाओं द्वारा आत्महत्या के आँकड़े क्रमशः 2378, 2347, 2585, 2305 और 2276 हैं। 2005 में दहेज हत्या के मामलो में उत्तरप्रदेश सबसे आगे रहा। उत्तरप्रदेश में 443, राजस्थान में 361 महाराष्ट्र में 341 और उड़ीसा में 334 मामले दर्ज हुए। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 2005 में दर्ज दहेज हत्या के मामलों में से 50 प्रतिशत आरोपी बरी हो गए। कानून केवल एक तिहाई हत्यारों को ही सजा दे पाया। वधुओं की चीख-चित्कार भी अगर समाज संसद और कानून के प्रहरियों को सुनाई नहीं दे रही है तो इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण और शर्मनाक स्थिति और क्या हो सकती है ?

भारत के राष्ट्रीय महिला आयोग के द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार करीब 50% महिलाएँ यौन उत्पीड़न की शिकार होती है। भारत में महिलाओं के साथ छेड़छाड़, तंग करने, अपहरण, अश्लील प्रदर्शन तथा बलात्कार जैसे उत्पीड़न के मामले भी बढ़ते जा रहे हैं। रोजाना अखबारों, रेडियो, दूरदर्शन, पत्रिकाओं, इंटरनेट आदि संचार माध्यमों के जरिए ऐसी खबरे पढ़ने को मिलती हैं। किन्तु इन प्रतिवेदित एवं थानों में दर्ज मामलों के अलावा बहुत से मामले विशेषकर ग्रामीण इलाकों में अशिक्षित महिलाओं के साथ घटित होते हैं, जो इज्जत के नाम पर न तो थानो में दर्ज होते हैं और न संचार माध्यमों द्वारा प्रतिवेदित होते हैं। इसके बावजूद दर्ज मामलों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही है जिसे तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका 8 रू भारत में बलात्कार, छेड़छाड़, अपहरण आदि के मामले

(1990.95)

	अपराध	1990	1991	1992	1993	1994	1995	1995 से घटित अपराधों में हिस्सा	2000
1.	बलात्कार,	10068	10410	11708	12218	13208	13754	12.92%	16495
2.	अपहरण एवं संपहरण	11699	12300	12077	11837	12998	14063	13.21%	15023
3.	छेड़छाड़ (मोलेस्टेशन)	20194	20611	20385	20985	24114	28475	26.75%	32940
4.	तंग करना (ईवटीजिंग)	8620	10283	10751	12009	10496	4756	4.47%	11024
5.	अश्लील प्रदर्शन	–	–	–	–	389	539	0.51%	

स्रोतः नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो, गृह मंत्रालय, भारत सरकार (नई दिल्ली)

इस तालिका से यह भी स्पष्ट है कि 1995 में महिलाओं के विरुद्ध सबसे ज्यादा अपराध छेड़छाड़ (27%) के होते हैं। उसके बाद अपहरण (13%) एवं बलात्कार (13%) के चूँकि अधिकांश अपहरण बलात्कार के लिए किए जाते हैं, इसलिए यदि उसके आंकड़े भी जोड़ दिए जाएँ तो करीब 26% मामले इस श्रेणी में आते हैं। यह किसी भी सभ्य समाज के लिए कलंक की बात है।

यद्यपि अनेक ऐसे ऐतिहासिक और सामाजिक सांस्कृति कारणों से भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति कमजोर वर्ग की बनी हुई है तथा शिक्षा रोजगार स्वास्थ्य एवं आर्थिक भागीदारी से संबंधित संकेतक में भी पुरुषों की तुलना में महिलाओं की स्थिति निम्नतर बनी हुई है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में महिला जनसंख्या 49 करोड़ 57 लाख 50 हजार होने का अनुमान है। यह देश की कुल आबादी का 48.3 प्रतिशत है यह एक दुखद पहलू है कि पिछले दो दशकों में हुए आर्थिक विकास के बावजूद महिलाओं के तुलनात्मक रूप से वंचित रह जाने की समस्या का निदान नहीं हो पाया है। मानव विकास सूची का सामाजिक आर्थिक मानदंड 'स्वास्थ्य' और शिक्षा जिसका अंग है, महिलाओं के पक्ष में नहीं जाता है।

स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी भारतीय महिलाओं की स्थिति चिंतनीय है। स्त्री चूँकी जन्मदात्री होती है इसलिए उसे ज्यादा एवं कुछ किस्म की बीमारियों का सामना पड़ता है। अच्छा स्वास्थ्य और परिवार नियोजन घर की महिला, बच्चे एवं पूरे परिवार के लिए महत्वपूर्ण है। भारत के गाँवों में माताओं की मृत्युदर विश्व में सबसे अधिक है। इसका मुख्य कारण गर्भकाल में डाक्टर को न दिखाना एवं आवश्यक पोषण नहीं लेना आदि। भारतीय परिवेश में यह माना जाता है कि यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके लिए डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय आंकड़ों के अनुसार केवल 40-50 प्रतिशत महिलाओं को ही गर्भावस्था में चिकित्सीय मदद मिलती है। एक अनुमान के अनुसार 15 से 29 वर्ष की महिलाओं की एक चौथाई मौतें गर्भावस्था संबंधी किसी भी कारण से होती है। जिसे यहाँ तालिका के रूप में दर्शाया गया है जो इस प्रकार है–

क्र॰ सं॰	मातृ मृत्यु के कारण	कुल मातृ मृत्यु दर का प्रतिशत
1.	रक्तस्राव	29.6 प्रतिशत
2.	पूरपरेल जटिलताएँ	16.1 प्रतिशत
3.	अवरूद्ध प्रसव	9.5 प्रतिशत
4.	गर्भपात	8.9 प्रतिशत
5.	गर्भधारण की विषाक्तता	8.9 प्रतिशत
6.	रक्ताल्पता	19.0 प्रतिशत
7.	अन्य	8.4 प्रतिशत

स्वास्थ्य और शिक्षा एक दूसरे से अन्तसंबंधित होती है। शिक्षा के स्तर पर महिलाओं की स्थिति में धीरे-धीरे बढ़ोतरी हुई है। स्त्री एवं पुरुष के बीच अंतर काफी कम हुआ है। इसे 1951-2001 के बीच महिलाओं में बढ़ते साक्षरता के आंकड़ों से समझा जा सकता है। इसमें जो सबसे महत्वपूर्ण बात है कि वह 1991-2001 के दौरान जहाँ महिलाओं के साक्षरता दर में 14.38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। वहीं पुरुषों में यह दर 11.13 प्रतिशत रही। अर्थात् 2001 की जनगणना के अनुसार पुरुष साक्षरता दर 74 प्रतिशत और महिला साक्षरता दर 54 प्रतिशत है। यह साक्षरता तो एक नमूना है। वह भी ऐसा जो सारी सफलताओं की कुंजी है। अब वह दिन भी सामने आएगा जब महिलाएँ पुरुषों से आगे होगी। महिलाओं में बढ़ती साक्षरता दर को तालिका द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है–

जनगणना	व्यक्ति दर में अंतर			
वर्ष	पुरुष	महिला	पुरुष-महिला	साक्षरता
1951	18.33	27.16	8.86	18.30
1961	28.30	40.40	15.35	25.05
1971	34.45	45.96	21.97	23.98
1981	43.57	56.38	29.76	26.62
1991	52.21	64.13	39.29	24.84
2001	64.84	75.26	53.67	21.59

सरकार द्वारा सशक्तिकरण के लिए एकीकरण प्रयास

आज सरकार महिलाओं के उत्थान, विकास और उन्हें सशक्त बनाने वाले सारे प्रयासों पर जोर दे रही है। सरकार गाँव एवं जंगल में अपना पहचान खोई महिलाओं से लेकर अधुनिकता से कदमताल मिलाती महिलाओं के साथ है वह आज उन्हें विकास के सारे मानक देने को तैयार है जो उन्हें सशक्त बनाने के लिए जरूरी है। इस तरह महिला सशक्तिकरण एक प्रक्रिया का नाम है जिसमें महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयासो का पुर्नबलन किया जाता है ताकि वे अपनी परंपरागत दब्बू प्रकृति के आवरण से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर बन सके, स्वावलंबी बन सके। यह तभी संभव हो पाता है जब सामाजिक जीवन में विभेद के प्रति उनकी स्वचेतना का विकास होता है और वे सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक वर्जनाओं की सीमाओं से उपर उठती है। जब वे हमेशा ही अपने होने का मतलब किसी पुरुष में ना खोजे। राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं

के सक्रिय योगदान की आवश्यकता समाज निर्माण बाजार व्यवस्था और उद्योगों में महसूस की जा रही है और अंतत: आज समाज उनको कुछ आजादी, खुली हवा में कुछ आजाद सांसें और उनका अपना ही अस्तित्व सौपने को तैयार दिखने लगा है। जो इस प्रकार है–

1. महिलायें समाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में विकसीत हो सकें। इसके लिए सरकार के 'राष्ट्रीय न्यूनतम साक्षा कार्यक्रम' के छह मूल उद्देश्यों में एक उद्देश्य 'महिलाओं को राजनैतिक, शैक्षणिक, आर्थिक और कानूनी दृष्टि से सशक्त' बनाना रखा गया है। सरकार द्वारा इस मामले में महिलाओं का पुर्नवास से लेकर आत्मनिर्भर बनाने तक की पहल की गई है। इसके लिए सरकार सरकारी तंत्र के अलावा गैर सरकारी संगठनों और स्वंयसेवी संस्थाओं से भी हाथ मिला रही है।
2. सरकार ने महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा और विकास के लिए कई संस्थाओं का गठन किया है। जिनमें राष्ट्रीय जनसहयोग एवं बाल विकास संस्थान भी एक है। 1966 में स्थापित यह संस्थान बाल विकास एवं कल्याण, महिलाओं के सशक्तिकरण और संबंधित मामलों के समग्र क्षेत्रों में स्वैच्छिक कार्य, अनुसंधान, प्रशिक्षण एवं प्रवेषीकरण के उन्नयन में संलग्न एक शीर्षस्थ संस्थान है। यह संस्थान महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के अधीन कार्य करता है। इस संस्थान का उद्देश्य बच्चों के सर्वांगीण विकास और महिला मुद्दों व महिलाओं के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के बारे में जागरूकता पैदा करने के लिए आवश्यकता आधारित कार्यक्रमों पर बल देते हुए सामाजिक विकास में स्वैच्छिक कार्य को बढ़ावा देना है।
3. महिलाओं में आत्मविश्वास बना रहे इसके लिए उन्हें आर्थिक और शैक्षणिक दोनों रूपों में मजबूत होने एवं करने की जरूरत है। इस क्रम में महिलाओं के लिए शिक्षा के संक्षिप्त पाठ्यक्रम जैसे प्रयास केन्द्रीय समाज, कल्याण बोर्ड 1958 से कर रहा है। इस योजना का लक्ष्य 15 वर्ष से अधिक आयु की लड़कियाँ/महिलाओं को कौशल उन्नयन व्यावसायिक प्रशिक्षण के अलावा शैक्षणिक अवसर प्रदान करना है। इस स्कीम में मुख्य रूप से यह सुनिश्चित करने पर बल दिया गया कि पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु आवश्यकता आधारित हो।
4. देश में महिलाओं के विकास के लिए जेंडर वजटिंग की भी व्यवस्था की गई है। जेंडर वजटिंग का अभिप्राय है राष्ट्रीय बजट में महिलाओं के लिए अलग से बजटीय आबंटन के प्रावधान। जेंडर वजटिंग किसी भी देश की सूक्ष्म आर्थिक नीतियों में महिला हितों की भागीदारी सुनिश्चित करने का माध्यम होती है। भारत में यूँ तो 1974 से ही सार्वजनिक व्यय को जेंडर के नजरिये से देखने की सुगबुगाह शुरू हो गई थी जब महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति ने अपनी रिर्पोट पेश की थी। वर्तमान में लगभग 40 देशों में जेंडर बजटिंग का प्रावधान है, लेकिन इस मामले में भारत की तरक्की काबिले-तारीफ है। वित्त मंत्रालय में जेंडर वजटिंग सचिवालय की स्थापना की गई है।
5. सरकार में ग्रामीण स्तर पर ग्रामीण महिला सशक्तिकरण के लिए अनेकों संवैधाानिक प्रावधान बनाये हैं। जिनमें अनुच्छेद 13(3)ए 39 (क) 243 (घ) (3)ए 243 न (4)ए 47 आदि है।
6. ग्रामीण महिला सशक्तिकरण की सफलता के लिए अनुपूरक पोषण कार्यक्रमों जैसे–विशेष पोषण कार्यक्रम (स्पेशल न्यूट्रीशन प्रोग्राम एस. एन. पी.) तथा मध्याह्न भोजन योजना (मिड-डे मील, एम. डी. एम) के व्यापक प्रसार हेतु सरकार के द्वारा एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम (आइ.सी.डी.एस) प्रारंभ है। इस परियोजना के माध्यम से पोषण आहार दिये जाते हैं।

   इसके अलावा महिलाओं के विकास के लिए सरकार के द्वारा कुछ योजनाएँ भी चलाई जा रही है।
7. स्वयं सिद्ध योजना–यह महिलाओं को सेवाओं के दायरे में लाने, लघु ऋण तक पहुँच बढ़ाने एवं लघु उद्योगों को बढ़ावा देने पर बल देते हुए स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं के विकास एवं सशक्तिकरण हेतु एक सरकारी प्रयास है।
8. स्व-शक्ति परियोजना–ग्रामीण महिला विकास एवं सशक्तिकरण के नाम से ज्ञात यह परियोजना पांच वर्ष की अवधि के लिए बिहार, छतीसगढ़, गुजरात, हरियाणा, झारखंड, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश राज्यों में कर्यान्वित की जा रही है।
9. महिला सशक्तिकरण के लिए इन सभी योजनाओं के अतिरिक्त और भी सरकार की अनेक योजनाएँ है।

जैसे–स्वावलंवन, कामकाजी एवं बीमार महिलाओं के बच्चों के लिए शिशु सदन/दिन में देख-रेख केन्द्र, राष्ट्रीय महिला कोष (आर. एम. के.) महिलाओं के लिए प्रशिक्षण एवं रोजगार कार्यक्रम को समर्थन, महिला समृद्धि योजना (1993)ए इंदिरा आवास योजना (1993-94) आदि।

इस तरह केवल राजनैतिक सुधारों, सामाजिक संवैधाानिक प्रावधानों एवं अधिकारों के जोड़, घटावों से ही वांछित परिणाम प्राप्त नहीं किये जा सकते। महिला सशक्तिकरण केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब महिलाओं की भूमिकाओं के संबंध में उचित अनुमान लगाने हेतु एक सकारात्मक वातावरण का निर्माण किया जा सके। पुरुषों के लिए स्वीकृत क्षेत्रों में महिलाओं के सक्रिय योगदान को पुरुष विशेषाधिकार के चलते हतोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उनको समान पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए।

सशक्तिकरण के माध्यम से महिलाओं के बढ़ते कदम

1. महिलाओं का बदलता स्वरूप इक्कीसवीं सदी के शुरू से ही ज्यादा साफ तौर नुमांया हो आया है। इस तरह आज की आधुनिक नारी केवल उपयोग की वस्तु नहीं है और न ही किसी लेखक के उपन्यास की ऐसी नायिका है जो जुल्म सहते हुए चुप रहे। आज की नारी सक्षम है, सबल है और अपने बहुआयामी रूपों में हमारे सामने है। अब वह केवल घर संभालने वाली हाउस वाइफ' ही नहीं है बल्कि बाहर के काम भी कुशलतापूर्वक सँभालती है। महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने में शिक्षा का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। आज की महिला को यह समझ में आने लगा है कि शिक्षा के बिना स्वतंत्रता या अधिकार की बात करना बेकार है। पहले जो पुरुष निर्णय लेते थे उसे ही स्त्री मानती थी, जिसके फलस्वरूप वह मानसिक एवं शारीरिक रूप से पुरुषों द्वारा शोषित होती थी। जैसे-जैसे वह शिक्षित होने लगी, उसे सही और गलत की पहचान होने लगी है। महिलायें जरूरत के मुताबिक धीरे-धीरे ही सही बाहर निकलकर काम करने लगी है। लड़कियों में शिक्षा की क्रांति महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। यही वजह है कि आज महिला-जीवन का पूरा परिदृश्य बदला-बदला सा नजर आता है। रिपोर्ट ऑफ कंसल्टेटिव कमेटी ऑफ पार्लियामेंट 2006 के अनुसार 1950 में 100 पुरुषों के मुकाबले मात्र 14 महिलाये उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी वर्तमान समय में स्त्री पुरुष शिक्षा का अनुपात 68 : 100 हो गया है। इसकी वजह यह है कि महिलायें विशेषकर लड़कियाँ शिक्षा के मामले में अत्यधिक जागरूक हो रही है।
2. महिलाये शिक्षित होने के साथ-साथ आर्थिक रूप में स्वावलंबी भी हो रही हैं। आज महिलायें पुरुषों के साथ-कदम-से-कदम मिलाकर चल रही है। आज लड़कियाँ केवल नर्स, टीचर या सेक्रेटरी ही नहीं बनना चाहती है, अपितु वे इंजीनियर वैज्ञानिक, पायलट, पुलिस, पत्रकार वे सब कुछ बनना चाहती है जिस पर केवल पुरुषों का अधिकार था। विभिन्न कंपनियों, बैंको एवं वित्तीय संस्थानों आदि में आज महिलायें उच्च पदों पर आसीन है। प्रशासन एवं न्यायपालिका में भी महिलायें बढ़-चढ़ कर आगे है। आज की महिलायें आर्थिक रूप से अपने परिवार को सहयोग भी देती हैं। कुछ करने एवं पाने के कारण उनके आत्म विश्वास में वृद्धि हुई है।
3. आज महिलायें अपने अधिकारों के प्रति सजग है। वे अपने अधिकारों की माँग करने में हिचकिचाती नहीं है और न चुपचाप अन्याय एवं जुल्म सहती है। वे अपनी नौकरी जीवन साथी एवं जीवन शैली का चुनाव स्वयं करने लगी है। साथ ही अपने कर्तव्यो को भी वे बखूबी निभाती है–चाहे वह कर्तव्य परिवार के प्रति हो या देश या समाज के प्रति। उसे समाज की बढ़ती हुई समस्याओं की जानकारी होती है और उसे दूर करने में सहयोग भी देती हैं। जाहिर है वह आज एक ऐसी शख्सियत के रूप में खुद को पाने लगी है, जो अपने मसले अपने फैसले और अपने वजूद की खुद मुख्तारी करना जानती है यानी वह बात-बात पर दूसरो का मुँह ताकने वाली-माटी की मूर्ति नहीं रही है।
4. आज की महिलायें अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहती है। वह अपने वजूद के साथ खुद को प्रस्तुत करती है और अपनी एक अलग पहचान बनाती है। कभी अधिकांश महिलाओं की पहचान उसके पिता या पति से होती थी, उसकी अलग से कोई पहचान नहीं थी। आज वह अनेक बाधाओं, सामाजिक नियमों, मान्यताओं और संस्कारों को पार करते हुए इस स्थिति पर पहुँची है कि वह खुद के बारे में निर्णय ले सकती है। महिला सशक्तिकरण का ही परिणाम है कि आज लोग बेबी हल्दार को जानते हैं, जो संघर्ष करते हुए घरेलू कामवाली से लेखिका बनीं।

5. शहरों की महिलाओं के साथ-साथ ग्रामीण महिलायें भी जागरूक हो रही है। वे शिक्षित होने के साथ-साथ अपने अधिकारों एवं अस्तित्व के लिए आवाज उठाने लगी है। आज ग्रामीण क्षेत्र की महिलायें भी अपने परिवार की देखभाल के साथ-साथ स्वरोजगार शुरू कर आर्थिक रूप से मजबूत होने लगी है। ग्रामीण महिलाओं में जागरूकता आने के कारण ही अनेक विरोधों के बावजूद कई गाँवों के पंचायत में उनका दखल बढ़ता जा रहा है। वह बाकायदा चुनाव जीतकर सरपंच, मुखिया आदि बन रही हैं और गाँव के विकास में योगदान दे रही है।

निष्कर्ष–समय के साथ हालात बदल रहे हैं इसमें कोई शक नहीं, लेकिन अभी भी ये बदलाव महज मिसालें भर ही हैं। कानून संविधान और समाज अपनी जगह है लेकिन सच यह है कि अपनी जगह बनाने के लिए महिलाओं की जंग अभी भी जारी है। कभी गाँधीजी ने नीति निर्माताओं को चेताया था कि जब हम कोई भी नियम बनायें तो दिमाग में आखिरी आदमी की तस्वीर जरूर होनी चाहिए। गाँधीजी ने भारत की राजनीति और समाज को अपनी दृष्टि से समझा था। महिलाओं के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है।

आज की महिलायें आत्मसचेतन, आत्मनिर्भर एवं आत्मविश्वासी है। वह जो भूमिका पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक एवं आर्थिक रूप से निभाना चाहती हैं, उसके प्रति सचेत है, फिर भी महिला सशक्तिकरण सही अर्थों में तभी सार्थक होगा जब हर महिला मजबूत पंख लिये खुले आसमान में स्वयं उड़कर अपनी खुद की एक पहचान बनायेंगी। साथ ही वह आनेवाली पीढ़ी के लिए एक बेहतर संसार का निर्माण करने का प्रयास करेगी। उसमें स्वयं को बदलने की अदम्य शक्ति है। बस जरूरत है, अपने अस्तित्व को पहचानने की। इस तरह महिला कल्याण से विकास और विकास से सशक्तिकरण की ओर बढ़ते हमारे कदमों ने साफ कर दिया है कि अब मंजील दूर नहीं है।

भारतीय महिला राष्ट्र-समाज के विकास की दिशा एवं दशा निर्धारण में अहम भूमिका निभाती है इन्हीं के जीवन-बेहतरी में राष्ट्र की तरक्की सुनिश्चित है। अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि महिलाओं की कार्य करने की क्षमता को और अधिक सशक्त किया जाये। जिससे देश के विकास में महिलायें अपनी भागीदारी पूरी जिम्मेदारी के साथ निभा सके तथा उनके द्वारा किये गये कार्य को मुद्रा में मापा जा सके। अतः महिलाओं का सशक्तिकरण एक अनवरत् और गतिशील प्रक्रिया है। इस आधी दुनिया को विकास की राह पर लाकर ही पूरी प्रगति की जा सकती है।

संदर्भ सूचीः

1. श्रीनिवास, एम. एन. (2002)–(द चेंजिंग पोशीशन ऑफ इंडियन वीमेन) पृष्ठ 283-287
2. मेहरोत्रा दीप्ती (2001)–भारतीय महिला आंदोलन नई दिल्ली, संपूर्ण ट्रस्ट पृष्ठ–57-62
3. राष्ट्रीय स्वास्थ सर्वेक्षण–2006
5. सामाजिक परिवर्तनः जून–2007
6. प्रतियोगिता दर्पण–अगस्त-2008
7. रोजगार समाचार (15-21) अप्रैल-2002
8. हिन्दुस्तान–पटना 28 अक्टूबर 2007 पृष्ठ-8
9. सोसियों इकोनोमिक स्टेटस ऑफ इंडियन वीमेन/एडिसेड वाइ के. मुरली मनोहर दिल्ली सीमा पब्लिकेशन्स, 1983ए 137 पृष्ठ
10. Ibid
11. हिन्दुस्तान, पटना 8 मार्च-2008 पृष्ठ-9
12. इंडियन वीमेनः चेन्ज एंड चैलेंज इन दी इंटरनेशनल डिकेड 1975.1985धवाई नीरा देसाई एण्ड विभूति पटेल-बम्बईः पोपुलर, 1985
13. कुरुक्षेत्र–मार्च-2007, पृष्ठ 13-16
14. हिन्दुस्तान–पटना-05 मार्च-2008 पृष्ठ-4
15. दैनिक जागरण–पटना 8 मार्च 2009 पृष्ठ-6

तदर्थ व्याख्याता

समाजशास्त्र विभाग

बी॰ एन॰ कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारत में नियोजित परिवर्तन: प्रमुख योजनाएँ

डॉ. लालेश्वर प्र॰ यादव एवं डॉ॰ सूर्यकांत कुमार

भारत में नियोजित परिवर्तन हेतु प्रयत्न पिछले 200 वर्षों से चल रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद केन्द्र और राज्य सरकारों ने भी इस ओर विशेष प्रयत्न किये हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश के सर्वांगीण विकास हेतु प्रयत्न किये गये हैं। 1953 में इसी उद्देश्य से केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड तथा 1985 में एक कल्याण मंत्रालय की स्थापना की गई। समाज के कमजोर और सामाजिक-आर्थिक रूप से वंचित तबकों को अधिकार दिलाने के अधिकांश कल्याण कार्यक्रमों के दबाव के मद्देनजर 25 सितम्बर, 1985 में गठित कल्याण मंत्रालय को 25 मई, 1998 में नया नाम दिया गया, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय। अनुसूचित जनजातियों के विकास का कार्य अब 13 अक्टूबर, 1998 को गठित जनजातीय कार्य मंत्रालय सम्भाल रहा है। नियोजित परिवर्तन के उद्देश्य से देश मे समय-समय पर विभिन्न प्रकार की योजनाएँ एवं कार्यक्रम बनाए एवं क्रियान्वित किये गये। इनमें ग्रामीण पुनर्निर्माण के उद्देश्य से सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया जिस बाद में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के रूप में बदल दिया गया। वर्ष 1999 में एकीकृत ग्रामीण विकास योजना (IRDP) सहित 5 अन्य योजनाओं को स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना में विलय कर दिया गया। यहाँ समय-समय पर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन हेतु अनेक विधान बनाए गये। समाज के कमजोर वर्गों के उत्थान और महिलाओं की स्थिति में सुधार के विशेष प्रयत्न किये गये। मन्त्रालय के द्वारा समाज कल्याण के अनेक कार्यक्रम भी संचालित किये गये। इसी प्रकार की योजनाएँ लागू की गयीं। इन कार्यक्रमों का मौलिक उद्देश्य आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना था। ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सरकार ने अनेक परियोजनाओं का शुभारम्भ किया। प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाएँ विकास से संबंधित थीं। चौथी और पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में गरीब एवं पिछड़े वर्ग के लोगों में उत्थान के लिए अनेक रोजगार परक कार्यक्रमों का सूत्रपात हुआ। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में गरीबी निवारण प्रमुख उद्देश्य था जिसे लक्षित करते हुए अनेक विकास परक कार्यक्रम लागू हुए। नियोजित परिवर्तन की इन विभिन्न योजनाओं पर प्रारम्भ से लेकर आज तक अरबों-खरबों रुपया खर्च हो चुका है, किन्तु इन योजनाओं का सामान्य जनता को कितना लाभ मिला है, यह योजना के मूल्यांकन का विषय है जिस पर आगे के पृष्ठों में विचार किया जायेगा। हम यहाँ नियोजित परिवर्तन की दृष्टि से चलायी गयी प्रमुख योजनाओं पर विचार करेंगे।

स्वतंत्रता के बाद नियोजन काल में निम्नांकित प्रमुख विकास एवं रोजगारपरक कार्यक्रम लागू किये गये–

(1) सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952),
(2) सघन कृषि जिला कार्यक्रम (IADP 1960),
(3) अधिक उपज देने वाली किस्मों का कार्यक्रम (HYVP 1965),
(4) छोटे किसान के विकास की एजेन्सी (SFDA 1969),
(5) सीमान्त किसान एवं कृषि श्रमिक एजेन्सी (MFALA 1969),
(6) सूखा प्रवृत्त कार्यक्रम (DPAP 1973.74),
(7) ग्रामीण कार्य योजना (RWP 1971),
(8) ग्रामीण रोजगार के लिए पुरजोर स्कीम (CSRE 1971),
(9) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (MNP 1974),
(10) कार्य के बदले अनाज योजना (FWP 1977),

(11) अन्त्योदय (1978),
(12) कमान क्षेत्र विकास कार्यक्रम (CADP 1978),
(13) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP 1978),
(14) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP 1980),
(15) ग्रामीण युवाओं के लिए स्व-रोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम (TRYSEM 1980),
(16) ग्रामीण महिला एवं बाल-विकास योजना (DWCRA 1982),
(17) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (RLEGP 1989),
(18) जवाहर रोजगार योजना (JRY 1993),
(19) सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास योजना (1993),
(20) प्रधानमंत्री की रोजगार योजना (PMRY 1993),
(21) महिला समृद्धि योजना (1993),
(22) रोजगार बीमा योजना (EAS 1994.95),
(23) राष्ट्रीय सामाजिक सहायता योजना (NSp 1995),
(24) इन्दिरा महिला योजना (IMY 1995),
(25) प्रधानमंत्री की समन्वित शहरी गरीबी उन्मूलन योजना (PMIUPEP 1995),
(26) बालिका समृद्धि योजना (1977),
(27) गंगा कल्याण योजना (1977),
(28) स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (SJSRY 1997),
(29) कस्तूरबा गाँधी शिक्षा योजना (1977),
(30) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (1999),
(31) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (1999),
(32) अन्त्योदय अन्न योजना (2000),
(33) अन्नपूर्णा (2000),
(34) आश्रय बीमा योजना (2001),
(35) सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (2001),
(36) प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (PMGY 2000.01)–प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास), प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण पेयजल परियोजना),
(37) जनश्री बीमा योजना (2000),
(38) कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना (2001)।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना

एक समग्र स्वरोजगार योजना, ग्राम स्वरोजगार योजना के नाम से 1 अप्रैल, 1999 को शुरू हुई। इस योजना में पहले के स्वरोजगार तथा सम्बद्ध कार्यक्रमों, यथा- समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण कार्यक्रम (ट्राइसेम), ग्रामीण क्षेत्र महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम (द्वाकरा), ग्रामीण दस्तकारों को उन्नत औजारों की किट की आपूर्ति का कार्यश्म (सिट्रा), गंगा कल्याण योजना तथा 10 लाख कुआँ योजना, का समेकित कर दिया गया और अब ये कार्यक्रम अलग से नहीं चल रहे हैं। इस योजना में पहले वे स्वरोजगार कार्यक्रमों की शक्तियों और कमजोरियों का ध्यान रखास गया है।

योजना का उद्देश्य ग्रामीण गरीबों की पारिवारिक आय को बढ़ाना तथा आधारभूत स्तर पर लोगों की स्थानीय जरूरतों व

संसाधनों को सुगमता प्रदान करना है। इस पुनर्संरचना का उद्देश्य भू-आधारित व अन्य तरीकों से सूक्ष्म उद्यमों के विकास के माध्यम से निरन्तर आय का सृजन कर कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली बनाना है।

यह योजना एक ऋण एवं सब्सिडी कार्यक्रम है। ऋण प्रमुख तत्व होगा, जबकि सब्सिडी केवल समर्थकारी तत्व होगी। अत: योजना के तहत परियोजनाओं का नियोजन और तैयारी, गतिविधि समूहों का चयन, क्षमता निर्माण और आत्मनिर्भर समूहों के चयन के साथ-साथ बुनियादी ढाँचे के नियोजन, स्वरोजगारियों के चयन, ऋण-पूर्व गतिविधियों और ऋण वसूली सहित ऋणोत्तर निगरानी के काम में बैंकों की अधिकाधिक भागीदारी की व्यवस्था है। योजना के अन्तर्गत सब्सिडी परियोजना लागत के 30 प्रतिशत की एक समान दर पर होगी, लेकिन इसकी अधिकतम सीमा 7,500 प्रतिशत होगी। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए यह सीमा 50 प्रतिशत या 10,000 रु॰ होगी, लेकिन इसकी अधिकतम सीमा 1.25 लाख रुपये हैं। सिंचाई परियोजनाओं के लिए सब्सिडी की अधिकतम सीमा नहीं होगी। योजना में ग्रामीण गरीबों के कमजोर वर्गों पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसी तरह कम से कम 50 प्रतिशत अनुसूचित जातियों/जनजातियों, 40 प्रतिशत महिलाओं और तीन प्रतिशत विकलांगों को योजना का लक्ष्य बनाया जाएगा।

योजना में दी जाने वाली धनराशि केन्द्र और राज्य सरकारें 75.25 के अनुपात में बाँटेगी। राज्यों के निर्धारित केन्द्रीय आवंटन का विवरण राज्यों में गरीबी के आधार पर किया जाएगा, लेकिन वर्ष के दौरान धन के उपयोग की क्षमता और विशेष आवश्यकताओं जैसी बातों को भी ध्यान में रखा जाएगा।

वर्ष 2000-2001 के दौरान 1,084.66 करोड़ रुपये खर्च किए गए तथा 1,416.4 करोड़ रुपये के ऋण आवंटित किए गये। कुल 4.89 लाख स्व-सहायता समूहों का गठन किया गया तथा 9.78 लाख स्वरोजगारियों को सहायता दी गई। वर्ष 2001-02 के लिए बजट 700 करोड़ रुपये निर्धारित किया गया।

जवाहर ग्राम समृद्धि योजना

यह योजना पूर्व की जवाहर रोजगार योजना का पुनर्गठित, सुव्यवस्थित और व्यापक रूप है। अप्रैल, 1999 को शुरू की गई इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण गरीबों के जीवन स्तर को सुधारना है। इस योजना को दिल्ली और चण्डीगढ़ को छोड़, सारे देश में सभी ग्राम पंचायतों में लागू किया गया है। गाँवों में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए स्थायी परिसम्पत्तियों सहित माँग-प्रेरित बुनियादी ढाँचे का निर्माण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब बेरोजगार/अल्प रोजगार वाले लोग इस योजना के लक्ष्य समूह हैं। समाज के कमजोर वर्गों को इस योजना के तहत विशेष सुरक्षा प्रदान की गई है।

योजना में खर्च की जाने वाली राशि केन्द्र व राज्य सरकारें 75:25 के अनुपात में वहन करेंगी। केन्द्रशासित प्रदेशों के मामले में सम्पूर्ण खर्च केन्द्र उठाएगा। योजना को पूर्णत: ग्राम पंचायत-स्तर पर ही लागू किया गया है। जिला ग्रामीण विकास एजेन्सियाँ और जिला परिषदें सीधे ग्राम पंचायतों को धन देंगी, जिसमें राज्य का हिस्सा भी शामिल होगा। ग्राम सभा की मंजूरी से वार्षिक कार्य-योजना तैयार करने और उसे लागू करने का पूरा अधिकार ग्राम पंचायत को है।

स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना

देश के सभी शहरों/अर्द्ध-शहरों में स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना 1 दिसम्बर, 1997 से चल रही है। इसमें ऋण की राशि की अधिकतम सीमा नहीं है। इस योजना के अधीन ब्लाक स्तर पर निश्चित किए गए 4 या 5 कार्यों के लिए अधिकांश राशि दी जाएगी। बैंक ऋण वाले इसके अन्य उपायों में दो उप-योजनाएँ हैं- शहरी स्वरोजगार कार्यक्रम और शहरी क्षेत्रों में महिला और बाल विकास की योजना। इसमें किसको सहायता दी जाए इसकी पहचान घर-घर सर्वेक्षण के जरिए शहरी स्थानीय निकायों द्वारा की जाती है। इसके अन्तर्गत कम से कम 30 प्रतिशत महिलाओं, तीन प्रतिशत विकलांगों और अनुसूचित जाति तथा जनजाति की औसत संख्या के बराबर इस वर्ग के लोगों को सहायता देना अनिवार्य है। इस योजना के अन्तर्गत 75 प्रतिशत सब्सिडी केन्द्र और 25 प्रतिशत राज्य सरकारें देती हैं। यू॰एस॰ई॰पी॰ योजना के अन्तर्गत शहरी शहरी क्षेत्र में ऐसे बेरोजगार या अद्ध-बेरोजगार युवकों को, जो गरीबी-रेखा से नीचे के परिवारों के हैं, नौवीं तक पढ़े-लिखे हैं और जिनके नाम यू॰एल॰बी॰ सूची में दर्ज हैं, बैंक ऋण दिए जाते हैं। इस योजना में 50,000 रुपए तक की परियोजनाओं के लिए सहायता दी जाती है। इसमें सरकार परियोजना लागत के 15 प्रतिशत के बराबर सब्सिडी देती है, लेकिन आर्थिक-सहायता की अधिकतम सीमा 7,500 रुपए रखी गई। लाभार्थी को परियोजना की पाँच प्रतिशत राशि बैंक के पास मार्जिन मनी के रूप में जमा करानी होती

है। इसमें भागीदारी की भी छूट होती है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा निर्धारित दर पर ब्याज लिया जाता है। डी॰डब्ल्यू॰सी॰यू॰ए॰ योजना में महिला उद्यमी एक समूह बनाकर स्वरोजगार के उपक्रम कर सकती है। समूह में कम-से-कम दस शहरी गरीब महिलाएँ होनी चाहिए। इसके अलावा ये समूह अपनी अल्प बचन ऋण क्रेडिट-थ्रिफ्ट समिति शुरू कर सकते हैं। ऐसे समूह की परियोजनाओं पर सरकार परियोजना लागत का 50 प्रतिशत या 1,25,000 रुपये, इनमे से जो भी कम है, के बराबर सब्सिडी देती है। शुरूआती 5 से 18 महीने की छूट के बाद ऋण भुगतान तीन से सात वर्ष में किया जा सकता है। भुगतान का फैसला बैंक करता है। वर्ष 1999-2000 में 98,096 लोगों के लिए 24,508.10 लाख रुपये का ऋण मंजूर हुआ और 66,747 लोगों को 16,089.41 लाख रुपये का ऋण दिया गया।

इन्दिरा आवास योजना

सर्वप्रथम 1985-86 में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम की एक परियोजना के रूप में इन्दिरा आवास योजना प्रारंभ हुई, जिसे 1 अप्रैल, 1989 से जवाहर रोजगार योजना की उपयोजना की उपयोजना के रूप में जारी रखा गया।

1 जनवरी, 1996 से इन्दिरा आवास योजना को जवाहर रोजगार योजना से अलग करके एक पृथक् एवं स्वतंत्र योजना का रूप दे दिया गया। इस योजना का मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जाति/जनजाति, मुक्त बन्धुआ मजदूरों के सदस्यों द्वारा मकानों के निर्माण में मदद करना तथा गैर-अनुसूचित जाति/जनजाति के गरीबी की रेखा के ग्रामीण लोगों को अनुदान देना हैं योजना के अन्तर्गत मकान का आवंटन लाभार्थी परिवार की महिला सदस्य के नाम अथवा पति-पत्नी के संयुक्त नाम पर किया जाता है।

रोजगार सृजन एवं गरीबी उन्मूलन की नवीन योजनाएँ

1. प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (PMGY): ग्रामीणों की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम चलाने के उद्देश्य से वित्तमंत्री द्वारा प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना घोषित की गई। ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाने के समग्र उद्देश्य सहित स्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा, पेयजल, आवास तथा ग्रामीण सड़कों जैसे पाँच महत्वपूर्ण क्षेत्रों में ग्रामीण स्तर पर विकास करने पर ध्यान देने के उद्देश्य से यह योजना वर्ष 2000-2001 में शुरू की गई।

(i) प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना (PMGSY): वर्ष 2003 तक 1,000 व्यक्तियों से अधिक जनसंख्या तथा वर्ष 2007 तक 500 व्यक्तियों से अधिक जनसंख्या सहित सभी ग्रामवासियों को सभी मौसमों में अच्छी रहने वाली सड़कों के माध्यम से सड़क सम्पर्क सुविधा मुहैया कराने के उद्देश्य से यह योजना 25 दिसम्बर, 2000 को शुरू की गई। वर्ष 2001-2002 में इस योजना के लिए 2,000 करोड़ रुपए के आवंटन की व्यवस्था की गई है।

(ii) प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास): ग्रामीण स्तर पर लोगों के स्थायी निवास को विकसित करने तथा ग्रामीण गरीबों की बढ़ती हुई आवास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से यह योजना इंदिरा आवास योजना के पटर्न पर कार्यान्वित की जानी है।

(iii) प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण पेयजल परियोजना): इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल आवंटन का कम-से-कम 25 प्रतिशत भाग सबन्धित राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा व विकास कार्यक्रम/सूखा सम्भावित क्षेत्र कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे क्षेत्रों के सम्बन्ध में जल संरक्षण, जल-प्रबन्धन, जल भराई तथा पेयजल संसाधनों को कायम रखने के लिए परियोजनाओं/योजनाओं के सम्बन्ध में उपयोग लाया जाना है।

2. जनश्री बीमा योजना: समाज के गरीब वर्ग को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए वित्तमंत्री द्वारा 'जनश्री बीमा योजना' नामक सामूहिक बीमा की एक नई योजना आरम्भ करने की घोषणा की गई। शहरी एवं ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों के 18 से 60 वर्ष की आयु वर्ग के लोग इस योजना में सम्मिलित किये गये हैं। इस योजना में लाभार्थियों को 200 रुपये वार्षिक प्रीमियम का भुगतान कराना होता है। लाभार्थी को स्वाभाविक मृत्यु की दशा में 20,000, दुर्घटनावश मृत्यु/स्थायी विकलांगता के लिए 50,000 तथा आंशिक विकलांगता के लिए 25,000 रुपये का बीमा कवच देने का प्रावधान है। गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लाभार्थी प्रीमियम की केवल आधी राशि का भुगतान करेंगे। यह योजना 10 अगस्त, 2000 से लागू की जा चुकी है।

3. अन्त्योदय अन्न योजना: अन्त्योदय अन्न योजना उन दो योजनाओं में से एक है, जिन्हें प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के 76वें जन्म दिवस 25 दिसम्बर, 2000 को लागू किया गया। अन्त्योदय अन्न योजना के उद्देश्य निर्धनों को अन्न

सुरक्षा उपलब्ध कराना है। इस योजना में देश के एक करोड़ निर्धनतम परिवारों को प्रति माह 25 किग्रा. अनाज विशेष रियायती मूल्य पर उपलब्ध कराया जाएगा। इस योजना के अन्तर्गत जारी किये जाने वाले गेहूँ एवं चावल का केन्द्रीय निर्गम मूल्य क्रमशः 2 रुपये तथा 3 रुपये प्रति किग्रा. होगा। नये मूल्य की इस श्रेणी के साथ ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत उपभोक्ताओं की श्रेणियों की संख्या दो से बढ़कर तीन हो जाएगी। अब तक इस प्रणाली में केवल दो ही श्रेणियाँ थीं– गरीबी रेखा से नीचे (BPL) तथा गरीबी रेखा के ऊपर (APL)।

4. सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (SGRY): 25 दिसम्बर, 2001 को स्व॰ पं॰ दीनदयाल उपाध्याय के जन्म दिवस पर प्रधानमंत्री ने ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिर सामुदायिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिसम्पत्तियों के सृजन सहित ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी रोजगार तथा खाद्य सुरक्षा देने के लिए सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना का शुभारम्भ किया। ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा चलाई जाने वाली इस योजना के लिए वर्ष 2001-02 हेतु 10,000 करोड़ रुपये स्वीकृत किए गए हैं। पंचायती संस्थाओं के माध्यम से लागू की जाने वाली इस योजना में प्रति वर्ष 100 करोड़ मानव दिवस रोजगार सृजित किया जाएगा। दो चरणों वाली इस योजना के पहले चरण में जिला एवं ब्लाक पंचायतों को सम्मिलित किया जाएगा जिस पर आवंटित धनराशि का 50 प्रतिशत व्यय होगा। (जिला परिषदों को 20 प्रतिशत तथा पंचायत समितियों को 30 प्रतिशत मिलेगा)। योजना के दूसरे चरण में ग्राम पंचायतें शामिल की जाएगी। इस योजना में कार्य करने वाले बेरोजगारों को प्रतिदिन 5 किलो खाद्यान्न दिया जाएगा, शेष भुगतान मुद्रा में किया जाएगा। योजना के अन्तर्गत किए गए कार्य श्रम आधारित होंगे और स्थायी सामुदायिक परिसम्पतियों के सृजन में सहायक होंगे। आर्थिक सर्वेक्षण 2001-2002 के अनुसार पूर्व से चल रही दो योजनाओं (रोजगार आश्वासन योजना तथा जवाहर ग्राम समृद्धि योजना) को 1 अप्रैल, 2002 से सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना में समेकित किया जा रहा है।

5. वाल्मीकी अम्बेडकर आवास योजना: केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने 2,000 करोड़ रुपये के वार्षिक परिव्यय की एक नगरीय आवास योजना के रूप में वाल्मीकि अम्बेडकर आवास योजना का गत 23 अक्टूबर को अनुमोदन किया है। इस योजना का उद्देश्य सन! 2010 तक सभी को आवास उपलब्ध कराना है। नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले गरीबी की रेखा के नीचे के व्यक्तियों को आवास उपलब्ध कराने वाली इस योजना में अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए 50%, अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 30%, आर्थिक दृष्टि से दुर्बल लोगों के लिए 15%, तथा शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से विकलांगों के लिए 5% कोटा निर्धारित किया गया है। इस योजना में 2,400 रुपये प्रति माह से कम आय वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है।

6. आश्रय बीमा योजना: सार्वजनिक क्षेत्र की साधारण बीमा कम्पनियों ने आर्थिक पुनर्संरचनात्मक उपायों के क्रियान्वयन के कारण छंटनी किये गये श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा कवच प्रदान करने के लिए 10 अक्टूबर, 2001 से आश्रय बीमा योजना आरम्भ की गई है। इस योजना की घोषणा वित्तमंत्री द्वारा 2001-02 के बजट में की गई थी। यह योजना साधारण बीमा कम्पनियों द्वारा बिना लाभ-हानि के आधार पर चलाई जा रही है।

7. कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना: जीवन बीमा निगम ने 18-50 वर्ष के आयु समूह में भूमिहीन कृषि श्रमिकों के लाभ के लिए 1 जुलाई, 2001 को कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना आरम्भ की है।

अन्य कल्याण कार्यक्रम

विभिन्न विकास कार्यक्रमों के अतिरिक्त नियोजित परिवर्तन की अन्य योजनाएँ एवं कार्यक्रम निम्नांकित हैं–

1. बाल-कल्याण: बालकों के कल्याण के लिए एवं बाल-श्रमिकों के शोषण को रोकने के लिए कानूनी एवं अन्य कल्याणकारी कार्य किए गए हें।

1991 की जनगणना के अनुसार देश में बाल श्रमिकों की संख्या 1.12 करोड़ थी। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के एक आकलन के अनुसार यह संख्या लगभग 1.04 करोड़ है। 'कारखाना अधिनियम, 1948' में यह प्रावधान है कि 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को किसी भी कारखाने में काम पर नहीं लगाया जा सकता। उन्हें किसी भी ऐसे कार्य पर नहीं लगाया जा सकता, जिससे उनका स्वास्थ्य खराब हो सकता है। भारतीय खनन अधिनियम, 1952 के अनुसार 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों को खानों में काम पर नहीं लगाया जा सकता। इस अधिनियम में 15 से 18 वर्ष के बाल-श्रमिकों के लिए कार्य के घण्टे एवं छुट्टियाँ, स्वास्थ्य सुविधाओं, कार्य की दशाओं एवं न्यूनतम वेतन, आदि का भी उल्लेख किया गया है। वर्ष 1987 में बाल श्रम के बारे में एक राष्ट्रीय नीति बनाई गई, जिसमें बाल श्रमिकों के लाभ के लिए कानूनी प्रावधानों को लागू करने

के अलावा सामान्य विकास कार्यक्रमों और बाल श्रमिकों की अधिकता वाले क्षेत्रों में परियोजना आधारित कार्य योजना पर ध्यान देने जैसी बातें शामिल की गई हैं। परियोजना कार्य-योजना के अन्तर्गत बाल-श्रमिकों के पुनर्वास के लिए विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय बाल-श्रम परियोजनाएँ चलाई जा रही है। 1975 में समन्वित बाल विकास सेवा कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इसके निम्न उद्देश्य हैं– (1) पूरक पोषाहार, (2) टीके लगान, (3) स्वास्थ्य की जाँच, (4) रोगी बच्चों को अस्पताल भेजना, (5) स्कूल एवं अनौपचारिक शिक्षा तथा (6) माताओं का पोषाहार एवं स्वास्थ्य की समुचित शिक्षा देना। 0-6 वर्ष तक की आयु के बच्चे और गर्भवती महिलाएँ तथा स्तनपान कराने वाली माताएँ केन्द्र द्वारा प्रायोजित इस कार्यक्रम का लक्ष्य है।

2. महिला कल्याण: 2001 की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या 102.70 करोड़ है, जिसमें से 49.57 करोड़ महिलाएँ हैं। समाज के इतने बड़े भाग की उपेक्षा कर भारत प्रगति नहीं कर सकता। महिलाओं के कल्याण हेतु देश में कई कार्य किए गए हैं। भारत में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करने एवं उसमें सुधार हेतु 1971 में एक कमेटी बनी, जिसके सुझावों को ध्यान में रखकर महिला कल्याण के लिए अनेक कार्य किए गए। स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार करने की दृष्टि से समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किये गये तथा कल्याण कार्यक्रम चलाये गये।

3. श्रम कल्याण: श्रमिक देश की अर्थव्यवस्था की नींव है। कार्ल मार्क्स तो उत्पादन में श्रम को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। श्रम ही अतिरिक्त मूल्य को जन्म देता है, जिसमें पूंजीपति हड़प जाता है। किसी भी देश की आर्थिक प्रगति में श्रमिकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है, अत: श्रमिकों की दशा सुधारने एवं उनके कल्याण के लिए भारत में भी अनेक प्रयत्न किए गए हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार देश में 24.46 करोड़ या देश की जनसंख्या का 36.77 प्रतिशत भाग श्रमिकों का था। 1991 में कार्यशील लोगों की जनसंख्या 59.8 करोड़ थी। भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता में कमी, कम आयु, औद्योगिक विवाद, कार्य करने की बुरी दशाओं, श्रमिकों की असुरक्षा एवं शोषण आदि को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने उनके कल्याण के लिए अनेक अधिनियम बनाए और कल्याणकारी व्यवस्थाएँ की हैं। इनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं–

1948 में कारखाना अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार श्रमिकों को सवैतनिक अवकाश दिया जाता है, 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखाने में काम पर नहीं लगाया जाएगा तथा कारखाने में शिशु कल्याण, श्रम कल्याण अधिकारी तथा कैण्टीन, आदि की व्यवस्था की जाने का प्रावधान रखा गया। यह अधिनियम शोषण से मुक्ति दिलाता है तथा श्रमिकों के लिए न्यूनतम वेतन तय करता है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अन्तर्गत उन कारखानों, होटलों, रेस्टोरेण्टों, दुकानों, सिनेमा घरों आदि में जहाँ 20 या इससे अधिक काम करने वाले श्रमिक हों, के बीमार पड़ने, प्रसूति, चोट लग जाने आदि की अवस्था में इलाज का प्रबन्ध करने, नगर भत्ता देने अथवा चोट से मृत्यु हो जाने पर आश्रितों को पेंशन देने आदि की व्यवस्था की गई। पूरे देश में स्त्री और पुरूष कर्मचारियों को समान वेतन देने के लिए फरवरी 1979 में समान पारिश्रमिक अधिनियम भी बनाया गया। बोनस अधिनियम के अनुसार बैंक, रेल एवं कारखाना श्रमिकों को 8.33 प्रतिशत बोनस देने का प्रावधान किया गया है। ठेका मजदूरी अधिनियम, 1970 कुछ संस्थानां में ठेका मजदूरी व्यवस्था का नियमन करता है तथा मजदूरी की अदायगी न होने पर मालिक को जिम्मेदार माना गया है।

20 सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत बन्धुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976, पास कर बन्धुआ श्रम समाप्त कर दिया गया और ऐसे श्रमिकों की मुक्त कराकर उनके पुनर्वास की व्यवस्था की गयी। मार्च 2000 तक इस योजना पर 5,952.74 लाख रुपये जारी किए जा चुके हैं और 2,56,825 बँधुआ मजदूरों का पुनर्वास किया गया है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के प्रावधानों के अन्तर्गत जबरन छुट्टी, छँटनी और तालबन्दी का नियमन किया जाता है। सरकार ने 1982 और 1984 में औद्योगिक विवाद (संशोधन) अधिनियमों के द्वारा छँटनी, काम से छुट्टी और तालाबन्दी को और विनियमित किया है।

भारतीय खान अधिनियम, 1952 के अन्तर्गत कोयला, अभ्रक, कच्चा लोहा, चूने का पत्थर, डोलोमाइट आदि की खानों में श्रमिकों के लिए कल्याण कोष स्थापित करने काम करने पर प्रतिबन्ध लगाता है और श्रमिकों के लिए आवास, चिकित्सा, शिक्षा, सुरक्षा और मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करता है। घातक और गम्भीर दुर्घटना होने पर आर्थिक लाभ देने की व्यवस्था की गयी है।

बागान श्रम अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत बागान श्रमिकों के लिए मकान, चिकित्सा, शिक्षा एवं मनोरंजन की व्यवस्था की गयी है।

गोदी कर्मचारी अधिनियम, 1986 और उसके अन्तर्गत नियमों तथा विनियमों में गोदियों में कार्यरत कर्मचारियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण से सम्बन्धित प्रावधान रखे गऐ हैं।

4. मद्य-निषेध एवं मादक औषधियों से छुटकारा: मद्य-निषेध भी सामाजिक कल्याण का एक आवश्यक पक्ष है। शराबवृत्ति निर्धनता, बेकारी, वेश्यावृत्ति, अपराध, वैयक्तिक एवं सामुदायिक विघटन को जन्म देती है। वर्ष 1989-90 में देश की 18 प्रमुख शराब उत्पादक कम्पनियों ने 10 अरब 72 लाख रुपये का कारोबार किया। जहाँ 1946-47 में आबकारी राजस्व में विदेशी सरकार को 50 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, वहीं अब स्वतंत्र भारत की सरकार 10 हजार करोड़ रुपये से अधिक का आबकारी राजस्व प्राप्त कर रही है। भारत में 98 प्रतिशत वाहन-चालक, 95 प्रतिशत पुलिसकर्मी, 70 प्रतिशत सांसद तथा 68 प्रतिशत पत्रकार खराब पीते हैं। पिछले दो दशकों में देश में शराबवृत्ति और अन्य नशीले पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति काफी बढ़ी है। शराबवृत्ति पर रोक लगाने के लिए एवं नीति निर्धारित करने के लिए समय-समय पर विभिन्न आयोगों की स्थापना की गयी है। 1945 में श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में 'नशा निषेध जाँच समिति' गठित की गयी। 1956 में सांसद में नया प्रस्ताव पास कर मद्य-निषेध को दूसरी पंचवर्षीय योजना का आवश्यक अंग बना दिया गया। 1963 में 'टेकचन्द अध्ययन दल' की स्थापना की गयी, जिसने 1975-76 तक सम्पूर्ण देश में मद्य-निषेध लागू करने की सिफारिश की। यह कार्य विभिन्न चरणों में पूरा किया जाना था। 1978 में सप्ताह में दो दिन सूखे दिन, 1979 में चार तथा 1981 तक छः दिनों को सूखा घोषित करने एवं वर्ष के अन्त में पूर्ण मद्य-निषेध लागू करने की बात कही गयी। राज्यों को मद्य-निषेध लागू करने की बात कही गयी। राज्यों को मद्य-निषेध से होने वाले घाटे की 60 प्रतिशत पूर्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाएगी। केन्द्र सरकार के सुझाव को मानकर 1981 तक मद्य-निषेध लागू करने का संकल्प व्यक्त करने वाले राज्यों में आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान आदि प्रमुख हैं। नागालैंड एवं पंजाब ने सप्ताह में दो दिन सूखे दिनों की एवं हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल एवं सिक्किम ने सप्ताह में एक सूखे दिन की घोषणा की। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय 1985-86 से मद्यपान और नशीली दवाओं के सेवन की रोकथाम से सम्बन्धित योजना चला रहा है। इस योजना के अन्तर्गत गैर-सरकारी संगठनों को 90% तक की अनुदान सहायता दी जाती है। मंत्रालय देश भर में 350 स्वैच्छिक संगठनों को 440 केन्द्र चलाने के लिए सहायता देता है।

वर्ष 1999-2000 में इस पर 19 करोड़ रुपये खर्च किए गए है और 2000-01 के लिए 22 करोड़ रुपये आवंटित किये गये। नशा लत निवारण कार्यक्रम के लिए तकनीकी निविष्टि उपलब्ध करने तथा उसे और सुदृढ़ बनाने के वास्ते एक राष्ट्रीय नशाखोरी निवारण केन्द्र, संयुक्त राष्ट्र नियंत्रण कार्यक्रम की सहायता से राष्ट्रीय समाज सुरक्षा संस्थान, नई दिल्ली में स्थापित किया गया है।

5. विकलांगों का कल्याण: सरकार ने शारीरिक एवं मानसिक रूप से असमर्थ लोगों के कल्याण के लिए भी अनेक प्रयत्न किए हैं। इस श्रेणी में उन लोगों को सम्मिलित किया गया है जो अपंग, नेत्रहीन, लूले-लंगड़े, बहरे, पागल और निराश्रित हैं। वर्ष 1991 के एन.एस.एस.ओ. के नमूला सर्वेक्षण के अनुसार देखने, सुनने, बोलने और चलने-फिरने में बाधिक लोगों की संख्या, कुल जनसंख्या का 1.9 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों शारीरिक विकलांगता एक हजार लोगों में 20 के अनुपात से और शहरी क्षेत्रों में 16 व्यक्ति प्रति एक हजार पाई गई है।

विकलांग व्यक्ति को समान अवसर, अधिकारों की रक्षा और पूर्ण सहभागिता अधिनियम, 1955 नामक व्यापक कानून को फरवरी, 1996 में लागू किया गया। इस कानून के तहत केन्द्र और राज्य स्तर पर विकलांगों के पुनर्वास को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रम, जैसे- शिक्षा, रोजगार और व्यवसायिक प्रशिक्षण, बाधारहित परिवेश का निर्माण, विकलांगों के लिए पुनर्वास सेवाओं का प्रावधान, संस्थागत सेवाएँ और बेरोजगारी भत्ता तथा शिकायतों का निदान जैसे सहायक सामाजिक सुरक्षा के उपाय करना आदि बातों पर ध्यान दिया गया है।

24 जनवरी, 1997 को शुरू किया गया राष्ट्रीय विकलांग वित्त एवं विकास निगम, विकलांग व्यक्तियों को स्वरोजगार के उद्यम लगाने के लिए ऋण सहायता और अपने कौशल के विकास के अवसर उपलब्ध कराता है।

6. स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रम: भारत में स्वास्थ्य एवं पोषण की प्रमुख समस्या है। अन्य देशों की तुलना में यहाँ के नागरिकों को प्राप्त भोजन, निवास, मनोरंजन, शिक्षा एवं चिकितसा की सुविधाएँ कम हैं। केन्द्रीय स्वास्थ्य क्षेत्र में मलेरिया, क्षयराग, कुष्ठ रोग तथा एड्स जैसे संक्रामक रोगों पर नियंत्रण चिन्ता का प्रमुख विषय बने हुए हैं। मृत्यु दर में गिरावट आई है, औसत उम्र बढ़ी है और महामारियाँ भी समाप्ति की ओर हैं, मगर संक्रामक-असंक्रामक रोगों जैसे हृदय रोग, कैंसर, मोतियाबिन्द से पैदा होने वाली नेत्रहीनता तथा मधुमेह इत्यादि में वृद्धि हुई है।

मलेरिया को रोकने के लिए कीटनाशक दवाओं छिड़काव एवं दवाओं का वितरण किया गया है। कुछ रोगियों में बीमारी को नियंत्रित किया गया है। इसी प्रकार से फाइलेरिया, क्षय रोग, दृष्टि क्षीणता और अन्धेपन, कैंसर तथा गलण्ड रासेग, रतिज रोग, डेंगू, काला आजार को नियंत्रित करने के कार्यक्रम चल रहे हैं। वर्तमान में देश में 2,935 सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र 22,975 प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र एवं 1,37,271 उपकेन्द्र चिकित्सा सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं। इन सभी प्रयत्नों के कारण जन्म दर और मृत्यु दर में कमी आयी है और औसत आयु में वृद्धि हुई है। 1999 में जन्म दर 26.1 तथा मृत्यु दर 8.7 आंकी गई, जबकि पुरूषों की औसत आयु 62.7 और महिलाओं की 65.27 हो गई है। जन-स्वास्थ्य में सुधार के लिए जलपूर्ति सफाई पर विशेष ध्यान दिया गया।

1981 में 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की संख्या 4 करोड़ 45 लाख थी, जो 1991 में 5 करोड़ 42 लाख हो गई। वृद्ध व्यक्तियों के कल्याण के लिए नवम्बर 1992 में सामाजिक न्याय तथा अधिकारिता मंत्रालय ने स्वयंसेवी संगठनों के लिए केन्द्रीय सहायता योजना शुरू की। यह सहायता वृद्धों के लिए आश्रमों, दिन में देखभाल के केन्द्रों और अचल अस्पतालों की स्थापना के लिए दी जाती है। वर्ष 1998-99 में इस कार्यक्रम में संशोधन करके इसे वृद्धों की विविध आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए लचीला बनाया गया। संशोधित योजना को 'वृद्ध व्यक्तियों के लिए समन्वित कार्यक्रम' नाम दिया गया। इस संशोधित योजना के अन्तर्गत परियोजना पर आने वाले खर्च का 90% हिस्सा भारत सरकार वहन करेगी, जबकि शेष खर्च सम्बन्धित संगठन/संस्थान को वहन करना होगा।

संदर्भ

1. भारत, 2000, भारत सरकार, प्रकाशन
2. इन्द्रदेव: भारतीय समाज, 1969
3. नर्मदेश्वर प्रसाद: जाति व्यवस्था, 1965
4. दुबे, श्यामाचरण: मानव और संस्कृति, 1960
5. राधाकृष्णन: धर्म और समाज, 1961
6. वेदालंकार, हरिदत्त: हिन्दू परिवार मीमांसा, 1963
7. सक्सेना, रामनारायण: भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, 1960
8. भट्ट, गौरीशंकर: भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति, 1965
9. Agarwal, S.N. : India's Population Problems, 1972.
10. Bailey, F.G. : Tribe, Caste and Nation, 1960.
11. Ghurye, G.S. : Caste, Class and Occupation, 1961.
12. Gore, M.S. : Urbanization and Family Change, 1968.
13. Govt. of India : Special Legislation and its Role in Social Welfare, 1956.
14. Govt. of India : India, 2000.
15. Govt. of India, Planning Commission, Eight Five Year Plan, 1990-95.
16. Kuppuswamy, B. : Social Change in India, 1975.

डॉ॰ लालेश्वर प्र॰ यादव

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, बिहार नेशनल कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

डॉ॰ सूर्यकांत कुमार

तदर्थ व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, बिहार नेशनल कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

महिला उत्पीड़न तथा संवैधानिक प्रावधान: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. अफरोज एकबाल

हिंसा अपने आप में एक भयावह शब्द है जो आये दिन महिलाओं पर हो रहे हैं। महिलाओं के साथ क्रुरता का व्यवहार करना, उनका अपमान करना, उनका शोषण करना, उनको यातनाएँ देना, उनको मादा भ्रूण हत्या के लिए बाध्य करना, दहेज के लिए उनकी हत्या करना, सम्पत्ति में से हिंसा न देना, उनका अपहरण करना, बलात्कार करना व छेड़छाड़ करना आदि सब हिंसाएँ महिलाओं के विरूद्ध हिंसा कहलायेगी। हमारी समाज में महिलाओं के बारे में पुरुषों की यह धारणाएँ हैं कि औरतें सिर्फ संतानों के लिए है एवं जुल्म सहने के लिए है। इसी सोच के कारण औरतों पर बेहिसाब जुल्म करते हैं। या जुल्म होते हैं। हिंसा निजी पारिवारिक मामला नहीं है बल्कि सार्वजनिक चिंतन का विषय है। जो मूलभूत मानवाधिकार हनन से सम्बन्ध रखता है। हिंसा का यह दौर महिलाओं के शारीरिक, मानसिक और स्वस्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। सामन्यत: हिंसा को तीन भागों में बांटा गया है। जो निम्नलिखित इस प्रकार है।

1. आपराधिक हिंसा– बलात्कार, अपहरण, हत्या।
2. घरेलू हिंसा– दहेज सम्बन्धी मृत्यु, पत्नी को पीटना, लैंगिंक दुर्व्यवहार।
3. सामाजिक हिंसा– पत्नी, पुत्रवधू मादा भ्रूण हत्या के लिए बाध्य करना, छेड़छाड़, विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना, दहेज यातना आदि।

स्त्रियों के लिए हिंसा का महौल खुद उनके घर में तैयार होता है। घरेलू हिंसा की घटनाओं को अभी भी घर से बाहर लाने में संकोच की मध्यवर्गीय मानसिकता हमारे यहाँ मौजूद है। घरेलू हिंसा हमारे समाज में इसलिए भी है क्योंकि यह बाहर नहीं आ पाता है। फलस्वरूप वैसे लोगों का सामाजिक बहिष्कार नहीं हो पाता है जो इसके लिए जिम्मेवार है। 'सभ्य' कहे जाने वाले लोग इस समाज में सारे 'असभ्य' व्यवहार घर की चारदीवारी के भीतर ही करते हैं। इनका प्रतिकार नही हो पाता है क्योंकि इनके खिलाफ आवाज उठाने की ताकत घर के भीतर किसी औरत में नहीं है और उनकी सिसिकियाँ घर की चारदीवारी के भीतर ही दम तोड़ देती है। ऐसी स्थिति का इलाज शायद कानून के पास भी नही है। फलत: घर की चीखें बाहर लाने की जरूरत है तथा इन चीखों को मजबूत स्वर देने की भी जरूरत है। तसलीमा नसलीम ने अपनी पुस्तक "औरत होने के हक" में स्पष्ट किया है कि एक महिला यदि कहीं अकेली जाती है तो उसे सौ सवालों का जबाब देना होता है। यदि वह अपने घर में विलम्ब से लौटती है तो उसे विलम्ब के लिए तर्कपूर्ण कारणों को स्पष्ट करना होता है। यदि वह गैर मर्दों के साथ देखी जाती है तो उस पर सन्देह किया जाता है।

घरेलू हिंसा के उत्तरदायी कारकों में, पुरुषीय अहम् व तानाशाही, अशिक्षा व निर्धनता, आर्थिक पराधीनता, दहेज सम्बन्धी प्रताड़ना, लगातार घटता लिंगानुपात, पुरुषप्रधान सामाजिक विधान, मानवाधिकारों का हनन, निष्प्रभावी कानून और व्यवस्था, कॉमन कोड लागू न होना, अपराधियों को सजा न मिलना तथा गिरता मानव मूल्य आदि है। घरेलू हिंसा के कारणों में आमतौर पर पुरुषों द्वारा पति को बिना बताए बाहर जाना, बच्चों का ध्यान न रखना, पति से अनावश्यक बहस करना, शारीरिक सम्बन्ध बनाने से मना करना, समय पर और अच्छा खाना न बनाना तथा पराये पुरुष से ज्यादा बातें करना आदि बताए जाते हैं। ये सब कारण पुरुष प्रधान समाज के प्रतीक के रूप में आज भी विद्यमान है।

महिला की समस्याएँ केवल आधुनिक समाज में ही नहीं वरन् ये बहुत ही पुरानी है। महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों को यदि देखें तो बैदिक काल से आधुनिक काल तक महिलाएँ किसी न किसी रूप में में चाहें धर्म के नाम पर या जाति के नाम पर या समाज के रीति-रिवाजों के नाम पर अत्याचार तथा शोषण का शिकार होती रही है। इसके लिए कोई भी समाज

अछूता नही रहा है। प्राचीन काल से ही महिला का उत्पीड़न होता आया है जैसे– वृद्धान्यक उपनिषद में कहा गया है कि यदि पत्नी पति के साथ यौन सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहती है तो पति को यह अधिकार दिया गया है कि मान-मनौव्वल से न माने तो बल का प्रयोग करना चाहिए। अर्थवेद में स्पष्ट लिखा है कि यदि पत्नी पति की इच्छा के विरूद्ध घर से बाहर मनोरंजन के लिए जाती है तो उसे फटे बांस से मारा जा सकता है। कामसूत्र में भी स्त्रियों पर हिंसा की काफी संभवनाएँ चित्रित की गई है। मनुस्मृति में विभिन्न वर्गों की स्त्रियों के लिए सजाएँ एक सी न होकर वर्ण भेद पर आधारित थी। मध्यकाल में स्त्रियों का जितना ह्रास हुआ उसे हमारा समाज एक कलंक के रूप में नही भूलेगा। पर्दाप्रथा, सतीप्रथा, वेश्यावृत्ति आदि कुरीतियाँ तथा अत्याचार बढ़े। स्त्रियों को शिक्षा व सम्पत्ति से वंचित कर प्रताड़ित करने का अधिकार पुरुष को देकर उसे पुरुषों की दया पर निर्भर कर दिया और पुरुष प्रधानता को बढ़ावा दिया गया। वर्त्तमान काल में महिला उत्पीड़न अपनी चरम सीमा पर चल रहा है।

वर्त्तमान महिला उत्पीड़न को बढ़ावा देने में सती प्रथा, बलात्कार, छेड़-छाड़, दहेज प्रथा, महिलाओं को जला देना, अपहरण करना तथा मारना-पीटना आदि महिलाओं के साथ खुले आम हो रहे हैं। नैना साहनी तंदूर कांड, शिवानी भटनागर यौन शोषण कांड, राजस्थान के डिग्गी ठानी में बदाम देवी को डायन बताकर मारना, जयपुर जे. सी. बोस छात्रावास कांड, अंजना मिश्रा कांड, मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज में घटित बलात्कार कांड, निशा व पूजा तेजाब कांड आदि ने महिला उत्पीड़न की अग्नि में घी का काम किया है। आधुनिक काल में घरेलू हिंसा को रोकने के कई महत्वपूर्ण प्रयास किए गए तथा महिलाओं को विभिन्न संवैधानिक शक्तियाँ दी गई जैसे–

- ❖ हिन्दू अधिकार अधिनियम 1929
- ❖ हिन्दू महिलाओं के सम्पत्ति के अधिकार अधिनियम 1937,
- ❖ पारिवारिक न्यायालय अधिनियम–1954
- ❖ विशेष विवाह अधिनियम –1954,
- ❖ हिन्दू विवाह अधिनियम–1955
- ❖ हिन्दू उतराधिकार अधिनियम –1956,
- ❖ प्रसवता लाभ अधिनियम –1961 (संशोधन–1995)
- ❖ दहेज प्रतिबन्ध अधि.–1961 (संशोधन–1986)
- ❖ गर्भवती उपचार अधि.–1971
- ❖ समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976
- ❖ बाल विवाह निषेध अधि. –1976,
- ❖ स्त्री अशिष्ट निरूपण अधि. – 1986,
- ❖ सती निषेध अधि. –1987,
- ❖ प्रसव पूर्व निदान तकनीकि अधि. 1994,
- ❖ भारतीय तलाक (संशोधन) अधि. . 2001 आदि।

भारत में वर्ष 2001 को "महिला सशक्तिकरण वर्ष" मनाने के उपलक्ष्य में पहली बार "राष्ट्रीय महिला नीति" लागू करने के बाद सशक्तीकरण वर्ष में महिलाओं पर घरेलू हिंसा निरोध विधेयक, परित्यक्ताओं हेतु गुजारा भत्ता संशोधन विधेयक, बालिका अनिवार्य शिक्षा व कल्याण विधेयक आदि भी तैयार किये गये थे। इसमें प्रथम विधेयक भारत सरकार ने 13 सितम्बर 2005 को घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम– 2005 पारित कर दिया। वास्तव में यह अधिनियम महिला सशक्तीकरण की दिशा में उठाया गया एक ठोस व व्यवहारिक कदम है। इस कानून का मुख्य उद्देश्य घरेलू महिलाओं पर सदियों से हो रहे अत्याचार से सुरक्षा प्रदान करना है अर्थात् पति या साथ रहने वाले किसी भी पुरुष या उसके सम्बन्धियों की हिंसा या प्रताड़ना से पत्नी या साथ रह रही किसी भी महिला को संरक्षण प्रदान करना है। यहाँ तक कि ऐसी महिलाओं को भी इस कानून द्वारा संरक्षण प्रदान की गयी है, जो बिना शादी किये ही किसी पुरुष के साथ रह रही है। इस कानून द्वारा ताने मारने या ऊँचे आवाज में बोलने तक को अपराध माना गया है।

शारीरिक शोषण, भावनात्मक शोषण या आर्थिक शोषण करना या धमकी देना, कष्ट देना या ऐसा करने का इरादा रखना, गरिमा या प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाना, बच्चे न होने पर मारना, अपमानित करना या पीड़ा पहुँचाने की धमकी देना, मानसिक कष्ट देना, महिला के स्वास्थ्य सुरक्षा, जीवन और शरीर को कोई नुकसान पहुँचाना आदि इस कानून के तहत घरेलू हिंसा के दायरे में आएगा। साथ ही महिला के आर्थिक या वित्तीय संसाधनों तथा जरूरतों को पूरा न करना भी घरेलू हिंसा के अधीन माना जाएगा। किसी भी हालत में घरेलू महिला को जिस घर में वह रह रही है उसे वहाँ से निकाला नहीं जा सकेगा। इस अधिनियम के तहत महिलाओं के खिलाफ हिंसा को गैर जमानती अपराध माना गया है और अपराधी को एक वर्ष की सजा या 20 हजार रुपये का जुर्माना या दोनों हो सकते हैं।

घरेलू हिंसा की शिकार महिला के निम्नलिखित अधिकार होंगे: –

(i) धारा 5 के अधीन उन अधिकारों और अनुतोष के बारे में जानने में, संरक्षण अधिकारी और सेवा प्रदाता की सहायता, जो वह प्राप्त कर सकती है।

(ii) संरक्षण अधिकारी की सहायता और सेवा प्रदाता या निकटतम पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी का पीड़ित की शिकायत दर्ज करने, सहायता करने, धारा 9 और धारा 10 के अधीन अनुतोष के लिए आवेदन करने में सहायता करना।

(iii) धारा 18 के अधीन घरेलू हिंसा के कृत्यों से स्वयं और स्वयं के बालकों के लिए संरक्षण प्राप्त करना।

(iv) पीड़ित अपनी खतरों या असुरक्षाओं जिनका वह या उनके बालक सामना कर रहे हैं से संरक्षण के लिए उपाय और आदेश प्राप्त करने का अधिकार।

(v) धारा 18 के अधीन पीड़ित के धन, आभूषण, कपड़ों और दैनिक उपयोग के वस्तुओं को वापस कब्जे में लेना।

(vi) धारा 6ए 7ए 9 तथा 14 के अधीन चिकित्सीय सहायता, आश्रय, परामर्श और विधिक सहायता प्राप्त करना।

(vii) धारा 18 के अधीन उसके विरूद्ध घरेलू हिंसा करने वाले व्यक्ति को उससे सम्पर्क करने या पत्र-व्यवहार करने से रोकना।

(viii) धारा 22 के अधीन घरेलू हिंसा के कारण हुई किसी शारीरिक या मानसिक क्षति या किसी अन्य वित्तीय नुकसान के लिए प्रतिकार है।

(ix) अधीनियम की धारा 12, 18, 19, 20, 21, 22 और 23 के अधीन शिकायत करने या किसी न्यायालय को सीधे हस्तक्षेप के लिए आवेदन करना।

(x) घरेलू हिंसा के सम्बन्ध में किसी प्राधिकारी द्वारा अभिलिखित किसी कथन की प्रतियाँ लेना।

(xi) किसी खतरे से बचाव के लिए पुलिस या संरक्षण अधिकारी की सहायता लेना।

वास्तव में यह अधिनियम महिला सशक्तिकरण की दिशा में उठाया गया एक ठोस व व्यवहारिक कदम है जिससे वास्तविक क्रियान्वयन से निश्चित ही समूचा महिला वर्ग लाभान्वित हो सकेगा। यह जरूरी नहीं है कि सिर्फ पत्नी ही घरेलू हिंसा की शिकार हो इसलिए अधिनियम में पत्नी के अलावा बेटी, बहन, माँ, भाभी, सास, दादी, नानी, नौकरानी आदि सभी को शामिल किया गया है। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि यदि परिवार का मुखिया अपनी हैसियत या प्रतिष्ठान का दुरुपयोग करते हुए अपनी बात मनवाने हेतु शारीरिक या मानसिक प्रताड़ना देता है, तो उसे भी हिंसा माना जाएगा।

निश्चित रूप से यह अधिनियम उन रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और पर्दाप्रथा आदि से ग्रस्त परिवारों की महिलाओं के लिये विशेष रूप से कारगर सिद्ध होगा जहाँ महिलाओं को मानव नहीं चुड़ैल, कलमुँही, बोझ, डाइन और जानवर से भी ज्यादा निकृष्ट समझा जाता है। समाज और सरकार की ईमानदारी पूर्ण सोंच और उसके सार्थक क्रियान्वयन पर ही इस अधिनियम की सफलता निर्भर है। केन्द्रीय महिला एवं बाल विकास मंत्री रेणुका चौधरी ने इस नए अधिनियम की महत्ता को इन शब्दों में व्यक्त किया है– 'घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण सम्बन्धी अधिनियम का लागू किया जाना लैंगिक असमानता को दूर करने के लिए एक ऐतिहासिक कदम माना जा सकता है।

विभिन्न अध्ययनों के अनुसार 25 वर्ष से कम उम्र की पत्नियाँ पति से उत्पीड़न का अधिक शिकार होती है। न्यून आय वाले परिवार में स्त्रियों के पीटने की संभावना अधिक होती है। अशिक्षित पत्नियों की तुलना में शिक्षित पत्नियों की पीटने की संभावना कम होती है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 14.49 वर्ष की 70% महिलाएँ किसी न

किसी रूप में घरेलू हिंसा की शिकार हैं। लॉयर्स क्लेक्टिव (वुमेन राइट्स इनीसिएटिभ) नामक संगठन द्वारा तैयार रिपोर्ट 'स्टेइंग अलाइव' के अनुसार 2007 तक घरेलू हिंसा के मात्र 7,913 मामले दर्ज हुए। जिनमें सबसे ज्यादा मामले राजस्थान 3344 दूसरे नं. पर केरल 1028 फिर आन्ध्र प्रदेश 731, दिल्ली 607, महाराष्ट्रा 603, गोवा 603, गुजरात 315, पंजाब 249, हरियाणा 235, उत्तराखंड 145, कर्नाटक 124 में मामले सामने आये। बिहार में घरेलू हिंसा के 64, पश्चिम बंगाल में 54 और उड़ीसा में केवल 12 मामले दर्ज हुए। दूसरी ओर अगेस्टन वुमेन सेल ने 2002 में हेल्पलाइन सेवा शुरू की थी। वर्ष 2006 में जिन 4907 कॉल पर पुलिस ने कार्रवाई की। उनमें से 70% घरेलू हिंसा से सम्बन्धित थीं। इनमें से केवल 4: पर ही पुलिस समझौता करा पायी।

नाईजीरिया में पत्नी को जम कर पीटना कानूनी रूप से जायज है, बशर्ते कि उसे गंभीर चोट न लगे। 'अमीना लावला' नाइजीरिया की बिना विवाह की माँ बनने पर संगसार (जमीन में आधा गाड़कर, पत्थर से मारकर मौत की सजा देना) का आदेश दिया गया। अमेरिका जैसे विकसित देश में हर दो मिनट में महिला के साथ बलात्कार होता है। हॉलैंड में घरेलू हिंसा का शिकार होने वाले 45% महिलायें 18 साल से कम उम्र की होती हैं। भारत में आधी से अधिक महिलाओं ने अपने पर हुए घरेलू हिंसा को न केवल स्वीकारा और बर्दाश्त किया है बल्कि उन्हें जायज तक करार दिया है। 56.6% महिलाओं ने किसी एक वजह से पीटायी को जायज ठहराया है।

बिहार में 28% महिलाओं ने पति के प्रति गैर वफादार होने के कारण पिटायी को जायज ठहराया है। जबकि 96: महिलाओं ने दहेज न लाने के कारण पीटायी को सही नही माना परन्तु 4% ने सही ठहराया। यहाँ 26.6% निम्न 20.1% मध्य तथा 10% उच्चवर्गीय महिलाओं ने घरेलू हिंसा की बात स्वीकार की है। बिहार जैसे पिछड़े राज्य में स्त्रियों के उत्पीड़न की घटनाएँ आम है। इनमें दहेज के लिए हत्या, बलात्कार, यौन-शोषण, अपहरण, छेड़खानी या नरसंहार के दौरान स्त्रियों की हत्या इत्यादि है। बिहार के कमजोर तबके की महिलाओं पर डायन का तोहमत लगाकर सामाजिक तौर पर शारीरिक व मानसिक यातनाएँ तथा मौत देने की घटनाएँ घटती रहती हैं। आत्मनिर्भर होकर भी औरतों की हालत में खास बदलाव नहीं आया हैं यहाँ की औरतें अपने पति से पिटाई से लेकर हर तरफ से जलील होने के लिए अभिशापित है। बिहार में इसका मुख्य कारण महिलाओं का अधिकारों के प्रति जागरूकता में कमी है। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टी ने हिन्दुस्तान और अन्य दो अखबारों के खबरों और विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त आकड़ों के साल भर जाँच पड़ताल के बाद एक रिपोर्ट तैयार की है जो राज्य के लोगों की सिसकती कहानी का एक ट्रेलर है। रिपोर्ट कहती है, महिलाओं के खिलाफ हिंसा के कुला मामलों में से 20: दहेज हत्या के रहे हैं। महिला उत्पीड़न के मामलों में 25% बलात्कार के मामले आये हैं 483 कुल अपहरण के शिकार हुए है। अपहरण के 21% मामले में से 30% लड़कियाँ थीं जो प्रेम विवाह के लिए भगायी गयी थीं।

उपरोक्त अध्ययनों से स्पष्ट है कि घरेलू हिंसा के कारण महिला प्रताड़ित होती रही हैं। समाज की संस्थापक इकाई परिवार में जहाँ बच्चों की सहज देखभाल, संरक्षक, शिक्षा, स्नेह आदि प्राप्त होते हैं। वहीं भविष्य में आशा के अनुरूप उसे देखा जाता है। परिवार समाज का प्रथम पाठशाला है जहाँ बच्चे को जन्म से ही अच्छा समाजीकरण कर योग्य व्यक्ति बनाया जाता है। योग्य व्यक्ति बनाने के लिए स्वच्छ रूप होना अति आवश्यक है। परिवार को सुसंस्कारवाण तथा घरेलू हिंसा से दूर रहना होगा। क्योंकि घरेलू हिंसा एक ऐसा अभिशाप है जो परिवार का सुख-शांति को छीन लेता है और परिवार के विकास में अवरूद्ध पैदा करता है। जिस परिवार में महिलाएँ प्रताड़ित होती रहती है उस परिवार के सम्पूर्ण सदस्य विकास के मार्ग से विचलित हो जाते हैं तथा उस परिवार का विकास अवरूद्ध हो जाता है। फलत: इस प्रताड़ना का सीधा प्रभाव परिवार जैसी महत्वपूर्ण संस्था के विघटन पर पड़ता है। परिवार के विघटन से न केवल परिवार के बच्चे बल्कि परिवार के सदस्यों तथा पड़ोस के लोगों पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। सामाजिक व्यवस्थायें टूटने लगती हैं। साथ ही साथ आर्थिक व्यवस्था, शैक्षणिक व्यवस्था, स्वास्थ्य, विवाह, नातेदारी आदि व्यवस्थाओं पर भी बुरा असर पड़ता है। बच्चों के लालन-पालन में भी कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती है। परिवार के बच्चे हीन भावना तथा अवसाद ग्रस्त, मानसिक रूप से कमजोर, मनोरोगी, शंकालु स्वभाव आदि से ग्रसित हो जाते हैं तथा उनका विकास अवरूद्ध हो जाता है। ऐसे परिवार के सदस्य असामाजिक कार्य में लग जाते हैं। अत: घरेलू हिंसा रोकने के उपाय खोजने चाहिए। घरेलू हिंसा रोकने के उपाय निम्नलिखित हैं–

- ❖ घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम सख्ती से लागू किया जाये।
- ❖ महिलाओं के विरूद्ध होने वाले आतंकवादी गतिविधियाँ (बलात्कार, तेजाब फेंकना, घर में प्रताड़ना) पर रोक लगाया जाये।
- ❖ पुलिस प्रशासन में महिलाओं की अधिकाधिक भागीदारी सुनिश्चित की जाये।

- ❖ महिला अपराधों को देखने हेतु कई राज्य सरकारों ने क्राइम एगेंस्ट वुमेन सेल का गठन किया है। किन्तु इन अपराधों को निपटाने हेतु महिला पुलिसकर्मियों की व्यवस्था करनी चाहिए।
- ❖ महिला हिंसा से सम्बन्धित मामलों का निपटारा तुरंत की जानी चाहिए।
- ❖ पारिवारिक न्यायालय को सुदृढ़ किया जाना चाहिए।
- ❖ पीड़ीत महिला की सहायता हेतु स्वयं सेवी संगठनों को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। उन्हें आश्रम उपलब्ध कराया जाना चाहिए।
- ❖ नि:शुल्क कानूनी सहायता पहुँचाने वाली संस्था का विस्तार और प्रसार जरूरी है।
- ❖ महिलाओं के प्रति पुरुष सदस्यों के मनोभाव और सोच में बदलाव सर्वोपरि हैं।
- ❖ महिलाओं में जागरूकता लाना भी जरूरी है। उन्हें अपने में नैसर्गिक और कानूनी अधिकारों की जानकारी होनी चाहिए। यह प्रचार पत्र-पत्रिकाओं, पर्चों, संचार माध्यमों आदि द्वारा किया जा सकता है, आदि।
- ❖ महिलाओं को और शक्ति प्रदान करना राज्य शासन की नीति का आधार होना चाहिए और इस नीति को ईमानदारी एवं निष्ठा के साथ क्रियाण्वित किया जाना चाहिए।
- ❖ महिलाओं के विरूद्ध होने वाली हिंसा के सम्बन्ध में न्यायपालिका को अधिक संवेदनशील होने की आवश्यकता है।
- ❖ उत्पीड़ित महिलाओं को सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों द्वारा पर्याप्त सहायता दी जाये।
- ❖ महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया जाये आदि।

निष्कर्ष

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि घरेलू हिंसा परिवार के विघटन का एक प्रमुख कारक है। परिवार विघटन का दुष्प्रभाव समाज के विभिन्न संस्थाओं पर पड़ता है। देश के सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक है कि समाज के आधे वर्ग को प्रताड़ित करने के स्थान पर उसे प्रोत्साहित किया जाये। अत: प्रत्येक नागरिक को यह जानना अनिवार्य है कि वह किस प्रकार महिला हिंसा का दोषी बनने से बचे और सदियों से शोषित, उपेक्षित व हतोत्साहित महिला वर्ग के विकासार्थ अपना योगदान सुनिश्चित करें। यह कटु सत्य है कि ज्यों-ज्यों बाल एवं महिलाओं के सरंक्षण देने हेतु कानूनी प्रावधान किये जाते रहे हैं त्यों-त्यों उन पर अत्याचार बढ़ते ही गये। डॉ. अम्बेदकर ने कहा है कि 'भारतीय नारी श्रम से नही घबराती किंतू आँसुओं की चिंता करते हुए वह रोटी, असामान्य व्यवहार, अपमान, शोषण से अवश्य घबराती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(1) स्टेट्स ऑफ वूमैन – सुशीला अग्रवाल।
(2) वूमैन्स राइट्स– जे. एम. एनटोनी।
(3) क्राइम अगैन्ट्स वूमैन – पी. जे. आत्रे।
(4) महिला उत्पीड़न, दहेज प्रताड़ना तथा दहेज हत्या – कांता भाटी।
(5) घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण विधि – ओरिएन्टल लॉ पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
(6) वूमैन एण्ड क्राइम इन इंडिया – एच. एल. बोकर।
(7) भारतीय महिलाएँ: दशा एवं दिशा – सुभाष शर्मा।
(8) वीमैन एण्ड सोसायटी इन इंडिया – नीरा देसाई।
(9) वूमैन एंड वायलन्स – बिन्द्रा करत।
(10) कुरूक्षेत्र – दिसम्बर 2000 एवं दिसम्बर 2007।
(11) योजना – मार्च 2004 व अक्टूबर 2008।
(12) भारतीय सामाजिक समस्याएँ – रवीन्द्रनाथ मुखर्जी।

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, गर्वमेन्ट
पी.जी. कॉलेज, नारायण नगर, पिथौरागढ़ (उत्तराखण्ड)

सामाजिक विकास में गैर सरकारी संगठन की भूमिका एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

रणवीर कुमार और सुबोध कुमार सुमन

सामाजिक विकास के क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका उल्लेखनीय है। आज समाज के हरेक क्षेत्र में अर्थात सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक गतिविधियों में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण हैं। गैर-सरकारी संगठन सरकार से अलग एक ऐसी संस्था है जो स्वेच्छा से समाज के लिए, पर्यावरण के लिए और राष्ट्र तथा विश्व समुदाय के उत्थान के लिए कार्य करता है। गैर-सरकारी संगठन केवल अपने द्वारा ही प्रायोजित कार्यों को नहीं करती है बल्कि यह सरकार के द्वारा नियोजित किए गए कार्यों को भी कार्यान्वित करने में सहायता प्रदान करती है। गैर-सरकारी संगठन आज हर क्षेत्र में कार्य कर रहा है चाहे वह आर्थिक क्षेत्र हो, शैक्षिक गतिविधियां हो, स्वास्थ्य या पर्यावरण संबंधी गतिविधियां हो या सांस्कृतिक गतिविधियां सभी के उत्थान में यह अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। गैर-सरकारी संगठन आज समाज के उत्थान के लिए विभिन्न महत्वपूर्ण कार्यों का संचालन कर रहा है जिनमें स्वयं सहायता समूह, स्वरोजगार हेतु विभिनन प्रयास, स्वंयसिद्धा कार्यक्रम, प्रकल्प के अंतर्गत शौचालय निर्माण एवं स्वच्छ पेयजल योजना के अंतर्गत चापाकल निर्माण, निरक्षता उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास से संबंधित विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन किया जा रहा है। गैर-सरकारी संगठनों के वित्तीय मध्यस्थ की भूमिका निभाने के बाद बैंकों से गरीबों को पर्याप्त ऋण मिलने लगा है। आर्थिक विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के लिए शीर्ष वित्तीय संस्थाओं जैसे-नाबार्ड, सिडबी, आई॰ डी॰ बी॰ आई॰ ने गैर-सरकारी संगठनों की सहायता के लिए अनेक योजनाओं का आरंभ किया है।

गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किये जा रहे कार्यों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है–

आर्थिक विकास के क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठन–आर्थिक विकास के क्षेत्र में भी बहुत से गैर-सरकारी संगठन अपने स्तर से व सरकार के विभिन्न योजनाओं के माध्यम से समाज में आर्थिक स्थिति से दयनीय लोगों की मदद कर रहे हैं। ग्रामीण कुटीर उद्योगों के माध्यम से लोगों को स्वरोजगार उपलब्ध कराया जा रहा है। आज देश में स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के माध्यम से किये जा रहे स्वयं सहायता समूहों का गठन भी विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों द्वारा ही किया जा रहा है। देश में प्रत्येक वर्ष राज्य के जिलों में आयोजित किये जाने वाले बसंत सरस मेला इन्हीं स्वयं सहायता समूहों व स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से किये जा रहे स्वरोजगार के क्षेत्र में प्रयासों के फलस्वरूप ही देखने को मिलता है। जिसमें देश के कोने-कोने से गैर-सरकारी संगठनों के कार्यकर्ता भाग लेते हैं। ये गैर सरकारी संगठन अपने माध्यम से लोगों को स्वरोजगार के लिए प्रशिक्षण उपलब्ध कराती हैं तथा स्वरोजगार के लिए लोगों को बैंकों से ऋण दिलवाती है व उनके द्वारा उत्पादित किए गए वस्तुओं को बाजार तक पहुंचवाने का कार्य करती है। जिससे वैसे लोगों को जिनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है बहुत हद तक लाभ मिलता है।

महिलाओं के उत्थान में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–गैर-सरकारी संगठन महिलाओं के कल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत हैं। महिलाओं के लिए विभिन्न तरह के व्यावहारिक कार्यों को बढ़ावा देने में इसने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। गैर-सरकारी संगठन महिलाओं को स्वरोजगार कराने के साथ-साथ उनमें जागरूकता लाने के लिए विभिन्न तरह के कार्यक्रमों का संचालन कर रही है। इसके तहत यह महिलाओं में स्वास्थ्य से संबंधित विभिन्न बातों की जानकारी उपलब्ध कराती है। इसके साथ ही महिलाओं को साक्षर बनाने हेतु विभिनन कार्यक्रमों का संचालन कराया जाता है। इसके साथ ही महिलाओं को सशक्त करने के लिए विभिन्न बातों की जानकारी उपलब्ध कराकर उनमें जागरूकता लाने का प्रयास किया जाता है। महिलाओं के विरुद्ध होने वाली विभिन्न प्रकार की हिंसा को रोकने के लिए, बालिका शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए यह महत्वपूर्ण कार्यों को बढ़ावा देकर महिलाओं को जागरूक करने का कार्य कर रहा है।

विकलांग बच्चों व गरीब तककों के बच्चों के सर्वांगीण विकास हेतु गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–आज के समय में शारीरिक रूप से अक्षम व विकलांग बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए गैर सरकारी संगठन महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। इन बच्चों को सही से शिक्षा प्राप्त हो सके व रोजगार की व्यवस्था हो सके इसके लिए कई गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा विकलांगों के लिए विद्यालयों का संचालन भी किया जा रहा है। इसके साथ ही सरकार के द्वारा दिये जाने

वाले विभिन्न सुविधाओं को भी विकलांगों तक पहुंचाने में ये गैर-सरकारी संगठन महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इसके साथ ही गरीब तक के के बच्चों के लिए यह जैसे बाल श्रम, बाल, बाल शोषण, बाल कुपोषण के विरुद्ध भी गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा अभियान चलाया जा रहा है तथा समाज में इन्हें अन्य बच्चों के तरह ही अधिकार दिलाने का प्रयास कर रहा है।

स्वास्थ्य क्षेत्र में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। आज बच्चों के लिये चलाये जाने वाले टीकाकरण अभियान के प्रति लोगों को जागरूक करने में यह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है तथा वैसी जगहों पर टीकाकरण बूथ का संचालन कर लोगों को लाभ पहुंचाने का कार्य कर रहा है जो दूर-दराज के क्षेत्रों में बसे हैं। देश भर में चलाये जा रहे पल्स-पोलियो उन्मूलन अभियान में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इसके साथ ही यह यक्ष्मा के प्रति जागरूकता फैलाने, एड्स जागरूकता अभियान, अन्धापन निवारण व कुष्ठ उन्मूलन में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। एड्स जागरूकता के क्रम में विभिन्न गैर सरकारी संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण समिति के माध्यम से व राज्य स्तर पर राज्य एड्स नियंत्रण समिति के साथ मिलकर यह विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन कर रहा है। इसके अलावा यह स्वास्थ्य समिति के साथ मिलकर विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन कर रहा है।

खेल व सांस्कृतिक कार्यक्रम के क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–गैर-सरकारी संगठन आज विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन कर युवाओं को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह कर रहा है। यह दूर दराज के क्षेत्रों में विभिन्न खेलों की प्रतियोगिताओं का आयोजन कराकर युवाओं को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहा है। इसके साथ ही यह खेलों के महत्व को गांव-गांव तक फैलाने का कार्य कर रही है। लोक संस्कृति से संबंधित विभिन्न जगहों पर प्रदर्शनी का आयोजन भी गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा करवाया जा रहा है।

निरक्षरता उन्मूलन में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–निरक्षरता उन्मूलन के संदर्भ में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। यह शिक्षा के क्षेत्र में सबों को शिक्षा मिले इसके लिए विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन कराकर साक्षरता अभियान को सफल बनाने का कार्य कर रहा है। जिनमें प्रौढ़ शिक्षा, घरेलू महिलाओं के लिए शिक्षा, बालिका शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। यह अवकाश के समय में प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से विभिन्न लोगों को साक्षर करने का कार्य किया है।

पर्यावरण संतुलन के क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–ऐसे बहुत से कार्य जो वातावरण संतुलन बनाए रखने के लिए हैं और औद्योगिक विकास में भी सहायता प्रदान करते हैं इसमें गैर-सरकारी संगठन महत्वपूर्ण प्रभाव डाल रहे हैं। पर्यावरण सुधार व स्वच्छता के क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा किये जा रहे कार्यों को भुलाया नहीं जा सकता है। प्रदूषण नियंत्रण के क्षेत्र में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान है। देश भर में चलाया जा रहा वृक्षारोपण अभियान में इनकी मदद काफी सराहनीय है।

सांप्रदायिक सौहार्द बनाने में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका–गैर-सरकारी संगठन आज विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन कर समाज में सांप्रदायिक सौहार्द बनाने का कार्य कर रहे हैं तथा इस संबंध में लोगों को जागरूक बनाने का भी कार्य हो रहा है। विभिन्न त्योहारों के अवसर पर मिलन समारोहों का आयोजन जैसे–ईद मिलन समारोह, होली मिलन समारोह तथा इफ्तार पार्टी का आयोजन कर लोगों में आपसी मेल-जोल बढ़ाने का प्रयास करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गैर-सरकारी संगठन आज समाज के संपूर्ण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। विभिन्न अध्ययनों से ज्ञात होता है कि गैर-सरकारी संगठनों ने ऐसे-ऐसे कार्यों का क्रियान्वयन किया है जिनके बारे में कभी सोचा भी नहीं जा सकता था। हालांकि कुछ भ्रष्ट लोगों की वजह से कुछ गैर-सरकारी संगठनों को काली सूची में भी डाला गया है फिर भी इनके द्वारा समाज के लिए दिये गये योगदानों को भुलाया नहीं जा सकता है। लोगों का आज ऐसा मानना है कि विभिन्न विकास योजनाओं को लोगों तक पहुंचाने में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महिला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, बाल मजदूरी उन्मूलन, पर्यावरण संरक्षण, महिला साक्षरता, महिला सशक्तिकरण, जनसंख्या नियंत्रण तथा स्वरोजगार जैसी योजनाओं को गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से क्रियान्वयन कराने से समाज का सर्वांगीण विकास हुआ है। गैर-सरकारी संगठनों को यदि हरेक क्षेत्र में सरकारी कार्यों को कार्यान्वयन करवाने का अवसर दिया जाये तो और विकास देखने को मिलेगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. कुरुक्षेत्र–नवंबर 2005, फरवरी 2008, जून–2009 ।
2. योजना–अप्रैल–2008 एवं 2009 ।
3. दैनिक हिन्दुस्तान, ग्रामीण विकास रिर्पोट–2008 ।
4. विकास एवं परिवर्तन का समाजशास्त्र–जे॰ पी॰ सिंह ।

शोध छात्र, बी॰ आर॰ अम्बेडकर बिहार
विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

आवासीय पृष्ठभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों के सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति का एक अध्ययन

डॉ. आशा कुमारी

भारत में प्राचीन काल से विभिन्न प्रजातियों का समावेश हुआ है। यातायात के साधानों का विकास न होने के कारण इसमें विभिन्न भाग एक दूसरे से पृथक रहें है। इस प्रकार जहाँ एक ओर विभिन्न प्रजातीय तत्वों का आस्तित्व है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक भाग की अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है। भारत के इन विभिन्न भौगोलिक क्षेत्र में अनेक प्रजातीय स्कन्धों के लोग विकास करते है। लेकिन विभिन्न क्षेत्र में कुछ मानव समूह ऐसे है, जो आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी आदिम स्तर पर है। इन्हें वन्य जाति, जन-जाति तथा आदिवासी आदि नामों से संबोधित किया जाता है। ये आधुनिक वस्तियों से दूर रहते हैं। इस कारण इन्हें वनवासी भी कहा जाता है। जन-जाति शब्द या आदिवासी शब्द की व्याख्या विभिन्न समाज शास्त्रियों ने अपने-अपने ढ़ंग से किया है:–

स्थानीय समूहों का कोई भी आदिम समूह जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता है एक सामान्य भाषा बोलता है और एक सामान्य संस्कृति का प्रयोग करता हे। उसे जन-जाति कहते हैं गिलिन और गिलिन। (1962)

एक जन-जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसके सदस्य एक समान भू-भाग में निवास करते है सामान्य भाषा बोलते है और विवाह पेश या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और परस्परिक व्यवहार के बारे में एक निश्चित व्यवस्था का विकास करते हैं। मजूमदार।

आदिवासियों के संबंधों में अनेकानेक समाज शास्त्रियों ने अपना विचार व्यक्त किया है।

नागरीक क्षेत्र या नगर क्या हैं? इस शब्द का प्रयोग दो अर्थो में होता है– जनाकिकीय रूप में और समाज शास्त्रीय रूप में। जर्मन समाज शास्त्री टोनीज 1957 ने नगरीय गैसिल शैप्ट् समाज में अवैयक्तिक और द्वितीयक संबंध प्रधान होते हैं और व्यक्तियों में विचारों का आदान-प्रदान औपचारिक अनुबंधित और विशेष कार्य या नौकरी जो वे करते हैं उस पर आधारित होते हैं। गैलिस शेफ्ट समाज में उपयोगितावादी लक्ष्यों और सामाजिक संबंधों के प्रतियोगी प्रवृति पर बल दिया जाता है।

मेक्स बेवर 1961: 381 और जॉर्ज सिमल 1950 जैसे अन्य समाज शास्त्रीयों ने नगरीय वातावरण में सघन आवासीय परिस्थतियों पर परिवर्त्तन में तेजी और अवैयक्तिक अन्य: क्रिया पर बल दिया है। लुई वर्थ 1938:381 ने कहा है कि समाज शास्त्रीये उद्देश्यों के लिए एक नगर की यह कह कर परिभाषा की जा सकती है कि वह सामाजिक रूप से विषम रूप, व्यक्तियों की अपेक्षाकृत बड़ी, सघन और अस्थायी बस्ती है। रूथ ग्लास 1956 जैसे विद्वानों ने नगर को जिन कारकों द्वारा परिभाषित किया है। वे है जनसंख्या का आकार, जनसंख्या की सघनता, प्रमुख आर्थिक व्यवस्था, प्रशासन की सामान्य रचना और कुछ सामाजिक विशेषताएँ। 1961, 1971, 1981, 1991 की जनगणनाओं के आधार पर जिनकी जनसंख्या 50,000 और एक लाख के बीच है, उन्हें शहर कहा जाता है। जिनकी एक लाख और 10 लाख के बीच है उन्हें बड़ा शहर कहा जाता है। जिन क्षेत्रों में 10 और 50 लाख के बीच व्यक्ति होते है विशाल नगर कहा जाता है और जिनमें 50 लाख से अधिक व्यक्ति होते है उन्हें महानगर कहा जाता है।

ग्रामवासी के संदर्भ में इतिहास साक्षी है कि हमारे पूर्वज गाँवों में ही वास करते थे। उस समय सभ्यता का भी पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था। ग्राम का प्रधान ही ग्राम संगठन का विधान बनाता था। आज भी हमारे यहाँ 65 प्रतिशत लोग गांवों में ही निवास कर रहे है। भारत गांवों का देश है। भारत वर्ष में आज भी गांवों की संख्या अधिक है। महात्मा गाँधी का कथन है कि भारत की आत्मा गांवों में वास करती है। गांवों में प्रकृति रानी का साम्राज्य है। शास्य स्यामल धरती हरित परिधान धारण

किये दिखाई पड़ती है। पक्षियों का मधुर स्वर सबको मोहता हैं। मधुर नृत्य करते दिखाई पड़ते है। कोयल के मधुर गान को सुनकर हृदय तंगी झंकृत हो उठता है। प्रकृति का कण-कण जीवन को उन्माद से भर देता है। ग्रामीण सरलता के प्रतीक होते है। उनका जीवन सादा होता है। उनकी गृह देवियों सणयारिगता की मूर्ति होती है। ग्रामीण अपने सामर्थ्य से बढ़कर आतिथ्य सत्कार करता है। वे लोग अतिथि को देव तुस्य समझते हैं, ग्रामीण लोक दुराचार की गंध से दूर रहता है। ग्रामीणों में परस्पर भाई चारा अधिक पाया जाता है। शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों के हृदय में अपार श्रद्धा पाई जाती है। ग्रामीण एक दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते हैं। वर्तमान समय में रंगीन वातावरण ने ग्रामीणों को भी अपनी लपट में ले लिया है। यदि गाँवों में शिक्षा, प्रकाश, स्वच्छता, चिकित्सा, यातायात और मनोरंजन आदि का प्रबन्ध हो जाय तो गाम्य जीवन वास्तव में स्वर्गिक आनन्द दे सकता है। गाँवों में अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर करते है। साथ ही फल-फूल, सब्जी, दूध, घी, मक्खन इत्यादि बहुतायत में पाये जाते है। समाज शास्त्रीय अध्यन से यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण और नगरीय समुदायों में निकला सामाजिक सम्बधों एवं मूल्यों के द्वारा स्पष्ट होती है। दोनीज 1957, ग्रामीण गेमिन सेफ्ट समुदाय वह है जिसमें सामाजिक बन्धन कुटुम्ब और मित्रता के निकट के व्यक्तिगत बन्धनों पर आधारित होते है, और परम्परा, सामंजस्य और अनौपचारिकता पर बल दिया जाता है। टोनीग 1957.

सामाजिक परिवर्तन एक सामान्य सरल प्रक्रिया है। बढ़ती जनसंख्या बदलते हुए परिवेश, नित्य नये होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधान ये सभी कुछ ऐसे तत्व है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रेरित करते रहते है जिस समाज में परिवर्तन नहीं होगा, वह समाज प्रगति नहीं कर सकता है। परिवर्तन का अर्थ होता है, नये तथा आधुनिक परिवेश के अनुकूल अपने समाज को भी ढ़ालना। आज अति वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण विश्व की दूरी सिमट गयी है। दुनियाँ के किसी भी कोने में होने वाले परिवर्तन से प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह कितनी ही दूरी पर क्यों न हो प्रभावित होता रहता है। जो प्रभावित नहीं होता है वह पिछड़ा बनकर रह जाता है। आवासीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में यह वर्णन किया जा चुका है कि अपने तीनों ही क्षेत्रों की प्रगतिशीलता में अन्तर है। नगरों के लोग अधिक तेजी से भाग रहे है, लेकिन ग्राम तथा आदिवासी बन्धुओं की प्रगति धीमी है। इस संदर्भ में निम्न प्राक्कल्पना की गयी है:-

(क) यह प्राक्कल्पना की जाती है कि तीनों ही समुहों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति सार्थक अन्तर पाया जायेगा।

(ख) नगरवायिों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति अपेक्षाकृत उच्च अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

विधि:-आवासीय पृष्टभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों की सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति का मापन करने के लिए हिन्दी में उपलब्ध ए.पी.आर.सी. मनोवृति मापनी (1986) (आगरा मनोवैज्ञानिक शोध संस्थान) का चालन किया गया।

क्षेत्र:- बिहार के ग्रामीण, नगरीय एवं आदिवासी क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया।

प्रतिदर्श:- बिहार के ग्रामीण, नगरीय एवं आदिवासी क्षेत्रों में निवास करने वालों मे से 100 ग्रामवासी, 100 नगरवासी एवं 100 आदिवासी क्षेत्र के नागरिक को अध्ययन हेतु चुना गया तीनों ही समूहों की कुल संख्या तीन सौ है। तीनों ही समूहों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन किया गया।

संयग एवं मापनी:- ए.पी.आर.सी. मनोवृति मापनी, 1986 (आगरा मनोवैज्ञानिक शोध संस्थान)

आवासीय पृष्ठभूमि एवं सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति:- तीन सौ प्रतिदर्श में आवासीय स्थिति के आधार पर एक-एक सौ नगरवासी, ग्रामवासी एवं आदिवासी प्रतिदर्श का चयन कर अध्ययन किया गया जिसकी शिक्षा कम से कम मैट्रिक पास थी। इन तीनों ही समूहों के पृथक-पृथक सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति प्राप्तांकों का वितरण तथा उसके मध्यमान प्रमाणित विचलन तथा टी. अनुपात का तुलनात्मक विवेचन किया गया। दूसरी प्राकृकल्पना में नगर वासियों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति उच्च अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। इससे सम्बन्धित प्राप्तांको का वितरण तथा उसके मध्यमान प्रमाणिक विचलन तथा टी अनुपात सारिणी संख्या एक में वर्णित है।

सारिणी संख्या एक में वर्णित तीनों ही समूहों नगरवासी, ग्रामवासी एवं आदिवासियों का तुलनात्मक विवेचन किया गया। सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि नगरवासियों के सामाजिक परिवर्तन मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 15.58 ग्रामवासियों का सामाजिक परिवर्तन मनोवृति प्राप्तांको का मध्यमान 10.26 तथा आदिवासियों का सामाजिक परिवर्तन मनोवृति प्राप्तांको का मध्यमान 6.14 पाया गया है। तीनों ही समहों का प्रमाणिक विचलन क्रमश: 2.16, 3.586 एवं 4.915 है तथा तीनों समहों का टी अनुपात क्रमश: 6.386, 3.393 एवं 8.589 है जो 98 डी.एफ. के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। अत: यह निस्कर्ष लिया जा सकता है कि उपर्युक्त प्राकल्पना सत्य प्रमाणित हुई।

सारिणी संख्या -1

	संख्या	मध्यमान	प्रथामिक प्रमाणिक विचलन विचलन की त्रुटि	टी अनुपात क ख	सार्थकता स्तर
नगरवासी	100	15.58 2.16	.432	6.386	.01
ग्रामवासी	100	10.26 3.586	.713	ख ग	.01
					3.393
आदिवासी	100	6.14 4.915	.983	क ग	.01
					8.589

दूसरी प्राक्कल्पना के आधार पर सारिणी संख्या एक में वर्णित तीनों ही समूहों के प्राप्तांक का तुलनात्मक विवेचन से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि नगरवासियों का मध्यमान 15.58, ग्रामवासियों का मध्यमान 10.26 आदिवासियों का 6.14 है। मध्यमानों के आधार पर अन्य दो समहों से नगरवासियों का 5.32 का अन्तर आता है जो यह स्पष्ट करता है कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति उच्च अनुकूल मनोवृति पायी गयी है।

उपर्युक्त तीनों ही आवासीय स्थिति एवं सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निस्कर्ष प्राप्त है:-

(क) प्राक्कल्पना संख्या एक में यह प्राक्कल्पना किया गया था कि तीनों ही समहों का सामाजिक परिवर्तन के प्रति सार्थक अन्तर पाया जायेगा। जो सत्यापित हो रहा है।

(ख) यह प्राक्कल्पना किया गया कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति अपेक्षाकृत उच्च अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। यह भी सत्यापित हो रहा है।

विशलेषण निस्कर्ष:- आदिवासी नगरवासी एवं ग्रामवासियों के मनोवृति मापने के लिए आवासीय पृष्ठभूमि एवं सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति के अन्तर सम्बन्ध की समीक्षा की गई। अध्ययन परिणाम से यह प्रमाणित हुआ कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति उच्च अनुकूल तथा अन्य दो समूहों मे उतनी अधिक अनुकूल मनोवृति नही पायी जाती है। इस चर से सम्बन्धित परिकल्पना जो किया गया है। परिणाम उसके अनुकूल है। नगरवासियों का सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृति प्राप्तांक मध्यमान 15.58 हैं ग्राम वासियों का प्राप्तांक मध्यमान 10.26 है तथा आदिवासियों का प्राप्तांक मध्यमान 6.14 है। नगर वासियों एवं ग्रामवासियों के बीच मध्यमान प्राप्तांकों का अन्तर 5.32, नगरवासियों एवं आदिवासियों के बीच 9.44 तथा ग्रामवासियों एवं आदिवासियों के बीच 4.12 प्राप्त हुआ है। तीनों ही समूहों का प्रमाणिक विचलन क्रमश: नगरवासी 2.16 ग्रामवासी 3.586 एवं आदिवासी 4.915 प्राप्त हुआ है। तीनों ही समूहों का टी अनुपात क ख 6.386, ख ग 3.393 एवं क ग 8.589 प्राप्त हुआ है। मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता .01 स्तर पर प्रमाणित हो रहा है। तीनों ही समहों के बीच सामाजिक परिवर्तन मनोवृति का मापन के सम्बन्ध में ए.पी.आर.सी. मनोवृति मापनी, 1986 का उपयोग किया गया है। यह मापनी सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित सभी पहलुओं का अध्ययन करने में सहायक है।

Reference :-

1. Gillin & Gillin 1962 - Cultural Anthropology.
2. Majumdar and Madan 1962 - An Introduction to Social Anthropology, P. 76.
3. Toennies, F 1957 - Theories of Society, Vol. 1, the free press of Glencoe, New York.
4. Goode, W.J. and Hatt P.K. (1952) - Methods in Social Research, New York, MC. Crow Hill.
5. Edwards, A.L. 1968 - Experimental Design in Psychological research (3rd) (End), New York. Holt, Rinchert and Winston INC. (Indian edition)
6. Guilford J.P. and 1956 - Fundamental statistics in psychology education, third edition, MC. Grow - Hill book company, INC, New York.
7. Max Weber 1961 -The Urban Community in Thesis of Society (Vol. 1), Op. Cit., The Free Pess of Glencoc, New York.
8. Garrette H.E. 1955 - Satisfaction in Psychlogy and education (Fourth edition) long man green and co. New York.
9. The Hindustan times 1988 - The Hindustan Times 9th May, 1988

एम.ए., पी.एच.डी. मनोविज्ञान.

शिक्षा में तनाव प्रबंधन

पूनम सिंह

आज जिस गति से मानव जीवन का आधुनिकी करण हो रहा है उसके समक्ष उतनी ही समस्याएँ और उलझनें प्रकट हो रही है। वैसे आधुनिक युग अनेक प्रकार की सुख सुविधाओं व विलासिता के साधनों से परिपूर्ण है फिर भी मानव जीवन का रंग ढंग कुछ इतना अधिक विषम तथा संघर्षमय बन गया है कि सामान्य व्यद्रियों के व्यवहार में संवेगात्मक तनाव व खिंचाव का आना एक तरह से उसके व्यक्तित्व का स्थायी अंग ही बन गया है। आधुनिक शोधों से पता चलता है कि करीब 75% रोगों का कारण तनाव है। हृदय रोग एवं कैंसर, जैसी जानलेवा बीमारी भी तनाव के कारण होती है। बेरोन (ठंतवद 1992) ने तनाव के संबंध में कहा है – "तनाव एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है जो हमलोगों में वैसी घटनाओं के प्रति अनुक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है जो हमारे दैहिक एवं मनोवैज्ञानिक कार्यों को विघटित करता है। या विखंडित करने की धमकी देता है।''

सरकारी नौकर, कामकाजी महिला, शिक्षित हाउस वाईफ, व्यवसायी, कर्मचारी हो या स्कूल जाते बच्चे, कॉलेज या विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले शिक्षक एवं पढ़ने वाले छात्र या तकनीकी शिक्षा हासिल करने वाले नौजवान, सभी को एक नियम और आदेश के अनुसार चलना पड़ता है। सभी अलग-अलग कारणों से तनाव महसूस करते हैं। मानोवैज्ञानिक, चिकित्सक और प्रबंधक सभी इस बात से सहमत हैं कि आधुनिक स्तर पर तनाव (stress) हमेशा पूरी तरह से बुरा नहीं होता है पर ये लम्बे समय तक रहने पर हमारे मन और शरीर दोनो को प्रभावित करता है। तनाव बाहरी एवं आन्तरिक वातावरण के कारण होता है, पर एक ही वातावरण किसी के लिए तनाव का कारण बनता है तो दुसरे को खुशी देता है। तनाव प्राणी के सोच पर निर्भर करता है। यदि हमें तनाव लगता है और उसे दूर करने का विचार करते हैं तो तनाव और भी बढ़ जाता है। आकांक्षा जितना अधिक होता है, तनाव भी उसे ही झेलना पड़ता है। किसी को सफलता कैसे पाए इसका तनाव तो किसी को अपनी असफलता से तनाव है।

तनाव में तीन तरह के परिवर्तन देखे जाते हैं।

1. **भावात्मक** – अधिक उत्साहित हो जाना
   एकाग्रता का अभाव
   घबराहट
   एकाग्रता की अयोग्यता
   चिड़चिड़ापन
   डर का भाव
   आत्म विश्वास की कमी
   मूडी हो जाना
   चिन्ता
   नकारात्मक सोच
   निर्णय लेने में कठिनाई
   अविश्वास का भाव इत्यादि
   विचार की दौड़

2. व्यवहारिक-बोलने में अटकना-

दुर्घटना प्रवणता
जल्दी रियेक्ट करना
खाने में वृद्धि या ह्रास
जोर से हँसना
नींद में वृद्धि या ह्रास
जोर से चिल्लाना इत्यादि
ड्रग्स का अनावश्यक सेवन करना इत्यादि

3. शारीरिक-दाँत कटकटाना

तीव्र नाड़ी,
धड़कता दिल,
बढ़ा हुआ श्वसन,
बाँह तथा पाँव की पेशियों का तनाव,
दाँतो की किरकिराहट
जल्दी पसीना आना
सरदर्द
जल्दी-जल्दी मल-मूत्र त्यागना

तनाव हमारे जीवन को अस्त-व्यस्त ना कर दे ऐसी स्थिति को नियंत्रित करने के लिए जरूरत होती हैं। तनाव के प्रबन्धन से तात्पर्य किसी भी कार्य को करने अथवा प्रबन्धन करने की कला से है। प्रबन्धन की आवश्यकता आज हर क्षेत्र में महसूस की जाती है।

डॉ0 एन0 एल0 अग्रवाल ने अपनी 'अर्थशास्त्र' पुस्तक में कहा है कि ''जब सीमित साधनों में अधिकतम लक्ष्यों की पूर्ती करनी हो तो प्रबन्धन आवश्यक है।''

यहाँ शिक्षा में तनाव प्रबन्धन के लिए आवश्यक है आज की शिक्षा व्यवस्था और शिक्षा शैली में जो भी तनाव उत्पन्न करने वाली समस्याएँ हैं, उनपर प्रकाश डाला जाए ताकि उन समस्याओं को प्रबन्धन कर दूर किया जा सके।

नामांकन

आज नये-नये सुविधाओं और तकनीकी से परिपूर्ण स्कूलों में वृद्धि हो रही है। हर अभिभावक अपने बच्चों को अच्छे से अच्छे स्कूलों में पढ़ाना चाहते हैं पर इस नामांकन प्रक्रिया के पहले और बाद में कई तरह के तनाव बच्चे और अभिभावक दोनों को झेलने पड़ते है, जैसे-

(i) किसी के पास अच्छे स्कूल/कॉलेज में नामांकन के लिए मोटी रकम की व्यवस्था कैसे करें इसका तनाव है।

(ii) किसी को पैरवी कहां से लगाएं इसका तनाव है।

(iii) मेरे बच्चे का इस स्कूल में नामांकन नहीं हो पाया इसका तनाव है।

(iv) बच्चे पर रोज अभिभावक द्वारा साक्षात्कार में सही-सही जवाब देने का दबाव पड़ने से बच्चों में भी तनाव है।

(v) नामांकन नहीं हुआ तो अभिभावक द्वारा दूसरों के बच्चों से तुलना करना उसके बच्चे को अच्छा और अपने बच्चे

को कमजोर बताने से या दूसरे के बच्चों के सामने बच्चों को अच्छा कहने से बच्चे मनोवैज्ञानिक रूप से कई तरह के तनाव सहते हैं।

समायोजन

विभिन्न स्कूल/कॉलेज में भिन्न-भिन्न पारिवारिक वातावरण और सांस्कृतिक वातावरण के बच्चे जाते हैं। प्रत्येक परिवार का अलग-अलग वातावरण होता है। बच्चे स्कूल और कॉलेज के माध्यम से एक नये वातावरण में प्रवेश करते हैं और समायोजन सम्बन्धि कई तनाव उत्पन्न हो जाते हैं।

(i) मैसलो का सिक्यूरिटी इन सिक्यूरिटी इनवेन्ट्री (Maslow Security insecurityinventory) और कैटेल का इरगिक टेन्सन स्केल (Cattle's Ergic Tension Scale) द्वारा सिन्हा ने W.A. विश्लेषण किया और पाया कि ग्रामीण विद्यार्थी शहरी विद्यार्थी की अपेक्षा अधिक तनाव महसूस करते हैं। एक मनोवैज्ञानिक रूप से देखा जाए तो यह तनाव समायोजन सम्बन्धित होता है।

(ii) प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि, सामर्थ्य, उद्देश्य तथा आकांक्षा होती है पर यदि उसकीशिक्षा की व्यवस्था उसके अनुकूल न हो पाये तो बच्चे शिक्षा ग्रहण तो करते हैं पर वो हमेशा तनाव सहते हैं। हर विद्यार्थी में तनाव को झेलते हुए समुद्र की लहरों की तरह आगे बढ़ने की कला नहीं होती है। परिणामतः तनाव विद्यार्थी के भविष्य को डुबा देता है।

शिक्षा प्रणाली

आज शिक्षा प्रणाली का काफी आधुनिकीकरण हो गया है। शिक्षा के तहत कई नई प्रणाली अपनाई गई है। कई नये विषय शामिल किये गये हैं। बच्चों के उठाने की क्षमता से अधिक किताबों का बोझ के साथ ही अभिभावक और शिक्षक का उनपर हमेशा दबाव बना रहने के कारण बच्चों को कितना तनाव होता है शायद हम इसका ध्यान नहीं दे पाते हैं।

रैंकिंग प्रणाली

चाहे स्कूल की परीक्षा हो या कॉलेज या प्रतियोगिता हर जगह योग्यता, रैंकिंग के आधार पर मापी जाती है। हर अभिभावक अपने बच्चे को 1-10 रैंक में देखना चाहते हैं और हर बच्चा अपने अभिभावक को खुश रखना चाहता है। अच्छा रैंक लाने के लिए बच्चे और अभिभावक दोनों तनाव में रहते हैं। यदि अच्छा रैंक नहीं आता है तो कई बार देखा जाता है कि बच्चे अपना रिजल्ट छुपा देते हैं, झूठ बोलने की कोशिश करते है, इससे उसके तनाव का अंदाजा लगाया जा सकता है।

शिक्षित, घरेलू एवं कामकाजी महिला

कई महिलाएँ शिक्षा ग्रहण करती है, पर जिम्मदारियों और मजबूरियों के कारण हमेशा घरेलू ही बनी रह जाती हैं, ऐसी महिलाएँ हमेशा तनाव में रहती है। इनमें हीनता का भाव, नकारात्मक विचार न जन्म लेते हैं। काम काजी महिला को देखकर इन्हें लगता है मैं कुछ नहीं बन पाई। मैं दूसरों पर निर्भर हूँ। वहीं काम काजी महिला को घर और ऑफिस दोनों को सम्भालना होता है। उनके समक्ष हमेशा यह तनाव रहता है कि कैसे अपने कामों का प्रबंधन करें ताकि घर और ऑफिस आराम से सम्भाल सकें और तनाव मुक्त रहें।

शिक्षक में तनाव

ट्रैभर और कूपर ने ब्रिटिस शिक्षक का 97 में साक्षात्कार लिया और पाया कि शिक्षक में मुख्यतः तीन कारणों से तनाव होते हैं-

(i) काम का अधिक बोझ

(ii) पुअर स्टेटस

(iii) कम आमदनी

इसके अलावा आज भी शिक्षक कई प्रकार तनाव झेलते हैं, जैसे-

(i) परीक्षा में कदाचार होते हुए देखकर भी कुछ न कर पाना।

(i) शिक्षा व्यवस्था का आज पूरी तरह से व्यवसायिक हो जाने के कारण एक स्वच्छ माहौल का न मिल पाना।

अब प्रश्न उठना है कि कैसे तनाव प्रबंधंन किया जाये ? जैसे किसी बीमारी का कारण पता होता है तभी उसका इलाज शुरू किया जाता है, उसी प्रकार तनाव के कारणों को नियंत्रित करके तनाव कम किये जा सकते हैं।

मानसिक नियंत्रण (Mental control)-

(i) यदि कोई व्यक्ति आपको तनाव देता है तो उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

(ii) अपनी योग्यता के अनुसार अपना और अपने बच्चों का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए।

(iii) अपने संवेगात्मक भाव पर नियंत्रण रखने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(iv) हर परिस्थिति से मुकाबला करने को हमेशा तैयार रहना चाहिए।

(v) किसी भी बात में ओवर रियक्ट ना करें, दूसरों से ज्यादा उम्मीद ना करें, नाकारात्मक सोच न रखें।

शारीरिक नियंत्रण-

(i) व्ययाम करना, टहलना, तैरना

(ii) आराम से सोना

(iii) अपने वजन को नियंत्रित रखना

(iv) ऐसे दोस्त जिसके साथ आपको अच्छा लगता है उनसे दोस्ती बनाये रखना और उनके साथ वक्त गुजारना इत्यादि।

व्यवहारिक नियंत्रण- प्रत्येक व्यक्ति एक डायरी बनायें जिसमें प्रतिदिन समय, दिनांक डालें और लिखे आज आप कितना खुशी और तनाव महसूस करते हैं ? कौन सा कारण आपको कितना तनाव देता है ? आपने तनाव में क्या काम किया ? ऐसा करने से तनाव झेलने वाले को अपने मानसिक दबाव के विस्तार का पता चलेगा। तानव में भी व्यक्ति को यह जानकारी रहेगी कि उसका प्रदर्शन और प्रस्तुतिकरण कैसा है। इससे व्यक्ति तनाव में लाभान्वित हो सकते हैं। यदि आप अपनी डायरी पढ़ेंगे तेा अपने तनाव के स्रातों को जान पायेंगे। साथ ही तनाव को दूर करने के लिए जो तरीका उसने अपनाया था वह सही है या नहीं, इसकी भी जानकारी व्यक्ति को हो जाती है। जिससे व्यक्ति अपना तनाव प्रबंधन आसानी से कर सकता है।

सरकारी नियंत्रण और सहयोग- शिक्षा के क्षेत्र में आज बहुत से ऐसे दबाव और तनाव जो सरकारी और कठोर नियंत्रण से प्रबंधन कर के दूर किये जा सकते हैं।

सहायक पुस्तकों की सूची-

(i) डॉ0 मो0 सुलेमान और सिन्हा - शिक्षा मनोविज्ञान

(ii) एस0 रॉबिन्स - ऑर्गेनाईजेसन विहेवियर

(iii) उदय पारिख - ऑर्गेनाईजेसन विहेवियर

(iv) डॉ0 मुहम्मद सुलेमान - मनोरोगविज्ञान

(v) डॉ0 अरुण कुमार सिंह - आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान

(vi) डॉ0 एस.एस.माथुर - स्वास्थ्य मनोविज्ञान

डॉ0 अंजु माथुर - स्वास्थ्य मनोविज्ञान।

व्याख्याता, स्नातकोत्तर मनोविज्ञान विभाग

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा।

खेती और उद्योग में टकराव ठीक नहीं

भाव्या सचदेव

एक साथ बहुत कुछ हो रहा है भारतीय अर्थव्यवस्था में। नंदीग्राम में पिटते किसान और लाशों को देखकर तो यही लगता है कि भारत, अफ्रीका का कोई देश है, जहां कोई तानाशाह अपनी जिद में कितनों को भी मार सकता है। उधर, गुजरात से खबरें आ रही है कि आईआईएम अहमदाबाद के कई ग्रेजुएटों को लाखों नहीं, करोड़ों रुपये सालाना की नौकरियां ऑफर की जा रही है। तय करना मुश्किल है कहां जायें। इतने ऑफर इतने रुपये। सिंगापुर से लेकर न्यूयॉर्क तक सब जगह से आमंत्रण हैं।

अहमदाबाद से न्यूयॉर्क तक का यह सफर निश्चय ही सुखद है। पर इस रास्ते में कहीं नंदीग्राम भी आ जाता है बुद्धदेव भट्टाचार्य कई किसानों की मौत के बाद कह रहे हैं कि अब वहां स्पेशल इकोनॉमिक जोन नहीं बनेगा। आप जनता को समझने वाले कैसे वामपंथी मुख्यमंत्री हैं कि जनता क्या चाहती है, यह भी नहीं समझ सकते। ममता बनर्जी पर पूरा इलजाम थोपना बेवकूफी है।

ममता पब्लिक को तभी भड़का सकती हैं, जब वह भड़कने को तैयार हो। नेता पब्लिक की भावनाओं से खेल तो सकते हैं, पर उन्हें बनाने का बूता आज के नेताओं में नहीं है। अब डिबेट चल पड़ी है कि कृषि बनाम उद्योग में क्या होना चाहिए? खेती या उद्योग, दोनों में से क्या होना चाहिए?

यह डिबेट भी मुख्यमंत्री के रूख की तरह ही बेतुका है। कृषि बनाम उद्योग की डिबेट अतिवादियों को छूती प्रतीत होती है। इसमें संतुलन का अभाव है। एक तरफ वे लोग हैं, जिनके जेहन में रोमांटिक किस्म का एक गांव है, जिसमें सब कुछ ठीक चल रहा है। वे चाहते हैं कि यह सीन बदलना नहीं चाहिए। पुराने किस्म के नक्सलवादियों से लेकर नए किस्म के एनजीओ तक सब यही कह रहे हैं।

पोस्टर, बुकलेट, गाने, धरना, प्रदर्शन, ये सब इनके द्वारा चलाए जा रहे हैं। विरोध अब खुद में एक बड़ा कारोबार है। इन्हें यह नहीं दिखाई पड़ता कि खेती से आमदनी लगातार कम होती जा रही है। खेती से जीवन स्तर को ऊंचा उठाना तो दूर, उसे बचाए रखना मुश्किल है। वे यह देखने में असमर्थ हैं कि आज के किसानों की अगली पीढ़ी को जिस दुनिया का सामाना करना है, उसमें रोमांटिक किस्म के गांव नहीं हैं, बल्कि बाजार संचालित कारोबार हैं। वे यह नहीं देख पाते कि किसान जब खुद बाजार जाता है, तो उसे महंगाई का दंश झेलना पड़ता है, वह खुद बाजार में अपनी उपज का मूल्य तय करने में समर्थ नहीं है। उसका गेहूं अगर महंगा होता है, तो सरकार आयात कर लेती है।

अगर उसका गेहूं बड़ी कंपनियां ऊंचे दाम पर खरीदती हैं, तो यही विद्वान लोग कहते हैं कि यह सब नहीं चलेगा। खेती में बड़ी कंपनियां आ रही हैं, गलत बात है। दरअसल, खेती बनाम उद्योग की डिबेट निरर्थक ही नहीं, घातक भी है। यहां खेती को दरकिनार करके नहीं, उसे बेहतर बनाकर कुछ हासिल किया जा सकता है। यह रोमांटिक चिंतन से नहीं, खेती को बाजार से जोड़ने से ही हो पायेगा।

अतिवादिता के दूसरे छोर पर वे लोग हैं, जो मानकर चलते हैं कि सरकार को सिर्फ पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का एजेंट होना चाहिए। टाटा को जमीन चाहिए, तो सरकार को दिलवानी चाहिए। इंडोनेशिया के किसी उद्योगपति को जगह चाहिए, तो सरकार को दिलवानी चाहिए। जमीन दिलवाना भले ही सरकार की जिम्मेदारी हो, पर उचित शर्तें तय करना किसकी जिम्मेदारी है?

उद्योग वाले कोई खैरात का काम नहीं कर रहे। वे धंधे के लिए जगह मांग रहे हैं। उद्योगपति जिस जमीन को हासिल करते हैं, उसके भाव कुछ ही वर्षों में आसमान छूने लगते हैं। इसका फायदा किसानों को नहीं होता। किसानों को समझाया जाना जरूरी है कि जमीन देना उनके लिए कैसे फायदे का सौदा है। इसके लिए कुछ रचनात्मक सुझाव सोचे जा सकते हैं। मसलन, जमीन की कीमत के एक हिस्से के तौर पर किसानों को कंपनियों के शेयर मिलने चाहिए। कारोबार बढ़ेगा, तो इन शेयरों के भाव भी बढ़ेंगे। इसका लाभ उन्हें मिलेगा।

इस पूरे कारोबार को किसान नहीं समझ पाये, तो कोई बात नहीं। सरकार कोई ट्रस्ट बना सकती है या किसी सक्षम बैंक को वह जिम्मेदारी दे सकती है कि उसे इन किसानों के शेयरों के हितों को देखना है। जमीन की मिल्कियत किसानों के पास ही रह सकती है। जमीन एक ट्रस्ट के पास हो, जो किसानों का हितरक्षक हो। ये ट्रस्ट सौ साल की लीज पर कंपनियों को यह जमीन दे सकता है। बदले में वह किराया वसूल सकता है। यह भी सुनिश्चित किया जाये कि एक नियमित अवधि के बाद किराया बढ़ता रहे। कंपनियां मुनाफा कमाएं और उसका एक हिस्सा किसानों में बांटें।

इस तरह के और रास्ते सोचे जा सकते हैं। पर ऐसा चिंतन संतुलित रूख की मांग करता है। लेकिन इस पूरे मसले के केंद्र में जो पार्टी है यानी सीपीएम, उसे संतुलित चिंतन और लोकतांत्रिक परंपराओं का अभ्यास नहीं है। माकपा नेतृत्व ने जो फैसला कर दिया, वह लागू किया जाना चाहिए। नेतृत्व तो अपनी स्थिति झटके से बदल सकता है, पर उसके बारे में पब्लिक को समझाने में समय लगता है। कई दशकों से पब्लिक को उद्योग विरोधी राजनीतिक चिंतन की खुराक देने के बाद अगर पार्टी कहती है कि उद्योग के टॉनिक से सेहत सुधर जायेगी, तो इसे हजम करने में लोगों को वक्त तो लगेगा ही।

दीगर है कि राज्यों में स्पेशल इकोनॉमिक जोन को कॉरपोरेट जमींदारी बताने वाली पार्टी अपने राज्य में इसे जनहितकारी कैसे साबित कर पायेगी, यह लाख टके का सवाल बन चुका है। चीन का उदाहरण सामने रखें, तो साफ है कि वहां भी स्पेशल इकोनॉमिक जोन का मामला आसान नहीं रहा है। पर चीन को लोकतंत्रविहीनता के कुछ लाभ उपलब्ध रहे हैं। नंदीग्राम जैसी कोई प्रकरण चीन में आसानी से संभव नहीं था। अगर होता, तो चीन सरकार इसके लिए सैकड़ों नहीं, हजारों लोगों को भी खत्म करने में भी गुरेज नहीं करती। चीन में इसलिए खबरें असंतोष की नहीं, असंतोष को बेरहमी से कुचले जाने की आती है। वहां नंदीग्राम प्रकरण नहीं, थिएनआनमान चौक प्रकरण होते हैं। यानी सीपीएम को वह लोकतंत्र परेशान कर रहा है, जिसकी अनुपस्थिति चीन में कुछ भी संभव बना देती है।

सीपीएम नेतृत्व वाली सरकार को सारी बातें चीन से ही नहीं, भारत के दूसरे राज्यों से भी सीखनी चाहिए। गुजरात, महाराष्ट्र और हाल में तमिलनाडु में कई बड़ी औद्योगिक परियोजनाओं के लिए बड़ी जमीनें ली गयी हैं, पर इतनी मार-काट नहीं हुई। गुजरात और तमिलनाडु के नेता पश्चिम बंगाल की सरकार को नुस्खे बता सकते हैं, पर दिक्कत यह है कि उसे किसी से कुछ सीखने की जरूरत नहीं होती, उसे सब कुछ पता है। उसके पास हर सवाल का जवाब है। मुश्किल यह है कि सवाल नए हैं और उनके पुराने जवाब कारगर नहीं हो रहे हैं।

खेतों में विकास के महल

सरकारी आंकड़ों में दावा किया गया है कि 1993-2000 के बीच गरीबी 36 प्रतिशत से घटकर 26 प्रतिशत रह गयी है, लेकिन संयुक्त राष्ट्र की एक्सटेंट ऑफ क्रोनिक हंगर एंड मालन्यूट्रिशन रिपोर्ट इस बात से सहमत नहीं है। इसके अनुसार 1990 के दशक में भारत की आवश्यकता अधिक बाजारोन्मुख तो हो गयी, लेकिन सभी भारतीयों को बराबर का लाभ नहीं मिला। उल्टे विशेष आर्थिक क्षेत्रों (एसईजेड) से गरीबों, विशेषकर किसानों की आर्थिक कठिनाइयां और अधिक बढ़ सकती हैं।

शायद यही वजह है कि प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह और कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी से लेकर तकरीबन सभी मंत्रालय इस बात पर चिंतित हैं कि एसईजेड को किस तरह कामयाब भी बनाया जाये और उससे किसानों को भी नुकसान न पहुंचे। दूसरी

ओर विपक्षी दलों ने सेज के खिलाफ मुहिम छेड़ने का ऐलान किया है। विपक्षी दलों के अनुसार एसईजेड किसान विरोधी होने के साथ-साथ रियल स्टेट घोटाला है।

एसईजेड का विचार यह है कि देश के आर्थिक विकास के लिए विशेष क्षेत्र निर्धारित किये जायेंगे। उन क्षेत्रों की भूमि को अधिग्रहीत करके उन कंपनियों को दे दी जायेगी जो उस पर ऐसी इकाइयां स्थापित करेंगी, जिनसे अर्थव्यवस्था और अधिक बाजारोन्मुख बनेगी और रोजगार के अवसर भी बढ़ेंगे। एसईजेड को विकसित करने के लिए विदेशी कंपनियां भी निवेश कर सकती हैं। पिछले साल भारत और सिंगापुर के बीच व्यापक आर्थिक सहयोग समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे, जिसके तहत सिंगापुर भारत में एसईजेड के विकास में मदद करेगा।

इसी तरह इंडोनेशिया का सलीम ग्रुप हल्दिया (पश्चिम बंगाल) में प्रस्तावित 22,500 एकड़ के दो विशेष आर्थिक क्षेत्रों का विकास कर रहा है। सलीम ग्रुप ने 50 प्रतिशत क्षेत्र निर्माण और सर्विस सेक्टर गतिविधि के लिए निर्धारित किया है, जबकि ज्यादातर अन्य एसईजेड डेवलपर्स भूमि का 65 प्रतिशत हिस्सा नॉन-प्रोसेसिंग कार्य के लिए निर्धारित किये हुए हैं।

यही वजह है कि अब वामपंथी केंद्र सरकार पर दबाव डाल रहे हैं कि प्रोसेसिंग और नॉन-प्रोसेसिंग क्षेत्र का अनुपात 50:50 होना चाहिए। विशेष आर्थिक क्षेत्रों को मुख्य रूप से दो हिस्सों में बांटा गया है। एक सेक्टर स्पेसिफिक और दूसरा मल्टी प्रोडक्ट। स्पेसिफिक सेक्टर में सिर्फ एक खास किस्म के प्रोजेक्ट जैसे आईटी ही विकसित किये जा सकते हैं। जो डेवलपर इस विशेष किस्म का क्षेत्र विकसित करेगा उसे कम से कम 250 करोड़ रुपये का निवेश करना होगा और 7500 घर, 100 कमरों का होटल, 25 बिस्तरों वाला अस्पताल, 25000 वर्गमीटर भूमि स्कूलों/शिक्षा संस्थानों के लिए छोड़नी होगी, जबकि 50000 वर्गमीटर क्षेत्रीय कार्यालयों, मॉल्स व मल्टीप्लेक्स के लिए।

मल्टी प्रोडक्ट यानी विभिन्न किस्मों के उत्पादन वाले विशेष आर्थिक क्षेत्र में न्यूनतम निवेश 1000 करोड़ रुपये का होगा और डेवलपर को 25000 धार, 250 कमरों वाला होटल, 100 बिस्तरों वाला अस्पताल, 2,50,000 वर्ग मीटर क्षेत्र स्कूलों व शिक्षा संस्थानों के लिए छोड़ना होगा। मल्टीप्रोडक्ट क्षेत्रों में गोल्फ कोर्स, बंदरगाह, एयरपोर्ट और कंटेनर डिपो भी हो सकते हैं।

घरों, स्कूलों व मॉल्स का निर्माण चरणबद्ध तरीके से किया जा सकता है और यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि एसईजेड में कितनी इकाइयां लगी हैं और कितने लोगों को रोजगार दिया गया है। देखने में तो यह योजना आकर्षक लगती है, लेकिन इसमें कई खतरे हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह रियल इस्टेट डेवलपर्स के लिए सोने की खान है, क्योंकि उन्हें ड्यूटी-फ्री सीमेंट, स्टील और इलेक्ट्रिकल फिटिंग्स मिल जायेंगी, जिससे वे उन लोगों को भी मकान बनाकर बेच सकेंगे जिनका एसईजेड से कोई लेना-देना न होगा।

जाहिर है कि इस तरह के लालच से एसईजेड स्थापित करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पायेगी। एसईजेड स्थापित करने के लिए किसानों की उपजाऊ भूमि अधिग्रहीत करके पूंजीपतियों को कौड़ियों के भाव दे दी जायेगी। इससे न सिर्फ किसानों की दिक्कतें बढ़ जायेंगी, बल्कि गांवों में रोजगार के अवसर और घट जायेंगे। जिस तरह से उपजाऊ कृषि भूमि अधिग्रहण करके पूंजीपतियों को दी जा रही है उससे यह खतरा भी पैदा हो गया है कि अगले कुछ वर्षों बाद भारत अपने 100 करोड़ लोगों के लिए पर्याप्त अनाज नहीं उगा पायेगा। किसानों को अधिग्रहीत भूमि का मुआवजा भी बहुत कम मिल रहा है, जिसे वे अनुभव की कमी के कारण व्यवसाय में भी इस्तेमाल नहीं कर पा रहे हैं। हकीकत यह है कि भारत की 65 प्रतिशत आबादी गांवों में रहती है। उसका भला एसईजेड से नहीं होगा, बल्कि कॉरपोरेट फार्मिंग से ही होगा। कॉरपोरेट फार्मिंग से देश में कृषि उत्पादन भी बढ़ जायेगा।

व्याख्याता

एमएमपीजी कॉलेज, फतेहाबाद

भूमण्डलीकरण के द्वन्द्व में पिसती ग्रामीण अर्थव्यवस्था

रंजीत कुमार

''पत्थर उबालती रही एक मां तमाम रात
बच्चे फरेब खा के चटाई पर सो गये
इस देश में परियों की कहानी भी खूब है
बच्चे को आज उसने फिर भूखा सुला दिया''

'गरीबी बनाम अमीरी' एवं 'ग्रामीण बनाम शहरी' की बहस बड़ी पुरानी है। सभ्यता के आरंभ में यह गैप उतना नहीं रहा होगा, जितना समकालीन समाज में। कार्ल मार्क्स ने भी वर्ग-संघर्ष की अपनी परिभाषा प्रभु और सर्वहारा वर्ग या शोषक और शोषित के आधार पर ही दी। भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो भारत हजारों वर्षों से गांवों का देश रहा है। ग्राम्य व्यवस्था व राज्य व्यवस्था का यहां अद्‌भुत तादात्म्य देखने को मिलता है। भारतीय ग्राम्य व्यवस्था पर कभी राजनीति हावी नहीं रही, इसलिए वह स्वायत्त रूप से चलती रही है। वक्त के साथ अनेक थपेड़ों ने भारतीय संस्कृति पर हमला किया पर ग्राम्य व्यवस्था ने हजारों वर्षों से इस संस्कृति की रक्षा की। तभी तो पाश ने अपनी कविता में लिखा कि भारत नाम दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम पर नहीं बल्कि उन भूमिपुत्रों के नाम पर पड़ा है, जो आज भी सूरज की परछाइयों से समय मापते हैं। शहरों का विकास भी ग्राम्य व्यवस्था के फलने-फूलने पर ही हुआ पर आजादी पश्चात गांव व शहर के बीच का अंतराल बढ़ता गया। गांवों की कीमत पर शहर फलने-फूलने लगे और नतीजन गांव गरीबों का जमावड़ा हो गया और शहर अमीरों का। इसी के साथ 'इण्डिया' बनाम 'भारत' का मुहावरा चल निकला।

हमारा देश प्राकृतिक संपदाओं से भरपूर है और हमारे युवा मानव संसाधन के क्षेत्र में अमेरिका-ब्रिटेन जैसे विकसित देशों तक अपनी सफलता की पताका फहरा रहे हैं, फिर भी आम आदमी उपेक्षित है। गांवों के कल्याण के लिए तमाम योजनाएं बनाई गई, पर राजनैतिक-प्रशासनिक इच्छाशक्ति के अभाव में वे अपने अंजाम तक नहीं पहुंच सकीं। 1962 में लोकसभा में गाजीपुर के सांसद विश्वनाथ सिंह गहमरी ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में व्याप्त गरीबी की दास्तान सुनाते हुए कहा कि वहां गरीब गोबर से अनाज का दाना निकाल कर खाने को मजबूर हैं, तो नेहरू की आंखें भी छलक आयीं थीं। शायद इसी विडम्बना पर कविवर धूमिल ने लिखा था–''भाषा में भदेस हूं, कायर इतना कि उत्तर प्रदेश हूं।'' प्रधानमंत्री रहते हुए राजीव गांधी ने भी स्वीकारा था कि केंद्र से भेजे गए एक रुपए में से मात्र 15 पैसा ही अंतिम व्यक्ति तक पहुंचता है। स्पष्ट है कि सारा धन भ्रष्टाचार के नाले में जा रहा है। आजादी पश्चात सरकारों की प्राथमिकता में शहरों का ही विकास रहा। गांवों की कीमत पर शहरों को हर तरह की सुख सुविधाओं से भरपूर करना एक तरह का आंतरिक उपनिवेशवाद ही कहा जायेगा, जिसने तमाम समस्याओं को जन्म दिया। भूमण्डलीकरण के बहाने तमाम बहुराष्ट्रीय कंपनियां गांवों तक पहुंच रही हैं और परंपरागत कृषि व्यवस्था पर चोट कर रही हैं। जो किसान अपनी आजीविका के लिए कृषि कार्य करता था, उसे परंपरागत खेती छोड़कर बागवानी और अन्य नकदी फसलों की खेती करने के लिए लालच दिया जा रहा है। दूसरों के लिए ठेके पर खेती की इस प्रवृत्ति को बढ़ाने के कारण गेहूं की पैदावार लक्ष्य से पीछे खिसकने लगी और नतीजन विदेशों से गेहूं का आयात हो रहा है। किसानों को अपनी मनपसंद फसल उगाने की बजाय रिटेल स्टोरों में बेचने के लिए उत्पाद पैदा करने को कहा जा रहा है। ठेके पर लहलहाती फसल चौपट हो जाती है तो किसानों की पीड़ा सुनने वाला कोई नहीं होता। विशेष आर्थिक क्षेत्र के नाम पर कम दामों में किसानों की जमीन लेकर एक तरह से उन्हें पलायन के लिए मजबूर किया जा रहा है। स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए किसान नागरिक नहीं उपभोक्ता हैं।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में 'कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा गौण होती गई। गांवों में बसने वाले किसानों, मजदूरों, शिल्पकारों को सरकार ने उनके भाग्य पर छोड़ दिया। बढ़ती महंगाई और बेराजगारी के बीच जैसे-जैसे अमीरी-गरीबी का

फासला बढ़ता गया, वैसे-वैसे किसानों की आत्महत्या, भुखमरी से मौत और सामाजिक विषमता जैसी प्रवृत्तियां बढ़ती गई। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों पर गौर करें तो देय में वर्ष 2002 तक औसतन हर 30 मिनट में एक किसान ने आत्महत्या की। वर्ष 2005 में 17131, वर्ष 2006 में 17060 तो 1997 से 2006 के बीच कुल 78737 किसानों ने आत्महत्या की। तस्वीर का सबसे दुखद पहलू तो यह है कि ज्यादातर आत्महत्या करने किसान समृद्ध प्रांतों के हैं। अकेले महाराष्ट्र में वर्ष 1995 से अब तक 36428 किसान आत्महत्या कर चुके हैं। ग्रामीण विकास मंत्रालय की ही एक रिपोर्ट के अनुसार लगभग दो करोड़ लोग जमीन से बेदखल किये जा चुके हैं और इनमें से मात्र 54 लाख लोगों को ही पुनर्स्थापित किया गया है। 'स्पेशल इकॉनोमिक जोन' किस प्रकार 'स्पेशल एलिमिनेशन जोन' में तब्दील हो रहे हैं, वह महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और छतीसगढ़ जैसे 'सेज' राज्यों में किसानों की आत्महत्या में 6.2 फीसदी की वृद्धि स्वयमेव दशार्ती है।

सबसे बड़ा अंतर्विरोध तो यह है कि सरकार आर्थिक समृद्धि के गीत गा रही है जबकि देश का एक बड़ा तबका इस समृद्धि से कोसों दूर है। सबको विकास की एक ही लाठी से हांकने के कारण जो अमीर हैं वे अमीर हो रहे हैं, और गरीब दिनों-ब-दिन गरीब हो रहा है। आधुनिक परिवेश में आर्थिक विकास की बात करने पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का चित्र दिमाग में आता है। संसद से लेकर सड़कों तक जी॰ डी॰ पी॰ व शेयर-सेंसेक्स के बहाने आर्थिक विकास की धूम मची है और मीडिया भी इसे बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है। जिस देश के संविधान में लोक कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना की गई हो, वहां सामाजिक विकास की बात गौण हो गई है। सरकार यह भूल रही है कि पूंजीवाद, समाजवाद या अन्य कोई वाद मात्र साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो समग्र समाज के विकास में निहित है, न कि एक सीमित भाग के विकास में। यहां तक कि नोबेल पुरस्कार विजेता प्रख्यात अर्थशास्त्री डॉ॰ अमर्त्य सेन ने भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में इंगित किया है कि–शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास जैसी आधारभूत सामाजिक आवश्यकताओं के अभाव में उदारीकरण का कोई अर्थ नहीं है। आर्थिक विकास में जहां पूंजीपतियों, उद्योगपतियों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों अर्थात् राष्ट्र के मुट्ठी भर लोगों को लाभ होता है, वहीं भारत का बहुसंख्यक वर्ग इससे वंचित रह जाता है या नगण्य लाभ ही उठा पाता है। इस प्रकार ट्रिकल डाउन का सिद्धांत फेल हो जाता है। अत: सामाजिक विकास जो कि बहुसंख्यक वर्ग की आधारभूत आवश्यकताओं के पूरी होने पर निर्भर है, के अभाव में राष्ट्र का समग्र और चहुमुखी विकास संभव नहीं है। एक तरफ गरीब व्यक्ति अपनी गरीबी से परेशान है तो दूसरी तरफ देश में करोड़पतियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। तमाम कंपनियों पर करोड़ों रुपये से अधिक का आयकर बकाया है तो इन्हीं पूंजीपतियों पर बैंकों का भी करोड़ों का शेष है। डॉ॰ अमर्त्य सेन जैसे अर्थशास्त्री ने स्पष्ट इंगित किया है कि समस्या उत्पादन की नहीं, बल्कि समान वितरण की है। आर्थिक विकास में पूंजी और संसाधनों को केंद्रीकरण होता है जो कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के खिलाफ है। फिर भी तमाम सरकारें सामाजिक विकास के मार्ग में अवरोध पैदा करती रहती हैं। जिस देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय सुविधाओं से दूर हो, एक तिहाई जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे हो, लगभग 35 प्रतिशत जनसंख्या अशक्षित हो, जहां गरीबी के चलते करोड़ों बच्चे खेलने-कूदने की उम्र में बालश्रम में झोंक दिये जाते हों, जाहं कृषि आधारित अर्थव्यवस्था में हर साल हजारों किसान फसल चौपट होने पर आत्महत्या कर लेते हों, जहां बेरोजगारी सुरसा की तरह मुंह बाये खड़ी हो वहां शिक्षा को मंहगा किया जा रहा है, सार्वजनिक संस्थानों को औने-पौने दामों में बेचकर निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है, सरकारी नौकरियां खत्म की जा रही हैं, सब्सिडी दिन-ब-दिन घटायी जा रही है, निश्चितत: यह राष्ट्र के विकास के लिए शुभ संकेत नहीं है।

सरकार द्वारा जारी नेशनल सैंपल सर्वे आर्गेनाइजेशन की रिपोर्ट पर गौर करें तो शहरी बनाम ग्रामीण का द्वंद्व खुलकर सामने आता है। इसके अनुसार अभी भी ग्रामीण आबादी का पांचवा हिस्सा (लगभग 14 करोड़) मात्र 12 रुपये रोजाना में जीवन जीने को अभिशप्त है। 19 फीसदी ग्रामीणों के पास अपनी रोजी-रोटी चलाने के लिए सालाना 365 रुपये भी नहीं जुड़ते। गांवों का पाचवां हिस्सा मिट्टी से बनी दीवारों और छतों के नीचे रहने को विवश हैं तो 31 फीसदी ग्रामीण बमुश्किल छत या दीवार में से किसी एक को पक्का करने का इन्तजाम कर पाये हैं। उत्पादकता के बावजूद गांव वाले 251-400 रुपये में भोजन का काम चला रहे हैं जबकि शहरी क्षेत्रों में भोजन पर 451-500 रुपये मासिक खर्च किये जा रहे हैं। इससे बड़ी विसंगति और क्या हो सकती है कि ग्रामीणों की आय का आधा से ज्यादा हिस्सा अर्थात् 1 रुपये में 53 पैसे भोजन जुटाने पर खर्च हो रहा है जबकि शहरी बाबू लोग कमाई अधिक होने के बावजूद मात्र 40 पैसे खर्च कर रहे हैं। सरकार भले ही बड़े-बड़े दावे करे और ग्रामीणों के नाम पर सब्सिडी जारी करे, पर असलियत कुछ और ही है। ताम सब्सिडी के बावजूद रसोई गैस मात्र 9 फीसदी ग्रामीणों के नसीब में है, तीन चौथाई ग्रामीण आबादी अभी भी गोबर व सूखी लकड़ी पर निर्भर हैं। 42 फीसदी ग्रामीण बिजली पर सब्सिडी के बावजूद अंधेरा दूर करने हेतु केरोसिन पर निर्भर हैं। शहरी बनाम ग्रामीण का सबसे ज्वलंत उदाहरण उनकी व्यय शक्ति है। शहरी भारत जहां हर माह 1171 रुपये खर्च कर रहा है, वहीं ग्रामीण भारत मात्र 625 रुपये। यह स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। ऐसे में आर्थिक विकास के साथ-साथ आर्थिक विषमता की चौड़ी होती खाई को भी पाटना

जरूरी है क्योंकि करोड़ों लोगों को फटेहाल रख कर राष्ट्र की समृद्धि का सपना नहीं देखा जा सकता। राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ सर्वेक्षण के आंकड़े गवाह हैं कि दुनिया की सबसे विशाल खेती व राशन प्रणाली की इतनी मजबूत व्यवस्था होने के बावजूद आज देश में 33 फीसदी वयस्क और तीन बांग्लादेश व अफ्रीकी राष्ट्र भी इस मामले में हम से बेहतर हैं। एक तरफ इस बात पर जश्न कि भारत के मुंबई स्टाक एक्सचेंज व नेशनल स्टाक एक्सचेंज दुनिया के शीर्ष बारह शेयर बाजारों में शुमार हो चुके हैं, और वर्ष 2007 में भारत में करोड़पतियों की संख्या बीते वर्ष के एक लाख से बढ़कर 1, 23, 000 हो गई है, जो कि दुनिया में सर्वाधिक वृद्धि है, दूसरी तरफ उपरोक्त दशार्यी गई स्थिति स्वयमेव भूमण्डलीकरण व उदारीकरण के अंतर्द्वन्द्व को स्पष्ट कर रही है। स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती की पूर्व संध्या पर अपने उद्‌भेधन में तत्कालीन राष्ट्रपति के॰ आर॰ नारायणन के शब्द हमें समाज का चेहरा दिखाते हैं–''उदारीकरण से उपजी विषमता यूं ही बढ़ती रही है और धन का अश्लील प्रदर्शन जारी रहा तो समाज में सिर्फ अशांति फैलेगी। उथल-पुथल की इस आंधी में सिर्फ गरीब की झोपड़ी ही नहीं उड़ेगी, अमीरों की आलीशान कोठियां भी उजड़ जाएंगी।'' अमेरिका के चर्चित विचारक नोम चोमस्की ने भी हाल ही में अपने एक साक्षात्कार में भारत में बढ़ते द्वंद्व पर खुलकर चर्चा की है। चोमस्की का स्पष्ट मानना है कि भारत में जिस प्रकार के विकास से आर्थिक दर में वृद्धि हुई है, उसका भारत की अधिकांश जनसंख्या से कोई सीधा वास्ता नहीं दिखता। यही कारण है कि भारत सकल घरेलू उत्पाद के मामले में जहां पूरे विश्व में चतुर्थ स्थान पर है, वहीं मानव विकास के अंतर्राष्ट्रीय मानदण्डों मसलन, दीर्घायु और स्वस्थ जीवन, शिक्षा, जीवन स्तर इत्यादि के आधार पर विश्व में 126 वें नंबर पर है। आम जनता की आर्थिक स्थिति पर गौर करें तो भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के 54 सर्वाधिक गरीब देशों में गिना जाता है। संयुक्त राष्ट्र की मानव विकास रिपोर्ट की मानें तो जैसे-जैसे भारत की विकास दर में वृद्धि हुई है, वैसे-वैसे यहां मानव विकास का स्तर गिरा है। आज 0-5 वर्ष की आयुवर्ग के भारतीय बच्चों में से लगभग 50 फीसदी कुपोषित हैं तथा प्रति 1000 हजार नवजात बच्चों में 60 फीसदी से ज्यादा पहले वर्ष में ही काल-कवलित हो जाते हैं। स्पष्ट है कि उपरी तौर पर भारत में विकास का जो रूप दिखायी दे रहा है, उसका सुख मुट्‌ठी भर लोग ही उठा रहे हैं, जबकि समाज का निचला स्तर इस विकास से कोसों दूर है।

अब समय आ गया है कि गरीब, किसान, मजदूर, दलित पिछड़े और आदिवासी वर्गों में व्यापक चेतना तथा जागरूकता पैदा की जाए जिससे वे अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सरकारों को बाध्य कर सकें। याद कीजिए 1789 में पेरिस में हुई पहली राज्य क्रांति, जहां लोग राजा से रोटी मांगने के लिए 18 किलोमीटर दूर वर्साय तक पहुंच गये थे। अमेरिका में अश्वेतों के लिए ऐतिहासिक मार्च कर मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने 1963 में सफलता अर्जित की तो भारत में गांधी जी ने जनादेश यात्राओं के दम पर अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर मजबूर कर दिया। इस परंपरा को समय-समय पर आजमाया गया। हाल ही में 2 अक्टूबर 2007 को ग्वालियर से चलकर 18 राज्यों के लगभग 27000 भूमिहीन किसानों ने जब दिल्ली में बैठे हुक्मरानों को अपनी आवाज सुनाने के लिए तीन हफ्ते तक 400 कि॰ मी॰ लंबा अहिंसक मार्च करते हुए 28 अक्टूबर को दिल्ली के रामलीला ग्राउण्ड पर प्रवेश किया, तो ऐसा लगा जैसे ये अपने ही देश में बेगाने हैं। जमीन, जल और जंगल पर अपने अधिकारों की मांग कर रहे इन वंचितों के पास अपने दमन की अद्‌भुत दास्तान है। वस्तुतः सामंतवादी समाज और पूंजीवादी व्यवस्था के लोकतांत्रिक मूल्यों से टकराव का दुष्परिणाम छोटे किसानों, मजदूरों, अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों को ही प्रायः भुगतना पड़ा है। यह इस बात का भी परिचायक है कि 9 प्रतिशत से ज्यादा की आर्थिक विकास दर और सेंसेक्स की ऊंचाइयों के साथ विश्व की आर्थिक महाशक्ति बनने का सपना देखने से पहले सामंतवादी मूल्यों में जकड़े समाज की मुक्ति का मार्ग भी ढूंढना होगा। स्वयं रिजर्व बैंक के गर्वनर वाई॰ वी॰ रेड्‌डी ने चेतावनी दी है कि 9 प्रतिशत सालाना की विकास दर भारत के खेतिहर और गैर-खेतिहर परिवारों के बीच मौजूद विषमता को और बढ़ा देगी।

आज जरूरत है कि राष्ट्र की वास्तविक समस्याओं को उनके मूल परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। ग्रामीण व शहरी वर्ग के अंतर को कम किया जाए। ग्रामीणों की कीमत पर शहरी क्षेत्र का विकास और गरीबों की कीमत पर अमीरी का जश्न तमाम आर्थिक विकास के बावजूद राष्ट्र को रसातल में ही ले जायेगा। कभी हिन्दू विकास दर कही जाने वाली 4 प्रतिशत की भारतीय अर्थव्यवस्था आज 9 प्रतिशत पर खड़ी है पर सरकार की गलत नीतियों के चलते द्वंद्व बढ़ता ही जा रहा है पर व्यवस्था के पहरुये आंख व कान बंद कर सोये पड़े हैं। आम लोगों का उनकी जरूरतों की तरफ से ध्यान हटाने के लिए वे सदैव नाना प्रकार के स्वांग रचते रहते हैं। कभी मंदिर-मस्जिद, कभी सांप्रदायिकता, जिससे मूल मुद्दे नेपथ्य में चले जाते हैं। जरूरत है कि सबके साथ समान व्यवहार किया जाये, सबको समान अवसर प्रदान किया जाये और जो वर्ग सदियों से दमित-शोषित रहा है उसे संविधान में प्रदत्त विशेष अवसर और अधिकार देकर आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया जाये, तभी इस देश में अमीरी-गरीबी की खाई कम होगी, इण्डिया बनाम भारत का द्वंद्व खत्म होगा, सामाजिक न्याय व सामाजिक लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त होगा और भारत एक समृद्ध राष्ट्र के रूप में विश्व के मानचित्र पर अपना अग्रणी स्थान बना सकेगा।

वी॰ आर॰ ए॰ विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

जल संरक्षण की नई चुनौतियां

डॉ. चन्द्र कान्त सिंह

पानी, पृथ्वी, हवा, आग, आकाश, ध्वनि तथा वनस्पति आदि पर्यावरण के मूल आधार हैं, क्योंकि ये हमें चारों तरफ से घेरे हुए हैं और इन्ही के बीच हमारा जीवन संभव हो पाता है। ये तत्व प्रकृति में हमेशा से एक संतुलित अवस्था में रहे हैं। मगर इन दिनों मनुष्य उपभोग और विकास के नाम पर इन तत्त्वों को लगातार अत्यधिक मात्रा में नष्ट करता जा रहा है। इससे उसका अनुपात असंतुलित हो गया है। आज का घातक जल संकट इसी असंतुलन का प्रतिफल है।

दुनिया के सभी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता उसने हजारों-लाखों वर्ष की विकास-यात्रा तय करके प्राप्त की है। परंतु इस यात्रा के पश्चात् वह जिस मुकाम पर पहुंचा है, वह डराने वाला है क्योंकि इस विकास-क्रम में उसने अपनी लिप्सा की पूर्ति के लिए अन्य प्राणियों समेत तमाम प्राकृतिक वस्तुओं को नष्ट किया है। उसने उद्योग आधारित विकास को विकास का एकमात्र ढांचा मान लिया है और भौतिक सुविधाओं को विकास का एकमात्र मापदंड। इसलिये इन सुविधाओं की प्राप्ति जिन चीजों से होती है, उनके उत्पादन के लिए जल संसाधनों को नष्ट किया जा रहा है तथा इसकी औद्योगिक प्रक्रिया में जल प्रदूषित हो रहा है। इसी के परिणामस्वरुप आज जल का ऐसा भयावह संकट खड़ा हो गया है, जिसके कारण मनुष्य सहित सारे प्राणी विनाश के कगार पर पहुंच गए है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की एक इकाई 'वर्ल्ड मेट्रोलॉजिकल आर्गनाइजेशन' ने करीब एक हजार साल के आंकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद चेतावनी जारी की है कि गर्माती धरती जल संकट के खतरनाक अंजाम की ओर बढ़ रही है। आर्गनाइजेशन ने ग्रीष्मकाल के गर्मतर होते जाने के जो कारण ढूंढे हैं, उनमें सबसे बड़ा कारण वातावरण में कार्बन डाइ ऑक्साइड और दूसरी ग्रीनहाउस गैसों की दिनोदिन बढ़ती मात्रा का है। औद्योगिक क्रांति के बाद विश्व भर में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का उत्सर्जन बढ़ा है, क्योंकि औद्योगिक सभ्यता कोयला, पेट्रोलियम और नेचुरल गैस जैसे हाइड्रोकार्बन ईंधन पर निर्भर होती चली गई है। ग्लोबल तापमान की बढ़त की यही दर रही, तो 2080 तक तापमान में चार से सात डिग्री सेल्सियस की शर्तिया वृद्धि होनी निश्चित है। सन् 2001 में अंटार्कटिका में 1200 वर्ग मील का बर्फीला टापू देखते-देखते पिघल गया। अंटार्कटिका के जिस पूर्व तटीय इलाके से यह विशाल पिंड गायब हुआ है, वहां तापमान में काफी बढ़ोत्तरी दर्ज की गई है। इससे ग्रीनहाउस प्रभाव के कारण बढ़ते तापमान की एक बार फिर से पुष्टि हुई। यह सही है कि मौसम में बदलाव की बात दुनिया भर में मान ली गई है और कोई एक कारण इस बदलाव की वजह नही है। एयर कंडीशनरों, रेफिजरेटरों और फोम उद्योगों आदि से निकलने वाली क्लोरो-फ्लोरो कार्बन गैसों और वाहनों का धुंआ, औद्योगिक व रासायनिक गतिविधियां किसी न किसी रूप में वातावरण में गर्मी घोल रही है। इसके अलावा धरती की हरित पट्टी और गर्मी सोखने वाले हिमखंड व जल भंडार सिकुड़ते जा रहे हैं, जिससे मौसम ने बदलाव की राह पकड़ी है। पराबैंगनी किरणों से धरती को बचाने वाली ओजोन परत के छीजने और धरती के रेगिस्तानीकरण के लिए भी कमोबेश वही वजह जिम्मेदार हैं, जिनसे हमारे वायुमंडल में ठंडक की कमी और गर्मी की बढ़ोत्तरी हुई है। ये गतिविधियां जहां एक ओर पराबैंगनी किरणों से धरती को बचाने वाली ओजोन परत के छीजने का सबब बनी हुई हैं, वही दूसरी ओर धरती के रेगिस्तानीकरण की राह सुलभ कर रही है। ऋतुओं में आ रहा बदलाव और वर्षा की कमी से सूखते जलस्रोत के कारण पैदा हो रहा जल संकट इन्ही कारणें का परिणाम है।

वर्तमान समय में देश में अधिकांश लोग भूमिगत जल पर निर्भर हैं। केन्द्रीय भूजल प्राधिकरण की एक रिपोर्ट के अनुसार लगभग 60 लाख हैंडपंपों एवं अन्य साधनों से भूमिगत जल का दोहन पीने के पानी के रुप में तथा सिंचाई एवं औद्योगिक कार्यों में हो रहा है। अकेले देश के ग्रामीण इलाकों में सिंचाई हेतु 50 प्रतिशत तथा पेयजल के लिए 80 प्रतिशत जल 35 लाख हैंडपंपो एवं अन्य साधनों से निकाला जा रहा है। इस अमूल्य प्राकृतिक संपदा के अवैज्ञानिक एवं अंधाधुंध दोहन से देश के 616 जिलों में से 226 जिलों में पानी का स्तर लगातार घटता जा रहा है। इनमें से करीब 70 जिलों में भूमिगत जल स्तर साढ़े चार मीटर से भी नीचे गिर चुका है तथा यह गिरावट लगभग 22 सेंटीमीटर प्रतिवर्ष की दर से निरंतर जारी है। देश में केवल उन्हीं स्थानों पर भूमिगत जल स्तर में कमी नहीं आती है, जो बड़ी नदियों के आसपास के इलाके, बाढ़ आने वाले स्थानों, कुओं तथा तालाबों के नजदीक स्थित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की पर्यावरण संबंधी रिपोर्ट में भी स्पष्ट कहा गया है कि पूरे विश्व में तीव्र भूमिगत जल दोहन से शहरों के आसपास के इलाके निम्नतम भूमिगत जल स्तर तक पहुंच गए हैं। किसी भी क्षेत्र में

भूमिगत जल के 60 प्रतिशत से अधिक दोहन को खतरे का संकेत माना जाता है। कोलकाता में तो बोरिंग से निरंतर जल निकासी के कारण जलस्तर 40 मीटर तक नीचे पहुंच चुका है। पंजाब में लगभग 60 प्रतिशत तथा हरियाणा में 40 प्रतिशत भाग अति भूमिगत दोहन के कारण खतरे के बिंदु से भी नीचे पहुंच चुका है। गुजरात व राजस्थान के जिन इलाकों में 150 से 200 फुट नीचे पानी मिल जाता था, वहां अब किसानों को पानी के लिए 800 से 1200 फुट तक बोरिंग करनी पड़ती है। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार उत्तर प्रदेश के लखनऊ तथा कानपुर के मध्य 80 किमी की एक ऐसी पट्‌टी देखी जा रही है जिसमें अवैज्ञानिक भूमिगत जल दोहन के कारण प्रतिवर्ष जलस्तर में 2-3 फीट गिरावट आ रही है, जिसके परिणामस्वरुप भूमि के भीतर एक खोह-सा बनता जा रहा है, जिससे अनेक स्थानों पर भूमि व मकानों के धंसने की आशंका व्यक्त की जा रही है।

देश में निरंतर घट रहे भूजल भंडारों की क्षतिपूर्ति बरसात के जल से भी हो सकती है लेकिन विडंबना यह रही है कि बरसात के जल का हम भली प्रकार सदुपयोग नहीं कर पाते। हमारे यहां प्रतिवर्ष होनेवाली औसतन 1,200 मिलीमीटर वर्षा अमरीका की औसत वर्षा से भी लगभग छह गुना अधिक है। इससे बरसात के दिनों में हमारी लगभग सभी नदियां पानी से लबालब भरी रहती हैं। अनेक स्थानों पर तो भीषण बाढ़ का आतंक छा जाता है। वर्षा और हिमपात मिलाकर वर्षभर पानी की कुल मात्रा लगभग 40 करोड़ हेक्टेयर मीटर हो जाती है। यह विपुल जलराशि हम पर प्रकृति की कृपा का संकेत है। मगर इसका समुचित संरक्षण न करना हमारी अपनी कमजोरी है। 40 करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी में से लगभग सात करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी वाष्प बनकर उड़ जाता है, साढ़े ग्यारह करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी नदियों में बह जाता है और लगभग साढ़े बारह करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी धरती सोख लेती है। जिस पानी को धरती सोख लेती है वह हमारे पेड़-पौधों की प्यास बुझाता है, मिट्‌टी को नमी प्रदान करता है और कुएं आदि में भूजल स्तर को बढ़ाता है। नदियों में बहने वाले पानी का कुछ भाग सिंचाई और उद्योग-धंधे में या पेयजल के रुप में काम में आता है और शेष समुद्र के खारे पानी में मिलकर व्यर्थ हो जाता है। वर्षा तथा हिमपात से प्राप्त इस कुल पानी में से हमारे उपयोग में केवल 3.80 करोड़ हेक्टेयर मीटर अर्थात सिर्फ साढ़े नौ प्रतिशत ही आता है। धरती पर गिरने वाला काफी पानी यहां के गंदे पानी में मिलकर प्रदूषित भी हो जाता है जो धरती के अंदर जाकर या नदियों के साथ बहकर प्रदूषण में वृद्धि करता है। यह चिंताजनक स्थिति है कि स्वतंत्रता के 61 वर्षों के बाद भी हमारे देश में लगभग 10 फीसदी क्षेत्र पूरी तरह सूखा है और 45 प्रतिशत भाग अर्द्धशुष्क है। देश में कुल फसली क्षेत्र 1750 लाख हेक्टेयर है जिसकी सिंचाई के लिए 270 घन किलोमीटर पानी की आवश्यकता होती है। पानी की कम उपलब्धता के कारण केवल 1450 लाख हेक्टेयर भूमि में फसल बोई जाती है। एक अनुमान के अनुसार हमें वर्ष 2025 तक 775 घन किलोमीटर पानी की आवश्यकता होगी जिसमें उद्योगों के लिए 125 घन किलोमीटर और उर्जा उत्पादन के लिए 72 घन किलोमीटर पानी शामिल है। सन् 2001 में हमारी जनसंख्या 102.87 करोड़ थी जो अब 116 करोड़ की सीमा को पार कर चुकी है और अब इसके वर्ष 2025 में 153 करोड़ तक पहुंचने की संभावनाएं व्यक्त की गई है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता की अन्य वस्तुओं के साथ ही पानी की मांग में भी वृद्धि सहज स्वाभाविक है। मगर आपूर्ति की दृष्टि से स्थिति निराशाजनक है। देश के अधिकांश क्षेत्रों में भूजल स्तर अत्याधिक दोहन के कारण निरंतर गिरता जा रहा है। मध्यप्रदेश के बुंदेलखण्ड जिले, गुजरात के मेहसाना जिले, तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले और सौराष्ट्र में भूमिगत जल की स्थिति पहले से ही शोचनीय है। राजस्थान का भूजल का स्तर पिछले 10 वर्षों में 7 से 12 मीटर तक नीचे गया है।

भारत में प्रतिव्यक्ति जल की उपलब्धता के अनुमान

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़ में)	प्रति व्यक्ति पानी की उपलब्धता (घनमीटर में)
1901	23.8	8192
1947	33.4	5694
1951	36.1	5177
1991	84.3	2308
2001	102.7	1869
2010	115.6	1704
2025	133.3	1465
2050	158.1	1235

स्रोत-योजना : जून, 2006

भारत में पाए जाने वाले संपूर्ण जल संसाधनों पर दृष्टिपात करें तो विदित होता है कि यहां की नदी प्रणाली में 2000 घन

किमी. जल होने का अनुमान है। इसमें से लगभग 750 घन किमी. जल प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देश में भूमिगत जल का भी समुचित मात्रा में भंडार उपलब्ध है। भूमिगत जल के रुप में हमारे यहां 450 घन किमी, अर्थात 450 लाख हेक्टेयर मीटर जल प्रतिवर्ष होने का अनुमान लगाया गया है। इसमें से वर्तमान में 75 लाख हेक्टेयर मीटर पानी का उपयोग प्रतिवर्ष घरेलू एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए किया जाता है। देश में सिंचाई के लिए प्रतिवर्ष लगभग 375 लाख हेक्टेयर जल उपलब्ध है। वर्तमान में यहां प्रतिव्यक्ति जल की उपलब्धता मात्र 1800 घन मीटर है जबकि 1951 में यह 5200 घन मीटर थी। अर्थात गत 61 वर्षों में यह घटकर लगभग एक तिहाई रह गई है।

भूमिगत जल की स्थिति के अतिरिक्त यदि देश में वर्षा से प्राप्त होने वाले जल की स्थिति का अवलोकन करें, जो भूमिगत जल के उन्नयन का स्रोत है तो पता चलता है कि वर्षा से हमारे देश में लगभग 40 करोड़ हेक्टेयर मीटर जल प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। अर्थात यदि वर्षा से प्राप्त होनेवाला ही कुल जल रोक लिया जाए तो 40 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर एक मीटर जल खड़ा हो जाएगा। खरबों रुपये खर्च करने के बाद अनेक बड़ी और छोटी योजनाएं बनाकर हम अब तक केवल 4 करोड़ हेक्टेयर मीटर जल का उपयोग कर सके हैं। वर्षा से प्राप्त शेष जल बाढ़ की स्थिति पैदा करता हुआ, गांव के गांव जलमग्न करता हुआ, भयंकर विनाशलीला करता हुआ न केवल समुद्र में पहुंच कर खारा हो जाता है बल्कि कृषि भूमि की उपजाऊ परत को बहाकर समुद्र में उड़ेल देता है। सतही जल के रुप में अभी भी देश में लाखों एकड़ में कई प्राकृतिक जलाशय, झीलें और लाखों किलोमीटर लम्बे नाले मौजूद हैं। इन सभी संसाधनों का यदि वैज्ञानिक ढंग से उपयोग किया जाए तो काफी हद तक जल की समस्या पर काबू पाया जा सकता है और भूमिगत जल के दिनोदिन नीचे जा रहे स्तर को भी उपर उठाया जा सकता है। विशेषज्ञों का मानना है कि जिस तरह से जनसंख्या बढ़ रही है और उसके लिए जिस मात्रा में दोहन किया जा रहा है उससे देश में वर्ष 2050 तक पानी का औसतन खर्च लगभग 1200 अरब घन मीटर पहुंच जाएगा जबकि जल भंडारण क्षमता 1200 बिलियन घन मीटर ही होगी। हाल ही में सरकार द्वारा कराए गए सर्वेक्षण के आधार पर प्रतिव्यक्ति कम से कम 500 घन मीटर वार्षिक पानी की आवश्यकता है। अर्थात इसमें कमी होने पर हमारी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो सकती। हालांकि स्वास्थ्य, आर्थिक एवं पर्यावरण के दृष्टिकोण से कम से कम 1000 घन मीटर पानी प्रतिव्यक्ति वार्षिक तौर पर उपलब्ध होना चाहिए। सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार अगर अभी से जल संरक्षण पर ध्यान नहीं दिया गया तो आने वाले दशकों में भारत का 33 प्रतिशत हिस्सा जलविहीन हो जाएगा और साढ़े 17 प्रतिशत जनसंख्या इससे बुरी तरह प्रभावित होगी।

अंतराष्ट्रीय स्तर पर किए गए एक ताजा सर्वेक्षण के अनुसार विश्व में इस समय लगभग 80 प्रतिशत बीमारियां शुद्ध जल की कमी के कारण उत्पन्न हो रही हैं। पिछड़े और विकासशील देशों में तपेदिक, डायरिया, पेट और सांस की बीमारियां तथा कैंसर सहित अनेक रोगों की जड़ शुद्ध पेयजल का अभाव है। इसी कारण करोड़ों लोग चर्म और आंख के रोगों से ग्रस्त हैं।

वाशिंगटन स्थित वर्ल्ड वॉच संस्थान की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 60 प्रतिशत लोगों को पीने का स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं है। इसमें सबसे गंभीर खतरा उनलोगों को है जो भूमिगत जल का सीधे प्रयोग कर रहे हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत के 18 राज्यों के 220 जनपदों के भूजल स्रोतों का पानी पीने लायक नहीं रहा है। प्रदूषण के कहर ने नदियों के बाद समुद्र और अब भूमिगत जल को निशाना बनाया है। जमीन के अंदर रिसने वाला जल अब पाताल की तरफ "लोराइड, नाइट्रेट, कैंडनियम, आर्सेनिक, कॉपर, जिंक, क्रोमियम, सेलोनियम, पारा, लौह, मैगनीज, सीसा एवं अन्य विषैले तत्वों को ले जा रहा है। इन घातक प्रदूषणों से प्रभावित इलाके अब स्पष्ट रुप से अपना कुप्रभाव दिखाने लग गए हैं। अस्थि संबंधी विकृतियां फैलाने वाला "लोराइड भारत के लगभग 9000 गांवो को अपनी चपेट में ले चुका है।

जनसंख्या के बढ़ते दबाव और आधुनिक वैज्ञानिक युग के लोगों के जीवन स्तर में हो रहे सुधार के फलस्वरुप जल की खपत वैसे तो संसार के लगभग सभी देशों में तेजी से बढ़ रही है लेकिन हमारे यहां जनसंख्या के बढ़ते दबाव और जीवन की बढ़ती गुणवत्ता के कारण यह समस्या अधिक विकराल हो रही है। साथ ही साथ बढ़ते औद्योगीकरण और पर्यावरण प्रदूषण से उपलब्ध जल का बहुत बड़ा भाग उपयोग योग्य नहीं रह जाने के कारण सतही जल की तुलना में भूमिगत जल पर निर्भरता अधिक बढ़ी है। पृथ्वी के अन्दर जलस्तर में निरंतर हो रही गिरावट ने भूमिगत जल स्रोतों को भविष्य के लिए सुरक्षित रखने हेतु सोचने के लिए मजबूर किया है। इससे पहले कि भविष्य में जल संकट मानव जाति के लिये एक विशाल समस्या बने, एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर इसके लिए दूरगामी योजना बनाना और उसका क्रियान्वयन अपरिहार्य होगा। जल संसाधन के संदर्भ में हमारा देश संसार के गिने-चुने संपन्न देशों में आता है भले ही हम उपलब्ध जल का अनुकूलतम उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। देश में भूमिगत जल के भंडार भी उपलब्ध है लेकिन इसकी गहराई निरंतर बढ़ती जा रही है। भूमिगत जल के अतिरिक्त सतही जल भी देश में काफी मात्रा में उपलब्ध हैं लेकिन इसका वास्तविक उपयोग बहुत कम है। साथ ही सतही जल का 75 प्रतिशत भाग तो बुरी तरह प्रदूषित हो चुका है।

वास्तव में यह एक विचित्र विडंबना है कि जिस ग्रह का 70 प्रतिशत हिस्सा पानी से घिरा है, वहां स्वच्छ जल की उपलब्धता एक बड़ा प्रश्न है। भारत जैसे विकासशील और घनी आबादी वाले देश के लिए यह और भी कठिन चुनौती है कि

बढ़ती जनसंख्या और घटते जल संसाधनों के चलते वह कैसे सभी देशवासियों को गुणवत्तायुक्त पीने का पानी उपलब्ध करा पाएगा। जल का संकट इतना नहीं कि सतत दोहन के कारण भूजल स्तर लगातार गिर रहा है बल्कि उसमें शामिल होता घातक रासायनिक प्रदूषण, फिजूलखर्ची की आदत जैसे अनेक कारक सभी लोगों तक उसकी आसान पहुंच में बाधाएं खड़ी कर रहे हैं। यही कारण है कि पिछले कई वर्षों से भविष्य में पानी को लेकर होने वाली संभावित लड़ाइयों का खाका खींचा जा रहा है और कहा जा रहा है कि यदि कभी तीसरा विश्व युद्ध हुआ तो वह पानी के लिये ही लड़ा जाएगा। विडंबना इस बात की भी है कि नदी घाटी सभ्याताओं से विकसित हुए देश में जहां गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी और गोदावरी जैसी नदियों में अथाह जल प्रवाहित होता है, वहां के राज्य पानी का घोर संकट झेलते हैं। कारण सिर्फ इतना है कि उपलब्ध जल के उचित वितरण की कोई व्यवस्था देश में नहीं हो पाई है। न तो ऐसे बांध बहुतायत में बनाए गए हैं जो इन नदियों के प्रचुर जल को व्यर्थ समुद्र में बह जाने से रोकें और वर्षा के दिनों में मिलने वाले पानी का संचय कर सकें।

वर्तमान परिस्थितियों के मद्देनजर आज ऐसी प्रौद्योगिकी की जरुरत है जिससे कृषि क्षेत्र में मौजूदा पानी का 15 से 55 प्रतिशत औद्योगिक क्षेत्र में और शहरी क्षेत्र में लोगों की आदतों में सुधार के जरिये 30 से 35 प्रतिशत बचाया जा सके। यह भी प्रमाणित तथ्य है कि पंजाब जैसे राज्य में जहां किसानों को बिजली और डीजल आदि पर सब्सिडी हासिल है, भूजल का तीव्र दोहन जारी है जो जल संकट की समस्या को और गहन कर रहा है। हमें ध्यान में रखना होगा कि पानी एक सामुदायिक धरोहर है, इसलिये उसके समुचित व विकेंद्रीकरण वितरण की व्यवस्था एवं संरक्षण राष्ट्रीय जल नीति में शामिल किया जाना अपेक्षित है, अन्यथा देशवासियों को संभावित जल संकट की समस्या से उबारना असंभव होगा।

जाहिर है पानी किसी भी राष्ट्र की बहुमूल्य प्राकृतिक संपदा है। भारत में विश्व का 2.45 प्रतिशत भूभाग एवं 4.5 प्रतिशत मूल्यवान पानी है। इस पानी का उचित प्रबंधन एवं समुचित उपयोग करना होगा। इसके लिए सबसे सरल और किफायती तरीका बाढ़ एवं वर्षाजल का संरक्षण है। कोलंबो स्थित अंतराष्ट्रीय जल प्रबंधन संस्थान के अनुसार यदि भारत पानी के उपयोग की अपना कार्यक्षमता को 2025 तक विश्व स्तर (70 प्रतिशत) का भी कर ले, तो पानी की मांग में 17 प्रतिशत की पूर्ति की जा सकती है, जबकि वर्तमान में हमारी कार्यकुशलता 30 से 40 प्रतिशत है। अत: वर्षा की बूंद-बूंद को बचाना होगा। वर्षा जल संरक्षण के लिए पुराने तालाबों, बावड़ियों, कुंओं, जोहड़, ताल, तलैया, पोखर, झील, खंडी, रजवाहों एवं कृत्रिम जलाशयों को फिर से उपयोग में लाना पड़ेगा। हमारे देश में स्वतंत्रता के समय लगभग 5 लाख तालाब थे, जिनमें 36 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होती थी, ये तालाब बाढ़ से बचाव, भूजल स्तर में वृद्धि एवं जल संकट को काफी हद तक कम कर देते थे, मगर आज इनमें से अधिकतर अवैद्य कब्जे, खेल के मैदान या नगरों, कस्बों एवं शहरों ने निगल लिये हैं। अत: जल संकट से कारगर रूप में तभी निपटा जा सकता है जब हम अपने प्रचलित परंपरागत वर्षा जल संग्रह की विधियों को अपनाएंगे। सिंचाई के लिए अन्य जल प्रबंधन विधियों में स्प्रिंकिल इरीगेशन, ड्रिप इरीगेशन, घड़ा सिंचाई आदि को आम प्रचलन में लाएंगे।

संदर्भ:-

1. डॉ. सरोज कुमार वर्मा, जुलाई 2008, योजना, ''पर्यावरण और उपभोग के अंतर्विरोध'', पृष्ठ 61
2. उमेश चंद्र अग्रवाल, जून 2006, योजना, ''जल प्रबंध : चुनौतियां और समाधान'', पृष्ठ 13-20
3. एस.के. अरोड़ा, संजय ध्यानी, जून 2006, योजना, ''इक्कसवीं सदी की चुनौती स्वच्छ पेयजल'', पृष्ठ 21-23
4. संतोष सारंग, जुलाई-सितम्बर 2008, मानवाधिकार हम सबका, ''जल के लिए तरसेंगे लोग'', पृष्ठ 3
5. दिनेश मिश्र, 4 सितम्बर 2008, दैनिक हिन्दुस्तान, पटना, ''दोष नदी का नहीं निजाम का''
6. डॉ. चन्द्र कान्त सिंह, जुलाई-दिसम्बर 2008, बिहार का आर्थिक परिदृश्य, ''कोसी का कहर : महाविनाश का सच'', पृष्ठ 50-52
7. आर्येन्दु अखिलेश, जून 2005, कुरुक्षेत्र, दिल्ली, ''ग्रामीण क्षेत्रों में पेयजल की स्थिति-सरकारी प्रयास'' पृष्ठ 52
8. दुग्गल वी.के., जून 2005, योजना, स्वच्छ पेयजल और स्वच्छता, पृष्ठ 49
9. डा. भावना, जून 2009, दृष्टिकोण, दिल्ली, ''पर्यावरण और प्रदूषण : जल प्रदूषण के विशेष संदर्भ में'', पृष्ठ 131-135
10. डॉ. विन्देव झा, 2008, ''पर्यावरण विमर्श'', मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 161
11. डॉ. ब्रजेश कुमार, पवन कुमार, जनवरी-जून 2008, बिहार का आर्थिक परिदृश्य, ''भारत का जल संसाधन एवं राष्ट्रीय जल नीति : दशा एवं दिशा'', पृष्ठ 67-69
12. डॉ. अरविन्द कुमार, अक्टूबर 2008, थर्ड कनसेप्ट, दिल्ली, ''वाटर कनफ्लिक्ट एण्ड कॉपरेशन इन सेन्ट्रल एशिया'', पृष्ठ 7-10
13. डॉ. अरविन्द कुमार, मई 2008, थर्ड कनसेप्ट, दिल्ली, ''वर्ल्ड पीस एण्ड वाटर डिसप्यूटस'' पृष्ठ 7-10
14. डेविड स्मिथ, पोस्ट सोवियत ज्योगरफी, 36(9) 1995, ''एन्वायरन्मेंटल सिक्युरिटी एण्ड शेयर वाटर रिर्सोसेस इन पोस्ट सोवियत सेन्ट्रल एशिया'' पृष्ठ 565-586

अर्थशास्त्र विभाग, नीतीश्वर सिंह महाविद्यालय
सरमस्तफर, जिला-मुजफ्फरपुर (बिहार)

दिनकर के काव्य में रस-निरुपण

डॉ. अशोक कुमार सिन्हा

भारतीय काव्य शास्त्र में रस को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। 'अग्निपुराण' में रस को काव्य का प्राण-तत्त्व कहा गया है–'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम'। 'राजशेखर' शब्द के अर्थ को काव्य का शरीर और रस को उसकी आत्मा कहते हैं–'शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मां। आचार्य भामह की मान्यता है कि 'जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गवद्धता, शब्द एवं अर्थसौष्ठव, पंचसंधियों का गठन तथा अलंकारों का सुंदर प्रयोग आवश्यक है, उसी प्रकार सकल रसों का समावेश भी अनिवार्य है–'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। 'आचार्य वामन' गुणवादी हैं, किंतु समस्त गुणों के पूल में दीप्ति तत्व के रूप में रस को स्वीकार करते हैं–'दीप्तिरसत्वेन' कांति। 'भोजराज, अलंकार एवं वक्रोति के साथ-साथ रस की भी महत्ता बतलाते हैं–

वक्रोक्तिश्तच रसोक्तिश्तश्च स्वभावोक्तिश्व वाऽमयः।

सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानीते ।।''

'आचार्य विश्वनाथ' अपने काव्य-लक्षण में रस का उल्लेख करते हैं। वे काव्य की परिभाषा रस से जोड़ देते हैं–'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास गुलाब राय, पंडित राम दहिन मिश्र, डॉ॰ नगेन्द्र आदि रस का विस्तार से विचार कर इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

संस्कृत साहित्य में छठी-सातवीं सदी तक आठ रसों की चर्चा मिलती है–

''शृंगार हास्यकरूण रौद्र वीर भयानकाः।

वीभत्साद् भुतसंज्ञौ चेत्येटौनाट्ये रसाः स्मृता ।।''

बाद में, शांत रस को नवम् एवं वात्सल्य को दसवें रस के रूप में मान्यता दी गयी। आज यही रस मान्य हैं–

1. शृंगार
2. हास्य
3. करुण
4. रोद्र
5. वीर
6. भयानक
7. वीभत्स
8. अद्‌भुत
9. शांति और
10. वात्सल्य।

दिनकर के काव्य में इन सभी रसों का निरुपण अत्यंत मर्मस्पर्शी ढंग से हुआ है–

1. शृंगार रस–भारतीय काव्य शास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है। 'भारत मुनि' के अनुसार 'संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्जवल और दर्शनीय है, उसकी शृंगार रस से उपमा दी जाती है–'वृतिः यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीचते'। आनन्दवर्धन भी शृंगार रस को सर्वाधिक मधुर और आनन्दकारक रस मानते हैं।

शृंगार रस की दृष्टि से 'दिनकर की 'उर्वशी' सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है। यह प्रेम काव्य है, और इसमें शृंगार के दोनों पक्षों 'संयोग एवं वियोग' का सुंदर चित्रण मिलता है–

(क) संयोग शृंगार रस–संयोग (मिलन)शृंगार की सुंदर झांकी 'उर्वशी' के प्रथम अंक में ही दिखलायी पड़ती है। प्रथम अंक में स्वर्ग की अप्सराएं अपनी मनमोहिनी छवि के साथ धरती पर उतरती हुई दिखलायी देती है। कवि की दृष्टि में ये प्रेम की जीवित प्रतिमा हैं, और मादक नयनों से देवताओं की क्लान्ति को हरने वाली है।

उर्वशी को देखकर महाराज पुरखा अधीर हो उठते हैं। वे उर्वशी को अपनी बाहों में भर लेते हैं और गोदी में उठा लेते हैं–

'महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,

बांहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठाकर।

पुरुरवा, उर्वशी के साथ मिलन-सुख की रंगीनी में आजीवन रहना चाहते हैं–

'प्राणेश्वरी! मिलन-सुख को, नित होकर संग वरें हम,

मधुमय हरियाले निकुंज में आजीवन विचरें हम।'

उर्वशी, द्वितीय अंग पृष्ठ-22

काव्य शास्त्र में 'नख-शिख वर्णन' संयोग शृंगार के अंतर्गत आता है। 'नख-शिख वर्णन' में नख से लेकर शिख (चोटी) तक का वर्णन किया जाता है। इसकी दो प्रणालियां हैं। पहले में नख से लेकर शिख तक का वर्णन रहता है और दूसरे में शिख से नख तक। 'उर्वशी' में दूसरी प्रणाली (शिख से नख तक) को अपनाया गया है। 'दिनकर' उर्वशी के रूप-सौंदर्य का वर्णन नेत्र से आरंभ करते हैं–

'ये लोचन, जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं

ये कपोल, जिनकी द्युति में तैरती किरण उषा की ।

'नीलकुसुम' के नर्त्तकी शीर्षक कविता में कवि नर्त्तकी का चित्र खींचते हुए कहता है कि उससे रूप का रस पीने के लिए सभी व्याकुल रहते हैं–

'हमारी वारूणी में स्नान करने को बहुत व्याकुल

बहुत व्याकुल हमारी उवैशी का रूप पीने को। '

नीलकुसुम, नर्त्तकी, पृष्ठ–29

वियोग शृंगार–वियोग (विरह) को प्रेम की जाग्रत गति कहा गया है। साहित्यकारों के अनुसार जिस प्रकार स्वर्ण की परीक्षा अग्नि में होती है, उसी प्रकार सच्चे प्रेमी-प्रेमिका की परीक्षा विरह में होती है।

'उर्वशी' में सहजन्या, रंभा से कहती है कि जिस उर्वशी की पायल की झंकार से स्वर्ग की तन्द्रा समाप्त हो जाती थी, योगियों की साधना भंग हो जाती थी, आज विरहावस्था में उसी उर्वशी ने नृत्य करना छोड़ दिया है और स्वर्ग नीरस हो गया है–

'सुनकर जिनकी झमक स्वर्ग की तन्द्रा फट जाती थी,

योगी की साधना, सिद्ध की नींद उचट जाती थी,

वे नूपुर भी मौन पड़े हैं, निरानन्द सुरपुर है ।

उर्वशी, प्रथमा अंक, पृष्ठ-9

राजा पुरवा की विरह व्यथा का वर्णन चित्रलेखा, मेनका से करती है। वह कहती है कि राजा पुरवा, उर्वशी के लिए अत्यंत व्यथित हैं। उन्हें विश्वास है कि एक दिन उनके विरह का अंत होगा–

'निश्चय, विरहाकुल पुकार से कभी स्वर्ग डोलेगा;

और नीलिमा-कुंज हमारा मिलन-मार्ग खोलेगा ।'

उर्वशी प्रथम अंक पृष्ठ-17

2. हास्य रस–दिनकर के काव्य में हास्य रस अपेक्षाकृत कम है।

हास्य की दृष्टि से -'नीलकुसुम' का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

'सच तो है, रोटियां नहीं तो क्या वे कविता खायेंगे ?

थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबाएंगे ?

'नीलकुसुम' (हिमालय का संदेश) पृष्ठ-95

3. करूण रस–दिनकर की रचनाओं में करुण रस भी है। इसका स्थायी भाव 'शोक' है। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध समाप्ति के बाद युधिष्ठिर शोकग्रस्त है। वे सोचते हैं–

कौरवों का श्राद्ध करने के लिए,

या कि रोने को चिता के सामने,

शेष जब था रह गया कोई नहीं,

एक वृद्धा, एक अन्धे के सिवा,

कुरुक्षेत्र, प्रथम सग, पृष्ठ-11

दिनकर कृत 'रश्मिरथी' षष्ठ सर्ग में भीष्म पितामह के युद्ध-भूमि में गिर जाने के बाद कौरवों में शोक छा जाता है। अर्जुन का मन भी रो उठता है–

'कुरुपति ही धैर्य न खोता था,

अर्जुन का मन भी रोता था।'

रश्मिरथी, षष्ठ सर्ग, पृष्ठ-83

भारतीय नारी की करुण स्थिति का चित्रण करते हुए दिनकर लिखते हैं–

नारी सर्वसहा पृथ्वी है,

नारी वह जाति है,

जो अत्याचारों से पीड़ित रही है।

हारे को हरिनाम, नारी

4. रौद्र रस–रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। दिनकर कृत 'रश्मिरथी' में परशुराम का रौद्र रूप देखते ही बनता है–

'दॉत पीस' आंखें तरेरकर बोले-कौन छली है तू ?

तू अवश्य क्षत्रिय है, पापी! बता न तो, फल पायेगा,

परशुराम के कठिन शाप से, अभी भस्म हो जायेगा।

'उर्वशी' के पंचम अंक में पुरखा की अंकित में रौद्र रस है–

'बजे युद्धका पटह, सिद्ध हो द्रुत योजना समर की।

यह अपमान असह्य, इसे सहने से श्रेष्ठ मरण है।।'

5. वीर रस–हिन्दी साहित्य में दिनकर वीर रस के कवि मानते जाते हैं। इनकी रचना कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', हुंकार, परशुराम की प्रतीक्षा' आदि में वीर रस की छटा देखते ही बनती है। यहां तक कि शृंगार प्रधान काव्य 'उर्वशी' में भी वीर रस विद्यमान है।

लाओ मेरा धनुष, यहीं से वाण साध अंबर में,

अभी देवताओं के वन में आग लगा देता हूं।

उर्वशी, पंचम अंक पृष्ठ–113

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह हैं। 'रश्मिरथी' के षष्ठ सर्ग में कर्ण अत्यंत उत्साहित हैं। वह युद्ध भूमि में अत्यंत उत्साहित होकर गर्जन करता है–

'राधेय समर की ओर, चला,

करता गर्जन घनघोर चला।

'रेणुका में कवि आजादी के समय कहता है–

'सारे भारत में गूंज उठे,

'हर-हर बम का फिर महोच्चार'

'रेणुका'–पृष्ठ-7

'हुंकार' में कवि सचमुच में हुंकार उठता है–

'हटो व्योम के मेघ, पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,

दूध, दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

हुंकार' हाहाकार'

'कुरुक्षेत्र' में वीर रस की प्रधानता है। इसमें भीष्म पितामह, निराश युधिष्ठिर को वीरतापूर्ण तथ्यों से प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं–

'सच पूछो तो शर में ही,

बसती है दीप्ति विनय की

संधि-वचन, सपूज्य उसी का

जिसमें शक्ति विजय की।'

6. भयानक रस–इसका स्थायी भाव भय है। 'उर्वशी के चतुर्थ अंक में सुकन्या, चित्रलेखा से महर्षि च्यवन के भयानक रूप का वर्णन करती है 'रश्मिरथी' में इसी तरह महर्षि परशुराम के क्रोधित होने पर कर्ण का शरीर भय से थर-थर कांपने लगता है–'रश्मिरथी' के तृतीय सर्ग में भगवान श्रीकृष्ण जब अपना विराट रूप धारण करते हैं तब भय का वातावरण उपस्थित हो जाता है–

'थी सभा सन्न, सब लोग डरे,

चुप थे या थे बेहोश पड़े।'

रश्मिरथी, तृतीय सर्ग, सर्ग, पृष्ठ-37

7. वीभत्स रस–वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। अन्य रसों की तरह यह बहुत उल्लेखनीय नहीं है। 'दिनकर के कुरुक्षेत्र' में युद्ध के मैदान में सियार, कुत्ते लाशों को नोच-नोच कर खा रहे हैं। शवों के सड़ने से दुर्गध फैल रही है। वहां मन जुगुत्सा से भर उठता है–

'वायस, गृद्ध,शृंगार, श्वान दल के दल वन-मार्जार

यम के अतिथि विचरते सुख से देख विपुल आहार।'

कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग, पृष्ठ-70

'सामधेनी' का एक दृश्य द्रष्टव्य है–

भीषण विभीषिका, मलेरिया विकट है,

बना हुआ उत्तरी बिहार मरघट है।

सामधेनी, पृष्ठ-21

8. अद्‌भुत रस–अद्‌भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। 'उर्वशी' के पंचम अंक में इसका विशद वर्णन मिलता है। राजा पुरवा रात्रि में स्वप्न देखते हैं और दरबार में उसका वर्णन करते हैं–

'कितनी अद्‌भुत कथा ! दृश्य वह मानस की छलना थी ?'

उर्वशी, पृष्ठ-104

9. शांत रस–शांत रस को नवम रस के रूप में स्वीकार किया गया है–शांतोऽपि नवमो रसः। 'दिनकर' गांधी जी को शांति का दूत कहते हैं–

'तू सहज शांति का दूत, मनुज
के सहज प्रेम का अधिकार।
बापू, पृष्ठ–07

पंचशील के सिद्धांतों में कवि की असीम आस्था है–

'निखिल विश्व के शांति यज्ञ में निर्भय हमीं लगेंगे,
आयेगा आकाश हाथ में, सारी रात जगेंगे।
नये सुभाषित, पृष्ठ–47

10. वात्सल्य रस–काव्य शास्त्र का दसवां वात्सल्य रस है–'अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोपि च'। दिनकर कृत 'उर्वशी' के चतुर्थ अंक में वात्सल्य रस का सुंदर चित्रण है। महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या, उर्वशी के नवजात पुत्र को गोद में लिए खड़ी है। उसी समय चित्रलेखा आ जाती है। सुकन्या, चित्रलेखा से कहती है–

'अच्छा, तू आ गयी चित्रलेखे ? निंदिया मुन्ने की,
अकस्मात् तेरी आहट पाकर यों उचट गयी है।
उर्वशी, पृष्ठ–81

जब कृपाचार्य कर्ण से जाति और गोत्र पूछते हैं तब कुंती का हृदय भर उठता है–

'उजड़ गये हों स्वप्न कि जैसे हार गयी हो दांव,
नहीं उठाये भी उठ पाते थे, कुंती के पांव।'
रश्मिरथी, पृष्ठ–19

'कुरुक्षेत्र में पाण्डवों के प्रति भीष्म पितामह का वात्सल्य भाव मिलता है–

'लो, अपना सर्वस्व पार्थ।
यह मुझको मार गिराओ,
अब है विरह असह्य, मुझे
तुम स्नेह धाम पहुंचाओ।'
कुरुक्षेत्र, पृष्ठ–58

संदर्भ ग्रंथ

1. काव्य दर्पण–राम दहिन मिश्र
2. काव्य के तत्व–आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा
3. अलंकार मीमांसा–मुरली मनोहर प्र॰ सिंह
4. भारतीय काव्य–चिंतन–डॉ॰ शोभाकान्त मिश्र
5. उर्वशी–दिनकर
6. कुरुक्षेत्र–दिनकर
7. रश्मिरथी–दिनकर
8. नीलकुसुम–दिनकर
9. रेणुका–दिनकर
10. हुंकार–दिनकर
11. सामधेनी–दिनकर
12. हारे को हरिनाम–दिनकर

माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता में राष्ट्रीय चेतना

श्याम शरण

माखनलाल चतुर्वेदी आधुनिक भारत का एक आलोकमय नाम है, जिसके उच्चारण मात्र से मध्यप्रदेश के एक ऐसे अनोखे सपूत की आकृति स्मृति-पटल पर उभरती है जो विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा का धनी था, और जिसने कर्म, वाणी और लेखनी की विपुल निधि को देश, समाज एवं मानवता पर आजीवन सतत् न्यौछावर किया। स्व॰ पं॰ माखनलाल चतुर्वेदी, जिन्हें पूरा हिन्दी-जगत और मध्यप्रदेश आदरपूर्ण स्नेह-भावना के साथ ''दादा'' कहकर पुकारता रहा, हिन्दी के मूर्धन्य कवि, अप्रतिम गद्यमार, प्रखर पत्रकार, ओजस्वी वक्ता, अग्रिम पंक्ति के स्वातंत्र्य्-समर-सेनानी तथा अडिग गांधीवादी थे। इन सारी भूमिकाओं का अद्‌भुत और सफल सामंजस्य दादा के व्यक्तित्वव कर्म में दिखाई पड़ता है।

माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म 4 अप्रैल, 1889 को मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में बाबई ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पंडित नंदलाल चतुर्वेदी, पितामह का नाम पंडित रामनारायण चतुर्वेदी और प्रपितामह का नाम पंडित डूंगर सिंह शास्त्री था। डूंगर सिंह शास्त्री जयपुर (राजस्थान) के रहने वाले थे। इनके पितामह पंडित रामनारायण चतुर्वेदी राजस्थान से आकर बाबई (हाशंगाबाद, मध्य प्रदेश) में बस गये थे। वंश परंपरा के अनुसार माखनलाल चतुर्वेदी जी की शिराओं में राजस्थानी रक्त प्रवाहित था। उनके काव्य में ओज, त्याग, बलिदान और देश प्रेम के लिए मर-मिटने के जो स्वर मुखरित हुए हैं, उनके पीछे राजस्थानी रक्त की महिमा और डिंगल के वीर-रसावतार, कवि पृथ्वीराज, सूर्यमल, दूरसा आढ़ा आदि की वीर वाणी का सुर सुना जा सकता है। इस परंपरा में उनका कवि और योद्धा रूप राजस्थानी है।

माखनलाल चतुर्वेदी का व्यक्तित्व राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत था। अध्यापन के क्रम में उनकी मुलाकात क्रांति दल के सदस्यों से हुई। विचारों का आदान-प्रदान हुआ और ये उससे गहरे रूप से जुड़ते चले गये। सन् 1905 में क्रांति दल के सदस्य असित गांगुली और फनीद्रं मजुमदार के विचारों से ये काफी प्रभावित हुए। सन् 1906 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में स्वयंसेवक के रूप में वे शामिल हुए। इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक भी पधारे थे। उस अधिवेशन में तिलक ने क्रांतिकारी भाषण दिया। माखनलाल पर तिलक जी की क्रांतिकारी विचारधारा का प्रभाव बहुत अधिक गहरा हो उठा। इस अधिवेशन में उनकी राष्ट्रीय चेतना प्रखर हुई। उन्होंने माना–''वह राष्ट्र नहीं है जिसकी रीढ़ की हड्डी नैतिकता से न बनी हो। जहां ऊंचा सिर नहीं हो सकता, वहां कोई सिर उतार कर क्यों रखेगा?

सिर देने की बात तो उसी राष्ट्र के मस्तक में आएगी जिसका ललाट बहुत उठा हुआ हो। किसी राष्ट्र का निर्माण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके पास ईमान और आदर्शों का बल, अभिमान करने योग्य वस्तुओं की उपस्थिति और बलिदान का निश्चय न हो। शहर, गांव और कस्बे किसी भी राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। राष्ट्र तो तब बनता है जब उसकी कोई राष्ट्रीयता हो अर्थात् सब लोगों के मिलने या मिल सकने की एक जगह हो। पूजा की विविधता, धर्म की अनेकता भले ही बन जाए, वह किसी राष्ट्र की संपनन्ता नहीं हो सकती ।''[1] 'लौटते समय काशी और प्रयाग होते हुए आए। काशी में दशाश्वमेध घाट पर गंगा के बीच खड़े होकर इन्होंने क्रांतिकारी नेता देवसकर से क्रांतिदल की दीक्षा ली और अपने रक्त से प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किऐ। क्रांतिकारियों का ईश्वर में विश्वास था और गीता के नियमित पाठ में आस्था। मृत्यु से न डरना और संकट में अपना अस्तित्व समाप्त करने को प्रस्तुत रहना, प्रलोभनों से दूर, यश प्राप्ति की बिल्कुल इच्छा न करते हुए देश-सेवा करना, सब कार्य मौन-गुप्त नीति से करना और दल की नीतियों को गोपनीय रखना आदि उपदेश प्राप्त कर माखनलाल घर लौट आए।'[2]

1907 में नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण की। खण्डवा में लोक जागृति के क्षेत्र में माखनलालजी ने सामाजिक नाटकों और रामलीला आदि में सक्रिय सहयोग दिया और जीविका के साधन के रूप में अध्यापन का कार्य किया। सामाजिक जीवन में कार्य करते समय उन पर सैशद मीर अली, स्वामी रामतीर्थ का साहित्य और पं॰ माधव सप्रे, माणिकचन्द्र जैन का बड़ा प्रभाव पड़ा।

'माखनलाल जी के प्रारंभिक जीवन को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों में पं॰ माधवराव जी सप्रे का महत्वपूर्ण स्थान है। सप्रे जी स्वतंत्रता-संग्राम के वीर सेनानी और राष्ट्रीय विचारधारा के निर्भीक पत्रकार थे। वे नागपुर से 'हिन्द केसरी' नामक पत्र निकालते थे। इसी 'हिन्द केसरी' द्वारा आयोजित निबंध प्रतियोगिता में माखनलाल चतुर्वेदी ने 'स्वदेशी आंदोलन और बायकाट' विषय पर अपना लेख प्रस्तुत कर प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था। उनकी लेखनी की शक्ति का अंदाजा लगाकर श्री सप्रे जी ने उन्हें बहुत अधिक प्रोत्साहित किया, इसीलिए माखनलाल जी उन्हें उनकी प्रेरणा के लिए अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।'[3] सप्रे जी ने इन्हें देश-भक्ति की ओर खींचा। लेखक के गुणों से आकर्षित हों उन्होंने बाद में उन्हें अपने पास बुला लिया था।

खंडवा में ही वकील माणिक चन्द्र जैन से उनकी मुलाकात हुई। माणिक चन्द्र जैन 1907 में 'अभ्युदय' में काम कर चुके थे। 1910 के अंत में माणिक चन्द्र जैन के प्रयत्नों से खंडवा में प्रकाशित मराठी 'सुबोध सिन्धु' का हिन्दी संस्करण के संपादन का कार्य माखनलाल जी बड़े शौक से करने लगे। माखनलाल जी ने 1912 में 'सुबोध सिंधु' में रामकथा के 'शक्तिपूजा' प्रसंग को प्रकाशित किया और देशवासियों की शक्ति की मौलिक उद्‌भावना करने की प्रेरणा दी। 'शक्तिपूजा लेख को पुलिस ने राजद्रोहात्मक ठहराया और उसके लेखक माखनलाल की पुलिस अधीक्षक के समक्ष पेशी हुई। लेख के जिन अंशों को 'सेडीशस' बताया गया था उनके गलत अंग्रेजी भाषान्तर को लेखक ने अपने पत्र के उद्धरण को झूठ साबित किया। उसमें लेख का यर्थात् आशय समझ लेने पर अंग्रेज अधीक्षक थानेदार पर बहुत नाराज हुआ और माखनलाल को यह कहकर विदा किया–तुम बहुत अच्छा आडमी है। तुम्हारा अकल बहोत अच्छा है।''[4]

माणिक चन्द्र जी के निकट रहकर माखनलाल जी ने दलगत जीवन का प्रारंभिक पाठ सीखना शुरू किया। 'दलीय राजनीति की ओर कदम बढ़ाने को प्रेरित करते हुए माणिक चन्द्र जैन ने पत्रकारिता की चाशनी की बूंद माखनलाल जी के जीह्वा पर रख दी। माखनलाल जी ने शिक्षक की नौकरी छोड़कर पत्रकारिता की दिशा में बढ़ने का निश्चय कर लिया।''[5]

माखनलाल जी की हिन्दी पत्रकारिता का प्रारंभ खण्डवा के मासिक पत्र 'प्रभा' से हुआ। खण्डवा के प्रख्यात वकील और साहित्य प्रेमी कालूराम गंगराड़े 'प्रभा' की योजना को जन्म दिया। माखनलाल जी उन दिनों शिक्षक थे किन्तु कालू राम जी के आग्रह से उन्होंने शिक्षक पद से त्याग पत्र दे दिया और 'प्रभा' के संपादन में शरीक हो गए। 'प्रभा' का पहला अंक 7 अप्रैल, 1913 को प्रकाशित हुआ। 'प्रभा' शुरू-शुरू में पूना के चित्रशाला प्रेस से छपकर आती थी।

'प्रभा' को प्रथम वर्ष से ही अच्छे लेखकों का सहयोग मिलने लगा। 'प्रभा' के लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी का शुभ कामना संदेश मिला। 'प्रभा' शीघ्र ही हिन्दी जगत में चर्चित हो गयी। एक वर्ष समाप्त होते-होते उसे माधवराव सप्रे, गणेश शंकर विद्यार्थी, कामता प्रसाद गुरु, महात्मा मुंशीराम और राय बहादुर पं॰ विष्णुदत्त शुक्ल जैसे लेखकों और विचारकों का सहयोग मिलने लगा। माधवराव जी ने निरंतर 'प्रभा' में 'त्रिमूर्ति' और माधवराव रामदासी के नाम से रचनाएं लिखीं।

माखनलाल चतुर्वेदी की जीवनी के लेखक श्री ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ ने उस समय की दो प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं 'सरस्वती' और 'प्रभा' पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखा है–'सरस्वती जैसी पत्रिका के संपादकीय यदि युगस्तरीय राष्ट्र भाषा की शालीनता के मुंह बोले सुगंधित पुष्प थे तो 'प्रभा' के संपादकीय मध्यप्रदेशीय राष्ट्र भाषा के उस क्षितिज के साक्षी थे, जो पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर सबको दिख पड़ा था।''[6]

डॉ॰ कैलाश नारद ने इन पत्रिकाओं की तुलना करते हुए लिखा है कि–'प्रभा जिस तरह प्रकाशित हुई, वह हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में अन्यतम है। 'सरस्वती' यदि साहित्य के प्रति गहन मनस्विता की प्रतीक थी तो निःसंदेह 'प्रभा' को अप्रतिहत् मुक्ति के लिए बैचेन वाणी की मुखर अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।''[7]

गणेश शंकर विद्याथी ने भी 'प्रभा' में श्रीयुत सत्येन्द्र और श्रीआदित्य के नाम से लेख लिखते थे और उनका विषय राष्ट्रीयता की समस्याएं हुआ करता था। माखनलाल चतुर्वेदी भी 'प्रताप' में तिलक की उग्रपंथी राजनीति के संदर्भ में निबंध लिख रहे थे और लेखक के रूप में उनके 'क्ष त्र ज्ञ' तथा श॰ श॰ श॰' जैसे नाम प्रताप में छपा करते थे। 'प्रभा' के संपादन काल में

एक बार माखनलाल जी ने चेतावनी नामक कविता श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के पास भेजी। विद्यार्थी जी कानपुर से 'प्रताप' का संपादन करते थे। संपादकीय दुनिया में वे बड़े ऊंचे दर्जे के राष्ट्रभक्त और प्रतिभा के पारखी के नाते विख्यात थे। उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी की चेतावनी को देख उनमें छिपी हुई चिनगारी को पहचाना और उसे अपने स्नेह, सहयोग और आग्रह की फूंक से, चेताने का स्तुत्य प्रयास किया।''[8]

इसी बीच सन् 1915 में बड़ी अल्पआयु में माखनलाल की पत्नी ग्यारसी बाई का स्वर्गवास हो गया। पत्रकारिता की बलिवेदी पर यह पहला प्रयास था। उनकी पत्नी ने अपने पति की महत्वाकांक्षाओं पर अपनी बलि दे दी। माखनलाल को बड़ा दुख हुआ तथा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने प्रभा में लिखा–''परम दुख है, जिस तरफ दृष्टि डालते हैं दुःख ही दुःख दीखता है। सोचते हैं, सुनते हैं, समझते है परंतु निश्चय नहीं बंधता। दयासागर! प्रथम अपने कर्तव्यहीनता के भयंकर पाप को तुम पर चढ़ाकर फिर अपने आप को भी तुम पर चढ़ा दूंगा।''[9]

इसी समय की लिखी कविता के उदगार देखिए–

''भाई, छेड़ो नहीं, मुझे खुलकर रोने दो,

यह पत्थर का हृदय आंसुओं से धोने दो''[10]

माखनलाल ने अपने तन-मन से 'प्रभा' की सेवा की। एक वर्ष के पश्चात 'प्रभा' बंद हो गई। एक वर्ष के बाद गणेश शंकर विद्यार्थी के प्रयत्नों से 'प्रभा' फिर कानपुर से प्रकाशित हुई, किंतु आर्थिक संकटों में फंसकर वर्षान्त तक फिर बंद हो गयी।

सन् 1916 से 1919 तक यानी तीन वर्षों तक वे अत्यधिक बीमार रहे। इस बीच साहित्यिक गतिविधियों से माखनलाल जी दूर रहे।

सन् 1919-20 में माखनलाल के जीवन में एक नया मोड़ आया। भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश हो गया था। काशी विश्वविद्यालय में भाषण करते समय महात्मा गांधी ने क्रांतिकारियों से आग्रह किया कि वे निःशस्त्र आगे आएं। गांधी जी के आह्वान को सुनकर माखनलाल चतुर्वेदी भी अन्य क्रांतिकारियों के साथ आगे आये और गांधी के असहयोग आंदोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लेने की प्रतिज्ञा की। गांधी जी के प्रभाव में आकर उन्होंने अपनी कलम चलाई। इन्होंने दक्षिण अफ्रीका के कर्मवीर गांधी के नाम पर 'कर्मवीर' पत्र निकाला और लेखों द्वारा ब्रिटिश शासन का खूब विरोध किया। 9 अक्टूबर, 1920 के 'कर्मवीर' की संपादकीय टिप्पणी में उन्होंने अंग्रेजों की 'डिप्लोमेसी' की धज्जियां उड़ाते हुए उसे धोखेबाजी, कूटनीति तथा भारत के लोगों को सरासर भ्रम में रखकर उनका शोषण करने की जालसाजी कहा तथा इस जंजाल से भारत की मुक्ति के लिए गांधी के असयोग आंदोलन को एकमात्र मार्ग बतलाकर उनकी पुष्टि करते हुए लिखा–

''भारत के लिए एक ही पथ है, प्राण देकर स्वाधीनता प्राप्त करना, डिप्लोमेसी नहीं। उसके लिए सच्चा मार्ग अहिंसात्मक अहसकारिता ही है।''[11]

माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कर्मवीर' में एक बार लिखा था–''इस समय हम अपने गरीब किसान और मजदूर भाइयों का स्मरण कर रहे हैं। देश उनका है, और देश की स्वाधीनता उनकी होगी। 'कर्मवीर' दुखियों की आवाज से भरा रहने के लिए है, इसी से वह अपने द्वारा, किसी भी प्रकार की साहित्य-सेवा न हो सकने का अपराधी है, किंतु यह अपराध वह जान बूझकर करता रहेगा, क्योंकि काव्य-शास्त्र का विनोद उस दिन सुझेगा जिस दिन उसके शरीर पर चिथड़ा, पेट में टुकड़ा और रहने के लिए अपना मुल्क होगा।''[12]

अपने नाम के अनुरूप ही 'कर्मवीर' ने राष्ट्रीय आंदोलन के पावन संदेश को देश भर तक फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः' गीता के इस संदेश को समर्पित 'कर्मवीर' ने वैचारिक चेतना जगाई और लेखकों, कवियों, विचारकों तथा क्रांतिकारियों को एक राष्ट्रीय मंच प्रदान किया। 'कर्मवीर' चतुर्वेदी जी की निर्भीकता और साहसिकता की ही अभिव्यक्ति था। श्रीकांत जोशी के शब्दों में–''कर्मवीर जन जीवन का लाडला था, केवल दल विशेष के लोग ही उसे नहीं पढ़ते थे। वह जितनी तीक्ष्णता से ब्रिटिश शासन के पायों पर आक्रमण करता था जो देश-द्रोह और उत्कोच तथा शोषण का घृणित खेल खेलते थे। कर्मवीर अपने समय का विश्वास सेतु था।''[13]

इनकी विद्रोहात्मक लेखनी से शासन घबरा गया और सन् 1921, 1922 तथा 1927 में राजद्रोह के अभियोग में इन्हें कारागार भेजता रहा। जेल से भी ये भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को अपनी लेखनी से प्रेरित करते रहे। 1922 ई॰ में जेल से छूटते समय गणेश शंकर विद्यार्थी को इन्होंने प्रताप पत्रिका में प्रकाशन के लिए 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता भेजी। प्रताप पत्रिका में यह कविता 10 अप्रैल, 1922 को प्रकाशित हुई। प्रताप पत्रिका की यह कविता राष्ट्रीय आंदोलन की एक ऐतिहासिक कविता बन गयी। इस कविता का महत्व आज भी कम नहीं हुआ है। आज भी इस कविता और प्रताप पत्रिका को लोग याद करते हैं। तभी तो कथादेश अपने सितंबर 2009 के अंक में इसे अपने द्वितीय आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित किया है–

पुष्प की अभिलाभा

''चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊं,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊं,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढूं, भाग्य पर इठलाऊं,
मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक''[14]

लोगों ने इन्हें स्वराज पार्टी में ले जाना चाहा, किंतु वे गांधी जी के मार्ग पर ही डटे रहे। इससे रुष्ट होकर लोगों ने इन्हें 'कर्मवीर' से 'डिसमिस' करा दिया। 'गणेश शंकर विद्याथी के जेल जाने पर इन्होंने कानपुर के 'प्रताप' का संपादन किया और फिर 1925 में 'कर्मवीर' का खंडवा से अपने स्वामित्व और संपादन में प्रकाशन आरंभ किया जिसे वे स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी चलाते रहे। कर्मवीर ने देशी रियासतों के दुराचारी राजा-महाराजाओं का खूब भंडाफोड़ किया। मध्य भारत के एक महाराज ने उन्नीस हजार रुपये देकर 'कर्मवीर' का मुंह बंद करना चाहा, किंतु चतुर्वेदी जी ने आर्थिक कठिनाइयों के होने पर भी इस धनराशि को ठुकरा दिया और 'कर्मवीर' का ईमान बेचने से इंकार कर दिया। यह बहुत समय तक देशी राज्यों की प्रजा का मुखपत्र बना रहा। एक बार तो अठारह रियासतों ने इसका प्रवेश बंद कर दिया, परंतु फिर भी इन्होंने बड़े साहस से स्थिति का सामना किया और कभी भी हंसवाहिनी के उपासक ने उलूकवाहिनी को अपने उपर हावी नहीं होने दिया।''[15]

पत्रकारिता के क्षेत्र में चतुर्वेदी जी ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। सन् 1929 में भरतपुर संपादक सम्मेलन की अध्यक्षता इन्हें ही सौंपी गई। 1930 में मध्य प्रांतीय साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता और 1934 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद की अध्यक्षता का सौभाग्य भी चतुर्वेदी जी को प्राप्त हुआ। चतुर्वेदी जी इस प्रकार साहित्य, राजनीति तथा पत्रकारिता तीनों क्षेत्रों में कर्मठ ही नहीं रहे, प्रसिद्धि की ऊंचाई तक पहुंचे।

माखनलाल चतुर्वेदी के संबंध में केदार नाथ लाभ, छपरा का कहना है–

''यदि भारतेन्दु की वाणी राष्ट्र के अधरों की वाणी है, मैथिलीशरण गुप्त की वाणी राष्ट्र के कंठ की वाणी है तो पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की वाणी राष्ट्र के मर्म की वाणी है।''[16]

माखनलाल चतुर्वेदी के विषय में प्रयाग शुक्ल कहते हैं–''मैं जब भी माखनलाल जी की रचनाएं पढ़ता हूं तो यही लगता है कि वे एक निर्झर की तरह फूट पड़ती हैं। या किसी नदी के उद्गम से बहने वाली धारा की तरह राह में आने वाली चट्टानों से टकराती हैं, अवरोधों की परवाह नहीं करती हैं, और जहां कोई अटक महसूस होती है, वहां रुक या ठहर नहीं जाती हैं, उस अटक को अपनी जगह रहने देकर, और कई बार उसे अपनी तरफ से तराश कर, उसकी अलग-बगल से अपना बहना जारी रखती हैं, या अपनी बात कहने की कोई ऐसी विधि निकालती हैं, जो हमें स्वीकार्य हो जाती हैं।''[17]

पत्रकार के रूप में माखनलाल चतुर्वेदी की निर्भीकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रभा, प्रताप, और कर्मवीर के सुदीर्घ संपादन काल में उन्होंने अपने पत्रकार की प्रतिष्ठा को कभी भी आंच नहीं लगने दी। सांच को आंच नहीं यही उनका निश्चित

मत था और इसीलिए अपनी संपूर्ण सत्य निष्ठा के साथ उन्होंने अपने विचारों और मतों को संपादकीय टिप्पणियों और लेखों में ओजपूर्ण तथा प्रवाहमयी भाषा में लिखा। राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक विचारधारा के आदर्शवादी पत्रकार होने के कारण उन्होंने दो टूक बात कहने में कभी भी संकोच या झिझक का अनुभव नहीं किया। उनकी स्पष्टवादिता के पीछे उनका मनोबल, आत्मबल और सबसे बड़ा सत्य बल था, इसलिए चाहे अंग्रेजी शासन हो, चाहे देशी रियासत, किसी की भी लल्लो-चप्पो उन्होंने नहीं की। अनीति का विरोध करना, असत्य पर प्रहार करना, पाखण्ड का भंडाफोड़ करना और सत्य तथा न्याय के लिए आग्रह करना उनकी संपादन कला के चार मूलभूत सिद्धांत थे। इन्हीं सिद्धांतों के बल पर उन्होंने राष्ट्रीय जीवन में क्रांति और लोक जीवन में जागृति पैदा की। पत्रकार के रूप में माखनलाल चतुर्वेदी कवि कम और युगदृष्टा तथा जन-जागृति के प्रबल हितैषी अधिक थे, इसीलिए वे अपनी संपादकीय टिप्पणियों, लेखों और विचारों में व्यंग्य-विनोद, हास्य-वक्रोक्ति के अतिरिक्त सीधी-सादी, प्रवाहमयी, ओजपूर्ण भाषा लिखा करते थे। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास तथा संपादन कला के विकास के मूल्यांकन के समय समीक्षकों द्वारा वे अपने इन गुणों के कारण सदैव श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाएंगे।

सन् 1968 में गांधी जी की निधन की तिथि 30 जनवरी को मातृभूमि और हिन्दी साहित्य के इस वरद पुत्र ने अपनी कर्म भूमि से सदा-सर्वदा के लिए विश्राम ले लिया।

संदर्भ सूची

1. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली खण्ड–3, पृष्ठ सं॰–39 ।
2. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–18 एवं 19 (एक भारतीय आत्मा: जीवन की एक झलक, लेखक–डॉ॰ आत्मानन्द मिश्र) ।
3. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेम नारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–43 एवं 44 (चतुर्वेदी जी: व्यक्तित्व और अंतश्चेतना, लेखक: डॉ॰ भगवान दास मिश्र) ।
4. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–20 (एक भारतीय आत्मा: जीवन की एक झलक, लेखक-डॉ॰ आत्मानन्द मिश्र) ।
5. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावाली, खण्ड–3, पृष्ठ सं॰–151 ।
6. माखनलाल चतुर्वेदी: जीवनी भाग (भाग-2), पृष्ठ सं॰–279 ।
7. मध्यप्रदेश की पत्रकारिता: एक शताब्दी, पृष्ठ सं॰–110 ।
8. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व: संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–44 एवं 45 (चतुर्वेदी: व्यक्तित्व और अंतश्चेतना, लेखक: डॉ॰ भगवान दास मिश्र) ।
9. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–21 (एक भारतीय आत्मा: जीवन की एक झलक, लेखक–डॉ॰ आत्मानन्द मिश्र) ।
10. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, प्रथम खंड, पृष्ठ सं॰–41 ।
11. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–47 (चतुर्वेदी जी: व्यक्तित्व और अंतश्चेतना, लेखक: संचार माध्यम डॉ॰ भगवान दास मिश्र) ।
12. भारतीय जन संचार संस्थान, नई दिल्ली की त्रैमासिक पत्रिका संचार माध्यम, जनवरी-मार्च 1994 अंक, पृष्ठ सं॰–36 ।
13. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, उद्धृत पत्रकारिता का इतिहास एवं जन-संचार माध्यम, लेखक–डॉ॰ संजीव भानावत, पृ॰ सं॰–115 ।
14. कथादेश, सितंबर 2009 अंक ।
15. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–26 (एक भारतीय आत्मा: जीवन की एक झलक, लेखक–डॉ॰ आत्मानन्द मिश्र) ।
16. माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपादक प्रेमनारायण टंडन, पृष्ठ सं॰–91 (चतुर्वेदी जी के काव्य में राष्ट्रीय भावना: लेखक: डॉ॰ केदार नाथ लाभ, छपरा) ।
17. आजकल, सितंबर 2005 अंक, पृष्ठ सं॰–36 ।

शोध छात्र (हिन्दी विभाग)

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

तिगुनी जिम्मेदारी मेहनताना एक

रेणु कुमारी

जब भी कामकाजी स्त्रियों की बात होती है तो हमारा ध्यान वेतनभोगी कामकाजी महिलाओं की तरफ होता है। कानूनी तौर पर समानता की घोषणा की गई किंतु व्यवहार में इसका वास्तविक अनुपालन नहीं हो रहा है। मिथ्यात्मक और भ्रामक धारणा यह है कि पुरुषों की तुलना में महिलाएं कार्यक्षमता में हीनतर होती है।

यही कारण है कि अगर महिलाएं उच्च शिक्षा प्राप्त करके डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, प्रबंधक अथवा भूगर्भशास्त्री बनना चाहती है तब संबंद्ध पदों पर भर्ती हेतु समान शिक्षा प्राप्त पुरुषों को प्राथमिकता दी जाती है। जो स्पष्टत: लिंग भेद को दर्शाता है।

इनके बावजूद वो आत्मनिर्भरता हेतु नियुक्त हो जाती है तो उनका कार्य सिर्फ रोजगार तक ही सीमित नहीं होता है बल्कि उन्हें घर-गृहस्थी के उस भार को भी अच्छी तरह संभालना पड़ता है जिनके प्रति न तो कृतज्ञता है और न इसका कोई आर्थिक लाभ। यह एक ऐसी जिम्मेदारी है जिसमें न कोई मेडिकल लिव (M.L.) न कोई कैजुअल लिव (C.L.) है। बीमार होते हुए भी इससे छुटकारा नहीं मिलता है।

एक पुरुष अपने कार्यालय से जब लौटता है तो घर आकर आराम से एक कप चाय, समाचारपत्र के साथ टी॰ वी॰ देखता है और अपने कार्यालय के तनाव और थकान को दूर करता है लेकिन एक महिला जब अपने कार्यालय से निकलती है तो वह अपने घर के कार्यों की योजना बनाते हुए निकलती है कि रास्ते में सब्जी मंडी से होते हुए जाने से हरी सब्जियां लेती हुई जायेगी नहीं तो रात के खाने के समय व्यंग्य बाणों की बौछार को सहने की ताकत रखनी होगी कि नौकरी करेगी तो खिचड़ी तो खाना ही होगा तीन सब्जी के दर्शन तो सपने में ही होंगे।

इनसे निपटने के लिए सब्जियां खरीदी तो ध्यान आता है कि बेटे ने आज प्रोजेक्ट वर्क के लिए समान का लिस्ट दिया है नहीं ले जाने से कहेगा मां तुम नौकरी क्यों नहीं छोड़ देती ताकि तुम भी दूसरी मम्मी की तरह मेरे प्रोजेक्ट वर्क में समय दे पाती।

लेकिन मां कैसे समझाये कि नौकरी छोड़ देगी तो हाथ पसार कर पैसे मांगने के बाद उसके पाई-पाई का हिसाब देना पड़ेगा और तो भी तानों के साथ कि ''तुम क्या जानों, पैसे कितनी मेहनत से कमाये जाते हैं, डिमांड तो ऐसे करती हो जैसे मैंने पैसे का पेड़ पाल रखा है।'' इतनी व्यस्त दिनचर्या जो कि सुबह बिस्तर से उतरते ही शुरू हो जाती है और देर रात तक जारी रहता है जब तक सभी अपने-अपने बिस्तर पर नहीं चले जाते हैं। लेकिन इस सारी समस्याओं को वह आसानी से सहन कर लेती यदि उनके द्वारा अर्जित किए गये धन पर उनका नियंत्रण होता।

वस्तुत: अधिकांश परिवारों में उनके वेतन परिवार के प्रधान को दे दिया जाता है और उनके दामन में हताशा का साथ होता है। बच्चों के पालन-पोषण, समस्त घरेलू दायित्वों के निर्वाह में उन्हें मानसिक तनाव एवं शारीरिक ह्रास भी झेलना पड़ता है। सुबह सबसे पहले जगना, जल्दी-जल्दी रसोईघर के कामों को निबटाकर, पति को टिफिन देकर बच्चों को तैयार करके टिफिन देकर स्कूल भेजने के बाद अपने जैसे-तैसे तैयार होकर भागकर अपने कार्यालय पहुंचना, वहां भी भाग-भागकर जल्दी-जल्दी कामों को निबटाना और दिनभर कंप्यूटर पर अपनी आंखें गड़ाकर काम करने के बाद कार्यालय से सब्जी की भरी झोलियों के साथ घर में प्रवेश करना, थैला रखकर रसोईघर में घुसकर सभी के लिए गर्मागर्म चाय बनाना और रात को सबके लिए

खाना बनाकर खिलाने के बाद बिस्तर पर जाना। यही एक वेतनभोगी या कामकाजी महिला की दिनचर्या है जिसमें दो शब्द प्रशंसा या सहानुभूति के नहीं होते। लेकिन तुम्हें किसने नौकरी करने को कहा है तुम तो अपनी खुशी से कर रही हो, तुम्हारे पैसे से क्या होने वाला? इत्यादि वाक्य पुरस्कार के लिए तैयार रहते हैं।

गैरपारंपरिक दृष्टि से काम के लिए बाहर निकलना लिंग प्रकृति के बिन्दु पर स्त्रियों के लिए उत्पीड़क होता है। जनपरिवहन-प्रणाली कष्टप्रद है कि उस विषय अवस्था का दुरुपयोग पुरुष सहयात्री करते हैं और यहां भी स्त्रियां अपनी शारीरिक सुरक्षा हेतु तनावग्रस्त रहती है। कार्यालयों में भी महिलाओं को मानसिक प्रताड़ना से गुजरना पड़ता है। उनके पुरुष सहकर्मियों के ध्यानाकर्षण को झेलना उनकी दैनिक मजबूरी होती है। कई बार तो अपने उच्चाधिकारियों द्वारा दिये गये प्रस्ताव को अस्वीकृत करने पर उनकी स्थिति दयनीय बना दी जाती है और इस स्थिति से उबरने के लिए महिलाएं या तो नौकरी छोड़ देती है या बदलने को मजबूर हो जाती है।

आज चाहे लाख दावे किये जा रहे हैं कि नारियों को आरक्षण मिल रहा है, उन्हें समानता का दर्जा दिया जा रहा है, उन्हें राजनीति में सीटें सुरक्षित करके आगे बढ़ाया जा रहा है लेकिन ये सारे दावे स्त्रियों पर हावी होने की पुरुषोचित अहंकार प्रवृत्ति की पुरानी अवधारणा के आगे घुटने टेकती नजर आती है।

आज भी यह पुरुष प्रधान समाज स्त्री की अहमियत को मिटाकर उसे अपने अधीन रखकर उस पर हुकुमत चलाने में आनन्द का अनुभव करता है। साथ ही यह कटाक्ष करने से भी नहीं चूकता है कि नौकरी वाली औरतें बड़ी मनमर्जी चलाने लगती है जब इन्हें जो मन में आता है वही करती है। अपने पैसे को अपनी मर्जी से उड़ाती रहती है। इन्हें किसी की परवाह नहीं।''

जबकि सच तो यह है कि एक परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों की साझेदारी आवश्यक है। जहां तक जिम्मेदारियों की बात है तो स्त्री तिगुनी जिम्मेदारी यानि घर, दफ्तर के साथ बच्चों की जिम्मेदारी आसानी एवं सफलतापूर्वक उठाने में सामर्थ्य रही है, और रहेगी। लेकिन क्या इस तिहरी जिम्मेदारी के सफलतापूर्वक निर्वहन पर वह दो शब्द प्रशंसा की पात्र नहीं है? इस प्रश्न को मैं पूरे समाज के ऊपर छोड़ रही हूं जिसका जवाब शायद ही इस पुरुषप्रधान समाज में मैं प्राप्त कर सकूं।

संदर्भ सूची

1. हंस, सितंबर 2008 अंक, पृष्ठ सं०–42 ।
2. कथादेश, अगस्त 2008 अंक, पृष्ठ सं०–32 ।
3. जनसत्ता दिल्ली, 19 अगस्त 2007 ।
4. दैनिक भास्कर (मधुरिमा), 07 मार्च 2007 ।
5. दैनिक जागरण, छपरा, 4 फरवरी 2010 ।
6. दैनिक जागरण, छपरा, 5 फरवरी 2010 ।
7. दैनिक जागरण, छपरा, 6 फरवरी 2010 ।

शोध छात्रा (हिन्दी विभाग)

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

संप्रतिः नगर शिक्षिका प्राथमिक विद्यालय

दहियावां टोला, छपरा

गांधीजी की राष्ट्रभाषा हिन्दी संबंधी परिकल्पना

डॉ. रश्मि सिंह

भाषा मानव-भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भाषा के बगैर वे एक-दूसरे के नजदीक रहकर भी दूर ही रहते हैं।

भारत एक विशाल देश है। लोग इसे उपमहाद्वीप कहते हैं। इसके चतुर्दिक तीर्थ स्थान, पुरियां तथा पवित्र नदियां फैली हुई हैं। श्रद्धालु भक्त देश के विभिन्न प्रांतों के, विभिन्न स्थलों के देवी-देवताओं के दर्शन, पुरियों का भ्रमण तथा अवलोकन, पवित्र नदियों में स्नान कर अपने को कृतार्थ करने के लिए आते हैं। उनका धर्म एक होता है, राष्ट्र एक होता है परंतु भाषा एक नहीं होती।

अत: भाषा-वैषम्य के कारण वे एक-दूसरे के नजदीक न होकर दूर ही रहते हैं। कहना गलत नहीं होगा कि भाषा का बंधन धर्म तथा राष्ट्र के बंधन से ज्यादा कठोर होता है। वह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम एक-दूसरे के हृदय तक पहुंचने का प्रयास करते हैं। महात्मा गांधी ने इसे एकता की कड़ी कहा है।

राष्ट्र के निर्माण के आवश्यक तत्वों में राष्ट्रभाषा एक आवश्यक तत्व है। इसके बगैर राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए दुनिया के तमाम राष्ट्रों की अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र के लोगों के बीच भावात्मक वातावरण पैदाकर उन्हें एक सूत्र में बांधती है।

उसके बगैर राष्ट्र गूंगा होता है। राष्ट्रभाषा वह दर्पण है जिसमें राष्ट्र का साफ-सुथरा चेहरा देखने को मिलता है। राष्ट्रीय एकता की कल्पना राष्ट्रभाषा के बिना संभव नहीं। गांधीजी की भाषा विषयक नीति भारतीय समाज में सांस्कृतिक एकता जागृत करने हेतु एक सक्षम एवं सशक्त औजार है।

गांधीजी ने जब एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत की परिकल्पना की थी, तो उनकी परिकल्पना के दो लक्ष्य थे–एक स्वतंत्रता तथा दूसरा सांप्रदायिक सद्भाव एवं एकता। स्वतंत्रता की गांधीजी की अवधारणा मात्र राजनैतिक नहीं थी, मानसिक तथा सांस्कृतिक भी थी। इसके लिए गांधीजी ने अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन तो शुरू किया ही, उनकी भाषा अंग्रेजी के विरुद्ध भी संघर्ष शुरू किया।

गांधीजी जानते थे कि भारतीय समाज में अंग्रेजी की अच्छी खासी पैठ हो रही है और उसके विकास के साथ-साथ अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का भी विकास हो रहा है। अंग्रेजी के आ जाने से क्षेत्रीय भाषाएं निर्बल हो रही थीं और हमारी संस्कृति के ऊपर अंग्रेजी संस्कृति का वर्चस्व होता जा रहा था। फलत: हम भारतीय मानसिक रूप से गुलामी के कठोर पाश में जकड़ते जा रहे थे। किसी देश की संस्कृति उस देश का प्राण होती है और उसके अभाव में आदमी को अपने कर्त्तव्यों का बोध नहीं हो पाता। इसलिए गांधीजी अंग्रेजों के पहले अंग्रेजी को भारत से निकाल बाहर करना चाहते थे।

अंग्रेजी के बारे में उन्होंने लिखा–''अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है। इसने बेवजह भारतीय शिक्षा को खर्चीला बना दिया है। यहां के नौजवानों को नकलची तथा निकम्मा बना दिया है, भारतीय नौजवानों की शक्ति हर ली है, अगर थोड़े दिन और रह

गयी तो भारत के प्राण तक हर लेगी। इसलिए भारतीय नौजवानों को जितनी जल्दी हो सके, इसके मोहपाश से मुक्त हो जाना चाहिए।''

1918 में गांधीजी ने ऐतिहासिक इंदौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का सभापतित्व किया। कालांतर में उनके भाषा विषयक विचारों में कुछ परिवर्तन हुए। उन्होंने हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी का समर्थन करना प्रारंभ किया। टण्डनजी और गोविन्ददास आदि ने इसका विरोध एवं काका कालेलकर और विनोबा आदि ने इसका समर्थन किया। गांधीजी के इस विचार-परिवर्तन के मूल कारण क्या थे और इसने भाषा-संबंधी विरोध को कितना प्रोत्साहन दिया यह निश्चित ही विचारणीय विषय है।

गांधीजी की हिन्दी विषयक नीति का कांग्रेस में ही समर्थन और विरोध हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के वातावरण में पले कुछ लोगों ने इसका विरोध किया तो दूरदृष्टि रखने वाले कुछ लोगों ने इसका समर्थन। इस समर्थन और विरोध ने भावी इतिहास को कहां तक प्रभावित किया यह सोच का विषय है।

गांधीजी की राष्ट्रभाषा हिन्दी विषयक नीति की उपलब्धि यह थी कि उसने देश को सोचने का एक आधार एवं एक दृष्टि दी। उसी चिंतन का परिणाम है कि देश आज इस समस्या पर सोचने और हिन्दी की शक्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहा है।

उसका प्रभाव यह रहा कि अनेक राजनैतिक उलझनों में फंसे रहने के कारण गांधीजी उस संबंध में स्पष्ट चिंतन का आधार अपने जीवन-काल में नहीं दे सके। शायद वे रहते तो इसे एक स्पष्ट आधार दे पाते। अब तो समन्वयात्मक चिंतन ही इसे आधार दे प्रगति की दिशा में अग्रसर कर सकता है।

आजाद देश पर गांधी की दूरदर्शी हिन्दी नीति का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा। इसका प्रमाण संसद द्वारा संपर्क भाषा के रूप में इसकी स्वीकृति है।

पर स्वतंत्रता का प्रथम भावावेश जब उतर गया तो क्षेत्रीयता, जातीयता एवं प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाएं जोर पकड़ने लगीं और यह समस्या इसके जाल में उलझ गयी और स्पष्ट चिंतन का अभाव होता गया। इसे कुछ लोगों की स्वीकृति मिली तो कुछ ने उग्र विरोध किया तथा कुछ ने समन्वयात्मक चिंतन पर बल दिया। अब इसकी दिशा क्या होगी, इस पर हमें व भावी पीढ़ी को सोचना होगा।

गांधीजी ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के रूप में कल्पना की थी और आजादी के पूर्व इसे उस रूप में अनौपचारिक रूप से प्रतिष्ठित भी किया। इसका भविष्य भी अनेक बाधाओं के रहते हुए भी उज्जवल है। किंतु इसके लिए सावधान और उदार चिंतन की आवश्यकता है। हम कैसे इसे संबल बना सकेंगे, यह हमारी गवेषणा एवं चिंतन का विषय है।

संदर्भ

1. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड 35, पृष्ठ सं०–201 ।

फ्लैट नं० 402/ए०, अभिषेक अपार्टमेंट
मौर्य पथ, खाजपुरा, बेली रोड़,
पटना-800014

नेह एवं आत्मीयता की भाषा: राष्ट्रभाषा हिन्दी

पंकज कुमार तिवारी

अपनी उत्पत्ति के साथ मानव ने सभ्यता और संस्कृति के विकास-सोपान के साथ भाषा के विकास की परंपरा भी अपनाए रखी। भाषा-विकास-परंपरा में सरलीकरण की प्रक्रिया इसी बात को इंगित करती है कि मानव-समुदाय भाषागत व्याकरणिक बंधनों में जकड़ा नहीं रह सकता क्योंकि भाषा मनुष्य के हृदय की वस्तु नहीं अपितु आह्लाद, अनुभवों व भावों को व्यक्त करने वाली होती है।

यही नहीं भाषा के द्वारा संस्कृति, संस्कार व राष्ट्र का निर्माण भी होता है। भाषा के द्वारा जहां एक ओर राजनीतिक संकल्पना की पूर्ति संपन्न होती है, वहीं दूसरी ओर समाज, व्यक्ति और विचार को आमूल-चूल परिवर्तित कर देने की प्रचण्ड शक्ति भी होती है। देखा जाए तो जहां एक ओर भाषा क्रांति का बीज साबित होती है वहीं दूसरी ओर शांति का मंत्र भी सिद्ध होती है। भाषा के द्वारा खण्डित एवं टूटे हुए दिलों को जहां एक ओर जोड़ा जा सकता है वहीं दूसरी ओर इसके रसायन से दिलों को तोड़ा भी जा सकता है। यही नहीं भाषा संवेदना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।

अभिव्यक्ति या संपर्क के लिये एक मात्र सशक्त माध्यम भाषा ही है। भाषा का यह माध्यम तब और अधिक लोकप्रिय हो जाता है जब अधिक से अधिक लोग सर्वसम्मत एवं प्रचलन के रूप में उसे प्रयोग में लाते हों। भाषा का यह रूप 'लिंग लैंग्वेज' अर्थात् संपर्क भाषा के रूप में जाना जाता है। कोई भी राष्ट्र राजनीतिक, व्यावहारिक दृष्टि से बिना संपर्क भाषा के विकास के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है।

संस्कृति, संस्कार तथा व्यावहारिक दृष्टि से भी सम्यक भाषा ही जनता के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। कोई भी राष्ट्र तभी परंपरागत सांस्कृतिक महिमा से मंडित हो सकता है जब वहां की एक संपर्क भाषा हो। हिन्दी हमारे देश की संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा बनने में पूर्णत: सक्षम है क्योंकि ''हिन्दी उदारता की भाषा है; हिन्दी चरित्र निर्माण व संस्कारों की भाषा है; हिन्दी नेह व आत्मीयता की भाषा है, उसने अपने प्रांगण में अपनत्व भाव से आई भाव व शब्द की संपदा का निरंतर आतिथ्य किया है; आत्मीयता का वरण किया है। स्नेह का उत्कर्ष इतना है कि एक बार हिन्दी के आंचल में आश्रय पा चुका शब्द वापस नहीं हो सका और हिन्दी का ही होकर रह गया।

अतिथियों (शब्दों) को आत्मसात् करने की तथा परम उदारता की बात नि:स्वार्थ भाव से विश्व की कोई भी भाषा हिन्दी से सीखे। आज हजारों ऐसे देशी-विदेशी शब्द हिन्दी के शब्द भंडार की शोभा बढ़ा रहे हैं। बहुउद्देशीय शब्दों को पचाने व अपने में समाने की सामर्थ्य हर भाषा में संभव नहीं, यह केवल हिन्दी भाषा की व्यापकता व विशाल हृदयता का ही परिचायक है। भाषा का महत्व किसी भी रूप में देश की सीमा की रक्षा कर रहे सैनिकों से कमतर नहीं है। ज्ञान, चेतना व चिंतन की मूल धुरी है भाषा।'' स्पष्ट है कि विश्व भाषा के रूप में हिन्दी का विकास उसके गुणों के कारण ही हो रहा है। साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक चेतना के लिए हिन्दी की पहचान भारत के बाहर अन्य देशों में बहुत अधिक हुई है। यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी-लिपि एक विशुद्ध वैज्ञानिक व अनुशासित लिपि है।

हिन्दी भाषा सरल, बोधगम्य व शीघ्र ही समझ में आने वाली तथा अल्प समय में सीखी जाने वाली भाषा है। अपनी व्याकरणिक विशेषताओं के कारण उच्चारण एवं पढ़ने में हिन्दी भाषा जैसी विश्व की कोई भाषा नहीं है। नूतन आंकड़े यह

सिद्ध करते हैं कि विश्व में इस समय हिन्दी बोलने वाले प्रथम स्थान पर आ गये हैं, यह बात आश्चर्यजनक किंतु सत्य है कि विदेशों में हिन्दी भाषा-साहित्य दिनों दिन प्रगति पथ पर नये सोपान स्थापित कर रही है। वहीं हमारे अपने देश भारत में जो स्वाधीन, सार्वभौम, प्रभुसत्तात्मक राष्ट्र का प्रतीक है, जहां हमारा एक राष्ट्रध्वज, एक राष्ट्रगान होने के बावजूद हमारी एक राष्ट्रभाषा क्यों नहीं हो पायी है, वर्तमान समय में यह शोध का विषय है।

निश्चित रूप से भाषा को लेकर हमारे समक्ष यक्ष प्रश्नों की स्थिति बनी हुई है। विरोधाभासों की वर्तमान दुनिया में वैज्ञानिक विकास के कारण संपूर्ण विश्व आपसी जुड़ाव, समन्वय तथा एक छोटी सी बस्ती में तब्दील होता जा रहा है। किसी एक देश की घटना का प्रभाव दूसरे देश पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

यही कारण है कि विज्ञान, तकनीक, संपदा और समृद्धि की ऊंचाइयां छूने की दौड़ तेज होती जा रही है जिससे वैचारिक तथा भाषाई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरे विस्तृत हो रहे हैं। भाषा की इस अभिव्यक्ति ने जनता और सत्ता; संपत्ति और चालबाजी; व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों स्तरों पर, विचार-शून्यता की स्थिति से आगे लाकर विचार-प्रेषण की स्थिति में खड़ा कर दिया है।

क्योंकि वर्तमान समय में मनुष्य केवल अपने स्तर एवं हित के अलावा कुछ सोच ही नहीं पा रहा है। वर्तमान में हिन्दी की यह स्थिति हो गई है कि हमारे माननीय सत्ता के मनमाने-मनचाहे उपयोग को ललकारने की बात तो दूर रही, वास्तव में अब हिन्दी भाषा सत्ताहीन लोगों का हथियार या उनके हाथ का खिलौना बनती जा रही है। हिन्दी आज राज का दर्जा पाने के लिए सत्ता के गलियारों में भटक रही है इस आस में कि उसे भी नियामतो का एक अंश मिल जायेगा, परंतु यह सब कैसे और कब तक चलेगा अभी भविष्य के गर्भ में है।

निश्चित रूप से हमारे समक्ष यह एक विकट परिस्थिति है पर ऐसा नहीं कि सब कुछ अंधकारमय एवं अनिश्चित है। हिन्दी की इस दुस्सह स्थिति में भी आशा के दीपक जगमगा रहे हैं। अनेक विद्वान लेखक, कवि, आलोचक, सक्रिय समाजकर्मी और मानवीय संवेदना तथा प्रतिबद्धताओं से ओतप्रोत सृजनशील व्यक्ति यथास्थिति का बेबाक चित्रण ही नहीं कर रहे हैं अपितु ये लोग हिन्दी के एक वैकल्पिक विश्व की अवधारणा, परिकल्पना और संभावना के चितेरे भी हैं।

इन लोगों के द्वारा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु इस दिशा में निजी और संगठित स्तर पर अनेक रूपों में प्रबल प्रयास चल रहे हैं। हिन्दी भाषा को लेकर खड़े विविध यक्ष प्रश्नों पर व्यापक विमर्श यानी विचारणा-अनुसंधान साथ ही सक्रिय जमीनी कार्यों की जरूरत है। हमें पूरा विश्वास है कि हमारे देश की गंगा-जमुनी संस्कृति की प्रजा शक्ति अपनी हिन्दी सर्जना से न केवल जनमानस को आह्लादित करेगी वरन उसे आलोड़ित कर हिन्दी को भूमण्डलीकरण की प्रक्रियाओं में सक्रिय भागीदार बना कर उसके इकबाल को बुलंद करेगी।

संदर्भ

- आज की हिन्दी और अनुवाद की समस्याऐं, रायवरपू श्री सरजू
- आज की हिन्दी पत्रकारिता, सुरेश निर्मल
- अच्छी हिन्दी, जगदीश प्रसाद कोशिक
- अच्छी हिन्दी सम्भाषण और लेखन, तेजपाल चौधरी
- अच्छी हिन्दी तथा व्याकरण प्रयोग, दीक्षा द्विवेदी
- आदर्श हिन्दी निबंध, विजय नारायण सिंह

शोध प्रज्ञ

मिथिला विश्वविद्यालय

दरभंगा (बिहार)

हिंदी भाषा के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

मृत्युंजय कुमार सिंह

हिंदी पत्रकारिता का प्रश्न राष्ट्रभाषा और खड़ी बोली के विकास से भी संबंधित रहा है। हिंदी भाषा विकास की पूरी प्रक्रिया हिंदी पत्रकारिता के भाषा विश्लेषण के माध्यम से समझी जा सकती है। इस विकास में भाषा के प्रति जागरूक पत्रकारों का अपना-अपना योगदान हिंदी को मिलता रहा है। ये पत्रकार हिंदी भाषी भी थे और हिंदीतर भाषा-भाषी भी। इनमें से कई बोली क्षेत्रों के थे, कुछ पहले साहित्यकार थे बाद में पत्रकार बने, तो कुछ ने पत्रकारिता से शुरू करके साहित्य जगत में अपना स्थान बनाया। इन सभी ने अखिल भारतीय स्तर पर बोली और समझी जाने वाली भाषा हिंदी के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित किया। इनके लिए हिंदी और राष्ट्रीयता एक दूसरे के पयार्य थे। क्योंकि ये पत्रकार भिन्न भाषा परिवेशों के थे इसलिए हिंदी पत्रकारिता में शैली वैविध्य अपनी चरम अवस्था में दिखाई देता है।

हिंदी पत्रकारिता का यह सौभाग्य रहा कि समय और समाज के प्रति जागरूक पत्रकारों ने निश्चित लक्ष्य के लिए इससे अपने को जोड़ा। वे लक्ष्य थे राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक उत्थान और लोकजागरण। तब पत्रकारिता एक मिशन थी, राष्ट्रीय महत्व के उद्देश्य पत्रकारिता की कसौटी थे और पत्रकार एक निडर व्यक्तित्व लेकर खुद भी आगे बढ़ता था और दूसरों को प्रेरित करता था। हिंदी के इन पत्रकारों ने न तो ब्रिटिश साम्राज्य के सामने घुटने टेके और न ही अपने आदर्शों से च्युत हुए इसीलिए समाज में इन पत्रकारों को अथाह सम्मान मिला।

हिंदी पत्रकारिता के विकासक्रम में कुछ पत्रकार प्रकाशस्तंभ बने जिन्होंने अपने समय में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराई और अनेक युवकों को लक्ष्यवेधी पत्रकारिता के लिए तैयार किया। वास्तव में वह पूरा शुरुआती समय हिंदी पत्रकारिता का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। हिन्दी के गौरव को स्थापित करने, हिंदी साहित्य को बहुमुखी बनाने, भारतीय भाषाओं की रचनाओं को हिंदी में लाने, हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के महत्व पर टिप्पणी करने तथा इन सबके साथ सामाजिक उत्थान का निरंतर प्रयत्न करने में ये सभी पत्रकार अपने-अपने समय में अग्रणी रहे।

'हिंदी प्रदीप' के संपादक बालकृष्ण भट्ट केवल पत्रकार ही नहीं, उद्भट साहित्यकार भी थे। विभिन्न विधाओं में उन्होंने रचनाएं की जिन्हें पढ़ने पर यह पता चलता है कि भट्ट जी की शैली में कितना ओज और प्रभाव था। सरल और मुहावरेदार हिंदी लिखना उन्हीं से आगे अपने वाले पत्रकारों ने सीखा। हिंदी पत्रकारिता बालकृष्ण भट्ट की कई कारणों से ऋणी है। एक तो उन्होंने निर्भीक पत्रकारिता को जन्म दिया, दूसरे गंभीर लेखन में भी सहजता बनाए रखने की शैली निर्मित की, तीसरे हिंदी साहित्य की समीक्षा को उन्होंने प्रशस्त किया और चौथे हिंदी पत्रकारिता पर ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भी प्रकार के अत्याचार का उन्होंने खुलकर विरोध किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र (कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन, हरिशचंद्र चंद्रिका, बालाबोधिनी) हिंदी पत्रकारिता के ही नहीं, आधुनिक हिंदी के भी जन्मदाता माने जाते हैं। भारतेंदु ने अपने पत्रों और नाटकों के द्वारा आधुनिक हिंदी गद्य को इस तरह विकसित करने का प्रयास किया कि वह जनसाधारण तक पहुंच सके। संस्कृत और उर्दू-दोनों की अतिवादिता से हिंदी को बचाते हुए उन्होंने बोलचाल की हिंदी को ही साहित्यिकता प्रदान करके ऐसी शैली ईजाद की जो वास्तव में हिंदी की केंद्रीय शैली थी और जिसे बाद में गांधी और प्रेमचंद ने 'हिंदुस्तानी' कहकर अखिल भारतीय व्यवहार की मान्यता प्रदान की। भारतेंदु के लिए स्वभाषा की उन्नति ही सभी प्रकार की उन्नतियों का मूलाधार थी। 'बालाबोधिनी' महिलाओं पर केंद्रित हिंदी की पहली पत्रिका है। इसमें महिलाओं ने लिखा और भारतेंदु की प्रेरणा से अनेक महिलाएं हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में आई। ज्ञान विज्ञान

की दिशा में हिंदी पत्रकारिता को समृद्ध करने का कार्य भी भारतेंदु ने ही पहली बार किया। इतिहास, विज्ञान और समाजोपयोगी सामयिक विषयों पर उनकी पत्रिकाओं में उत्कृष्ट सामग्री छपती थी।

प्रताप नारायण मिश्र (ब्राह्मण) आधुनिक हिंदी के सचेतन पत्रकार माने जा सकते हैं। उन्होंने हिंदी गद्य और पद्य दोनों को नया संस्कार दिया। इनके समय तक प्रचलित हिंदी या तो अरबी-फारसी निष्ठ थी, या संस्कृतनिष्ठ, अथवा उसमें भारतेंदु की तरह बोलियों का असंतुलित मिश्रण था। मिश्र जी ने ठोस हिंदी गद्य को जन्म दिया। देशज, उर्दू और संस्कृत का जितना सुंदर मिश्रित प्रयोग मिश्र जी में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वे हिंदी की प्रकृति को एक विशिष्ट शैली में ढालने वाले पहले पत्रकार थे।

महामना मदनमोहन मालवीय (हिंदोस्थान, अभ्युदय, मर्यादा) का हिंदी के प्रति दृष्टिकोण दृढ़ था। वे हिंदी के कट्टर समर्थक थे। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना उन्होंने अपने इसी हिंदी प्रेम के कारण की थी। वे समय-समय पर अनेक पत्रों से संबद्ध हुए। हिंदी के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत साफ था कि हिंदी भाषा और नागरी अक्षर के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता सिद्ध हो सकती है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी हिंदू विश्वविद्यालय और हिंदी प्रकाशन मंडल की स्थापना करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति के उत्थान का रास्ता ही भारत के उत्थान का एक मात्र रास्ता है। मालवीय जी वाणी के धनी थे, जितना प्रभावशाली बोलते थे, उतना ही प्रभावशाली लिखते थे। हिंदी भाषा का ओज उनकी पत्रकारिता से प्रकाशित होता है।

मेहता लज्जाराम शर्मा (सर्वहित, वेंकटेश्वर) गुजराती भाषी थे, लेकिन हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया था। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'एक-न-एक दिन पूरे भारत में हिंदी का डंका बजेगा, प्रांतीय भाषाएं हिंदी की आरती उतारेंगी, बहन उर्दू इसकी बलैया लेगी तथा अंग्रेजी हतप्रभ होकर हिंदी के गले में फूलों की माला पहनाएगी।'

हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाओं की पत्रकारिता को प्रतिष्ठित करने वाले बाबू बालमुकुंद गुप्त (अखबारे-चुरार, हिंदी बंगवासी, भारतमित्र) ने पत्रकारिता को साहित्य निर्माण और भाषा चिंतन का भी माध्यम बनाया। गुप्त जी ने 'भारत मित्र' में महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' में प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर जो लेखमाला लिखी, वह पर्याप्त चर्चा का विषय बनी। इसी तरह उन्होंने 'वेंकटेश्वर समाचार' के मेहता लज्जाराम शर्मा द्वारा प्रयुक्त 'शेष शब्द पर भी खुली चर्चा की। उनकी ये चर्चाएं उनकी भाषाई चेतना को व्यक्त करने वाली हैं। वे मूलत: उर्दू के पत्रकार थे इसलिए जब हिंदी की सहज चपलता में व्यवधान होता देखते थे तो विचलित हो जाते थे। उनकी व्यंग्योक्तियां अत्यंत प्रखर होती थीं। इससे हिंदी पत्रकारिता को नई शैली भी मिली और निर्भीकता, दृढ़ता और ओजस्विता के साथ विनोदप्रियता का अद्‌भुत सम्मिश्रण भी। वे वास्तव में राष्ट्रव्यापी साहित्यिक विवादों के जनक और व्यंग्यात्मक शैली के अग्रदूत पत्रकार थे। उर्दू भाषा के साथ वे हिंदी की हिमायत करते थे। उर्दू और हिंदी के विवाद में उन्होंने हमेशा हिंदी का पक्ष लिया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सरस्वती) हिंदी पत्रकारिता के शलाक पुरुष हैं। हिंदी के प्रति उनकी धारणा दृढ़ थी। वे उसे सुगठित, सुव्यवस्थित और सर्वमान्य स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। 'सरस्वती के माध्यम से हिंदी को नई गति और शक्ति देने का जो कार्य द्विवेदी जी ने किया, उसका कोई सानी नहीं है। अपनी दृढ़ता के चलते ही उन्होंने अनेक पत्रकारों और साहित्यकारों को खड़ी बोली हिंदी में लिखने के लिए प्रेरित किया और 'सरस्वती' में छापकर उन्हें स्थापित किया। द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा के परिष्कार का अनथक प्रयत्न किया और हिंदी में लेखकों तथा कवियों की एक पीढ़ी तैयार की। उनका यह दृढ़ मत था कि गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक नहीं होनी चाहिए।

माधव राव सप्रे (छत्तीसगढ़ मित्र, कर्मवीर) राष्ट्रीयता की प्रतिमूर्ति थे। उनकी हिंदी निष्ठा अपराजेय थी। उनका कहना था, 'मैं महाराष्ट्रीय हूं, परंतु हिंदी के विषय में मुझे उतना ही अभिमान है जितना किसी भी हिंदी भाषी को हो सकता है। मैं चाहता हूं कि इस राष्ट्रभाषा के सामने भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भूल जाए कि मैं महाराष्ट्रीय हूं, बंगाली हूं, गुजराती हूं या मदरासी हूं।

हिंदी के मूर्धन्य कथाकार प्रेमचंद का एक प्रेरक स्वरूप उनके जागरूक पत्रकार का भी है। 'माधुरी', 'जागरण' और 'हंस' का संपादन करके उन्होंने अपनी इस प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण पेश किया और हिंदुस्तानी शैली को सर्वग्राह्य तथा लोकप्रिय बनाने का महत्व कार्य किया।

हिंदी के मासिक पत्रों के संपादन में जो ख्याति महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद्र की है वैसी ही ख्याति दैनिक पत्रों के संपादन में बाबूराव विष्णुराव पराड़कर (आज) की है। दैनिक हिंदी पत्रकारिता के वे आदि-पुरुष कहे जा सकते हैं। उन्होंने हिंदी भाषा का मानकीकरण ही नहीं, आधुनिकीकरण भी किया और हिंदी की पारिभाषिक शब्द संपदा की अभिवृद्धि की।

माखनलाल चतुर्वेदी (कर्मवीर, प्रभा, प्रताप) साहित्य, समाज और राजनीति, तीनों को अपनी पत्रकारिता में समेटकर चलते थे। उनकी साहित्य साधना भी अद्‌भुत थी। उनके भाषण और लेखन में इतना ओज था कि वे भावों को जिस तरह चाहते, प्रकट कर लेते थे। उनका यह स्वरूप भी उनके पत्रों के लिए वरदान साबित हुआ। उनका लेखन हिंदी भाषा के प्रांजल प्रयोग का उदाहरण है। उनका यह कहना था कि 'ऐसा लिखो जिसमें अनहोनापन हो, ऐसा बोलो जिस पर दुहराहट के दाग न पड़े हो।'

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी (अभ्युदय, प्रताप) ने हिंदी पत्रकारिता में बलिदान और आचरण का अमर संदेश प्रसारित किया और हिंदी भाषा को ओजस्वी लेखन का मुहावरा प्रदान किया। इसी प्रकार शिवपूजन सहाय (मारवाड़ी सुधार, मतवाला, माधुरी) अकेले ऐसे पत्रकार हैं जिनका हिंदी की विविध शैलियों पर समान अधिकार था।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी पत्रकारिता में अज्ञेय (प्रतीक, नया प्रतीक, दिनमान, नवभारत टाइम्स) ने साहित्यिक पत्रकारिता को नवीन दिशाओं की ओर मोड़ा। 'शब्द' के प्रति वे सचेत थे इसलिए भाषा और काव्य भाषा पर 'प्रतीक' में संपादकीय, लेख, चर्चाएं, परिचर्चाएं प्रकाशित होती रहती थीं। अज्ञेय ने 'दिनमान' के माध्यम से राजनैतिक समीक्षा और समाचार विवेचन की शैली हिंदी में विकसित की। उन्होंने 'नवभारत टाइम्स' के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिशिष्ट को ऊंचाई प्रदान की जिससे कि दैनिक पत्र का पाठक भी इनके महत्व को समझने लगा।

धर्मवीर भारती (धर्मयुग) ने सर्वसमावेशी लोकप्रिय पत्रिका की संकल्पना साकार की जिसमें राजनैतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सामग्री के साथ ही फिल्म, खेल, महिला जगत, बालजगत जैसे स्तंभ सम्मिलित हुए। धर्मवीर भारती की जागरूक दृष्टि ने हिंदी रंगमंच व लोक कलाओं को भी महत्व दिया और नई नई विधाओं जैसे यात्रावृतांत, रिपोर्ताज, डायरी आदि में लेखन को भी। इससे हिंदी भाषा की अनेकानेक विधाओं और प्रयुक्तियों का बहुआयामी विकास हुआ।

आर्येंद्र शर्मा (कल्पना) मूलत: वैयाकरण थे। उनकी पुस्तक 'बेसिक ग्रामर ऑफ हिंदी' भारत सरकार ने प्रकाशित की जिसे आज भी हिंदी का मानक व्याकरण माना जाता है। भाषा के प्रति उनकी गंभीरता और अच्छी रचनाओं को पहचानने की विवेकी दृष्टि ने 'कल्पना' को अपनी एक अलग जगह बनाने में मदद की। छठे दशक से हिंदी में विभिन्न नए-नए क्षेत्रों की पत्रकारिता का उभार दिखाई देने लगता है। इसके लिए हिंदी को नई शब्दावली और अभिव्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। वास्तव में किसी भी भाषा से बाह्यजगत की संकल्पनाओं को अपनी भाषा में ले आना और फिर उन्हें स्थापित कर लोकप्रिय बनाना आसान काम नहीं है लेकिन पत्रकारिता हमेशा से इस कठिन कार्य को अपनी पूरी दक्षता और दूरदृष्टि से साधती रही है। फिल्म पत्रकारिता का ही उदाहरण लें तो फिल्मों का जन्म भारत में नहीं हुआ और फिल्म तकनीक से लेकर उसकी वितरण व्यवस्था तक की भाषाई उद्‌भावना हमारी भाषाओं में नहीं थी। जब भारत में फिल्में बनना शुरू हुई और उन्हें अपार लोकप्रियता मिली तो पत्रकारिता ने बाह्यजगत के इस विषय क्षेत्र को स्थान दिया और इसकी अभिव्यक्ति का मार्ग बनाया। हिंदी पत्रकारिता में फिल्म पत्रकारिता लोकप्रियता के शिखर पर पहुंची तो इसीलिए कि उसने हिंदी भाषा को फिल्म-प्रयुक्ति की तकनीकी अभिव्यक्ति में भी समर्थ बनाया और पाठकों का ध्यान रखते हुए भाषा में रोचकता और मौजमस्ती की ऐसी छटा बिखेरी कि फिल्म पत्रकारिता की भाषा अपना एक निजी व्यक्तित्व लेकर आज हमारे सामने हैं।

छायांकन (फोटोग्राफी), ध्वनिमुद्रण (रिकार्डिंग), नृत्य निर्देशन (कोरियोग्राफी) जैसे पक्ष अनुवाद के माध्यम से पूरे किए गए तो शूटिंग, डबिंग, लोकेशन, आउटडोर, इनडोर, स्टूडियो को अंग्रेजी से यथावत ग्रहण करके हिंदी में प्रचलित किया गया। बॉक्स-आफिस के लिए टिकट-खिड़की जैसे प्रयोगों का प्रचलन हिंदी पत्रकारिता की सृजनात्मक दृष्टि और अंग्रेजी शब्द के संकल्पनात्मक अर्थ के भीतर जाकर हिंदी से नया शब्द गढ़ने की क्षमता का स्वत: प्रमाण है। फिल्मोद्योग जैसे संकर शब्दों की रचना भी हिंदी पत्रकारिता ने बड़ी संख्या में की जो आज अपनी अनिवार्य जगह बना चुके हैं, या कहा जाए कि हिंदी फिल्म पत्रकारिता की प्रयुक्ति का आधार बन चुके हैं। इस संकरता को हिंदी फिल्म पत्रकारिता वाक्य स्तर पर भी स्वीकृति देती है–कैमरा फेस करते हुए मुझे दिक्कत हुई।, एग्रीमेंट साइन करने के पहले मैं पूरी स्क्रिप्ट पढ़ता हूं, न्यूड सीन अगर एस्थेटिक ढंग से फिल्माया जाए तो मुझे कोई उज्र नहीं, 'फिजा' के प्रीमियर पर सभी स्टार मौजूद थे–इत्यादि।

इसका तात्पर्य यह है कि फिल्म पत्रकारिता ने हिंदी भाषा के माध्यम से नए अंग्रेजी शब्दों/संकल्पनाओं से भी क्रमश: अपने पाठकों को परिचित कराने का बड़ा काम किया है। वे थ्री-डायमेंशनल के साथ-साथ त्रि-आयामी का और ड्रीम-सीक्वेंस के

साथ-साथ स्वप्न-दृश्य का प्रयोग करते चलते हैं। पाठक जिस शब्द को स्वीकृति प्रदान करता है, वह स्थिर हो जाता है और अन्य दूसरे शब्द बाहर हो जाते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि पत्रकारिता किसी प्रयुक्ति-विशेष को बनाने या निर्मित करने का ही काम नहीं करती, बल्कि उसे चलाने, पाठकों तक ले जाकर उनकी सहमति जानने और लोकप्रियता की कसौटी पर इन्हें कसने का भी काम करती है। ऐसा ही क्षेत्र खेलकूद पत्रकारिता का भी है। क्रिकेट और टेनिस जैसे जो खेल सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। उनकी संकल्पनात्मकता भारतीय नहीं है। पत्रकारिता ने ही इन्हें हिंदी में उजागर करने का प्रयत्न किया है। खेलकूद की हिंदी पत्रकारिता ने अंग्रेजी भाषा के कई मूलशब्दों को यथावत अपनाया क्योंकि ये शब्द उन्हें पाठकीय बोध की दृष्टि से बाह्य लगे और इसीलिए इनके अनुवाद का प्रयत्न नहीं किया गया। जैसे, स्लिप, गली, मिड ऑन, मिड ऑफ, कवर, सिली प्वाइंट–जैसे शब्द जो क्रिकेट के खेल की एक विशेष रणनीति के शब्द हैं, अत: इस रणनीति को किसी शब्द के अनुवाद द्वारा नहीं, बल्कि शब्द की संकल्पना को हिंदी में व्यक्त करते हुए पाठकों के मानस में स्थापित किया गया। इतना ही नहीं, इन आगत शब्दों के साथ एक और प्रक्रिया भी अपनाई गई जिसे 'हिंदीकरण' की प्रक्रिया कहा जाता है अर्थात् इन अंग्रेजी शब्दों के साथ रूप-परिवर्तन के लिए हिंदी के रूपिमों को इस्तेमाल किया गया जैसे रन/रनों, पिच/चिं, विकेट/विकेटों, ओवर/ओवरों इत्यादि। कहीं-कहीं तो इस रूप-परिवर्तन के साथ ही ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी हिंदी की अपनी प्रकृति का रखा गया है जैसे कैप्टेन/कप्तान और कैप्टेंसी/कप्तानी। अनुवाद के दोनों स्तर खेलकूद पत्रकारिता की हिंदी में मिलते हैं-शब्दानुवाद और भावानुवाद। शब्दानुवाद के स्तर पर–टाइटिल/खिताब, सेंचुरी/शतक, सीरीज/श्रृंखला, वनडे/एकदिवसीय आदि को देखा जा सकता है तो भावानुवाद के स्तर पर एल॰ बी॰ डब्ल्यू॰/पगबाधा, कैच/लपकना आदि को।

इसका तात्पर्य यह है कि नई प्रयुक्तियों के निर्माण में हिंदी पत्रकारिता सृजनात्मकता को साथ लेकर चलती है। सृजन के अभाव में लोकप्रिय प्रयुक्ति निर्मित नहीं हो सकती। इस अभाव ने ही प्रशासनिक हिंदी को जटिल और अबूझ बना दिया है। इस सृजनात्मकता का हवाला उन अभिव्यक्तियों के जरिए भी दिया जा सकता है जो हिंदी की खेल पत्रकारिता ने विकसित की हैं। इन्हें हम हिंदी की 'अपनी अभिव्यक्तियां' भी कह सकते हैं, जैसे-पूरी पारी चौवन रन बनाकर धराशायी हो गई। इनके साथ ही हिंदी पत्रकारिता में अंग्रेजी की अभिव्यक्तियों को लोकप्रिय बनाने की प्रक्रिया भी दिखाई देती है–द्रविड़ अपने फॉर्म में नहीं थे। शोएब अख्तर की गेंदबाजी में किलिंग इंस्टिक्ट दिखाई दिया। रन लेते समय पिच की डेप्थ नहीं समझ पाए।

खेलकूद पत्रकारिता ने अंग्रेजी के तकनीकी शब्दों को अपने पाठकों में स्वीकार्यता दिलाई है और वाक्यों के बीच इनका प्रयोग करके धीरे-धीरे इन्हें हिंदी पत्रकारिता की शब्दावली के रूप में स्वीकार्य बना दिया है। नो बॉल, वाइड बॉल, बाउंड्री लाइन, ओवर द पिच, लेफ्ट आर्म, राइट आर्म-जैसे शब्द अब हिंदी पाठक के लिए अनजाने नहीं रह गए हैं। पत्रकारिता ने ये शब्द ही नहीं, इनके संकल्पनात्मक अर्थ भी अपने पाठकों तक पहुंचा दिए हैं। शब्द गढ़ना एक बात है और शब्दों को लोकप्रिय करके किसी प्रयुक्ति का अंग बना देना दूसरी बात है। हिंदी पत्रकारिता ने इस दूसरी बात को संभव करके दिखाया है। अत: आज यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि बाह्य जगत से संबंधित विभिन्न प्रयुक्तियों/उपप्रयुक्तियों के निर्माण, स्थिरीकरण और प्रचलन में हिंदी पत्रकारिता की भूमिका स्तुत्य है।

पत्रकारिता के माध्यम से आज खेल-तकनीक, खेल-प्रशिक्षण पर भी सामग्री प्रकाशित की जाती है। खिलाड़ियों और खेल संगठनों के पदाधिकारियों के साक्षात्कार इसे एक नया आयाम दे रहे हैं। यदि संचार के अन्य माध्यमों को भी यहां जोड़ लें तो रेडियो पर कमेंट्री और टीवी पर सीधे प्रसारण में जब से हिंदी को स्थान मिला है, एक विशेष प्रकार की खेलकूद की मौखिक प्रयुक्ति अस्तित्व में आई है। इस पर कुछ शोधकार्य भी हुए हैं जिन्हें और आगे ले जाने की जरूरत है।

संक्षेप में कहा जाए तो हिंदी पत्रकारिता ने समय के साथ चलते हुए और नवीनता के आग्रह को अपनाते हुए सामाजिक आवश्यकता के तहत हिंदी भाषा विकास का कार्य अत्यंत तत्परता, वैज्ञानिकता और दूरदृष्टि से किया है। सहज संप्रेषणीय भाषा में नई संकल्पनाओं को व्यक्त करने के लिए भाषा-निर्माण या कहें प्रयुक्ति-विकास का जैसा आदर्श बिना किसी सरकारी सहयोग या दबाव के हिंदी पत्रकारिता ने बनाकर दिखाया है, उसे भाषा विकास अथवा भाषा नियोजन में सामग्री नियोजन (कार्पस डेवलपमेंट) की आदर्श स्थिति कहा जा सकता है।

संदर्भ

- आज की हिन्दी और अनुवाद की समस्याऐं, रायवरपू श्री सरजू
- आज की हिन्दी पत्रकारिता, सुरेश निर्मल

शोधप्रज्ञ, जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

निराला एवं उनकी परवर्ती कविता में मुक्तिगान

विनय कुमार

'निराला' अपने साहित्य कर्म में इतने निराले रहे कि उन्होंने साहित्य में एक अत्यंत निराली परंपरा का ही निर्माण कर डाला। वे मानव, समाज, राजनीति, साहित्य आदि को बंधन मुक्त करने हेतु आजीवन संघर्ष करते रहे। समस्त प्रकार के अवांछनीय बंधनों को तोड़ने का श्रीगणेश सन् 1932 में 'तोड़ती पत्थर' से हुआ था। इससे पूर्व लोकप्रसिद्ध नायक-नायिकाओं, राजा-महाराजाओं, वीर पुरुषों अथवा श्रेष्ठ पात्रों पर ही काव्य सृजन किया जाता था। हां, गद्य में प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों तथा कहानियों ग्रामीण पात्रों, शोषित, पीड़ित, दलित, दैन्य से प्रताड़ित, अन्याय से कुचले हुए लोगों को अपने सृजन का केंद्र बिंदु बनाकर विगत परंपरा को तोड़ा था, किंतु काव्य सृजन तो परंपरा का ही अनुसरण कर रहा था। निराला जी की 'तोड़ती पत्थर' ने ही काव्य में इस परंपरा को तोड़ा है। काव्य को छंदों के शिकंजे से मुक्त कराने का श्रेय भी निराला जी को ही जाता है। उन्होंने ही छंदमुक्त कविता का सूत्रपात किया है। 'परिमल' की भूमिका में वे कहते हैं 'मुक्त काव्य से साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है।' इस साहसिक कृत्य हेतु उन्हें तत्कालीन बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों एवं संपादकों द्वारा बार-बार मानसिक यातनाएं दी गई, उनकी उपेक्षा की गई। 'सरोज स्मृति' में वे स्वयं लिखते हैं–

'तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि जीवन में व्यर्थ ही व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छंद
पर संपादक गण निरानंद'

नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं–'निराला' अंत:पुर के समस्त वैभव और उसकी सारी परतंत्रता से मुक्त कर कविता देवी को खुली हवा में ले आए''–वे आगे लिखते हैं–''स्वछंदता का अबाध स्वरूप निराला जी की रचनाओं में देखा जाता है, उनकी तुलना इस युग के किसी दूरे कवि से नहीं की जा सकती।

'तोड़ती पत्थर' ने न केवल विषयवस्तु या छंद के बंधन को तोड़ा है, वरन उसने जन मानस में दीनों के प्रति करुणा का भाव जागृत कर उन्हें दैन्य-मुक्त कराने हेतु प्रेरित भी किया है। चाहे वह इलाहाबाद के पथ पर चिलचिलाती धूप में पत्थर तोड़ने वाली श्रमिक महिला हो अथवा 'भिक्षुक'। उनके चित्रांकन की विशेषता यह है कि रसज्ञ भाव-विगलित हुए बिना नहीं रह पाता। प्रमाण स्वरूप 'भिक्षुक' कविता का एक अंश द्रष्टव्य है–

'वह आता पछताता पथ पर
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता'

निराला क्रांतिकारी कवि थे, जिसके लक्षण उनके साहित्य, विचार और आचरण तीनों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। महादेवी वर्मा के अनुसार 'निराला जी विचार से क्रांतिदर्शी और आचरण से क्रांतिकारी हैं। वे भारतीय कृषक के शोषण से न केवल क्षुब्ध दिखाई देते हैं वरन उसे शोषणमुक्त करने हेतु क्रांतिका का आह्वान करते हुए 'बादल-राग' में लिखते हैं–

'जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर
मुझे बुलाता कृषक अधीर

ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार'

भारतीय विधवा नारी का जीवन दु:ख के अथाह सागर में डूबा हुआ होता है। पुरुष-प्रधान, समाज-व्यवस्था में उसकी पीड़ा का कोई अंत नहीं है। निराला जी का परदुख: कातर, संवेदनशील हृदय उसे पीड़ा-मुक्त कराने हेतु छटपटाने लगता है। विधवा की पीड़ा का कारुणिक चित्रण करते हुए वे लिखते हैं–

'अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को
दुख रुखे-सूखे अधर त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में
दुख सुनता है आकाश धीर
निश्चल समीर
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर'

कबीर के पश्चात शोषण, अन्याय, अत्याचार से जुड़े लोगों को दबंग एवं निर्भीक तरीके से चुनौती देकर ललकारने का जो साहस निराली जी में दिखाई देता है, वैसा साहस अन्य कवियों में दिखाई नहीं देता। 'कुकुरमुत्ता' में अंग्रेजों को ललकार कर वे कहते हैं–

'अबे सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगो आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटिलिस्ट'

वे समाज को रुढ़ियों एवं सड़ी-गली मान्यताओं के बंधन से मुक्त करना चाहते थे। स्वयं अपनी पुत्री सरोज का भी विवाह उन्होंने बिना दहेज, बिना बारात तथा बिना किसी को आमंत्रित किए ही पुरानी सारी परंपराओं को तोड़कर एकदम नए ढंग से संपन्न कर डाला। वे स्वयं लिखते हैं–

'.....पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूं, यह नहीं सुघर
बारात बुलाकर मिथ्या-व्यय
मैं करूं नहीं ऐसा सुसमय
हो गया ब्याह आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न स्वजन
कोई थे नहीं, न आमंत्रण
था भेजा.....'

प्रस्तुत काव्यांश इस बात का प्रमाण है कि वे कोरे उपदेशक नहीं थे, अपितु वे जैसा सोचते थे, लिखते थे, उसी के अनुरूप आचरण भी करते थे। कथनी और करनी में अद्‌भुत एकरूपता के कारण ही वे अन्य कवियों से सर्वथा निराले थे। उन्होंने वैवाहिक परंपराएं तो तोड़ी ही, सरोज की मृत्यु पर उसका तर्पण भी वे अनोखे ढंग से करते हैं–

'कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर करता मैं तेरा तर्पण'

निष्कर्षत: निराला जी को मुक्ति का कवि कहा जा सकता है। मुक्ति विषमता से, मुक्ति भेदभाव से, मुक्ति विपन्नता से, शोषण से, अन्याय से, कुरीतियों से। वे समानता पर आधारित एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते थे, जिसके लिए वे आजीवन विरोधी शक्तियों से संघर्ष करते रहे। निराला जी के इस मुक्ति-संघर्ष में प्रयोगवादी कवियों ने भी सुर में सुर मिलाया है। द्वितीय महायुद्ध के भीषण दुष्परिणामों के फलस्वरूप अब मध्यवर्गीय समाज भूख और अनैतिकता के बीच पिसने लगा तो मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक-कवियों के हृदय में व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी और इसी के परिणाम स्वरूप अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न एवं शोषण से मध्यवर्गीय समाज को मुक्त कराने हेतु प्रयोगवादी काव्य का सृजन प्रारंभ हुआ। प्रयोगवादी रचनाओं का सूत्रपात 1943 में 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार-सप्तक' के प्रकाशन से माना जा सकता है। प्रयोगवादी कवियों ने जहां एक ओर अव्यवस्था के प्रति विद्रोह किया वहीं दूसरी ओर साहित्य की प्रचलित परंपराओं को भी बदलकर उनके स्थान पर नए शब्द, नए छंद, नए उपमान, नए प्रतीक आदि का प्रयोग प्रारंभ किया। विभिन्न नए प्रयोगों से युक्त होने के कारण ही इन कविताओं की प्रवृत्ति को 'प्रयोगवाद' के नाम से अभिहित किया गया। प्रयोगवाद के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं–'यह एक ऐसा व्यक्ति चाहता है जो समाज की कुरुपताओं, कलुषताओं, रुढ़ियों और खोखली परंपराओं के प्रति विद्रोह करता है। 'अज्ञेय', नेमीचंद जैन, रघुवीर सहाय, जगदीख गुप्त, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', केदारनाथ सिंह आदि उल्लेखनीय प्रयोगवादी कवि हैं।

बहुचर्चित प्रयोगवादी कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना नए-नए प्रतीकों के लिए सुविख्यात हैं किंतु उनकी रचनाओं में कतिपय ऐसे अंश भी विद्यमान हैं जिनमें सर्वहारा वर्ग को मुक्ति के क्रांतिकारी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है, यथा–

'बढ़ो बेशुमार
गंदी बस्तियों, झोपड़ों, गटरों से निकल
बनाकर कतार
चढ़ो इस जंगल पर
बनाकर विराट आरे की धार
साधिकार'

सुदामा पांडेय 'धूमिल' की कविताओं में भी अनेक नए प्रतीक तथा नए प्रयोग देखने को मिलते हैं। निराला-प्रसूत मुक्ति-यात्रा को आगे बढ़ाते हुए दैन्य से पीड़ित एक अत्यंत कारुणिक चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं–

'मेरे घर में पांच जोड़ी आंखें हैं
मां की आंखें पड़ाव से पहले ही
तीर्थयात्रा की बस के
दो पंचर पहिए हैं।
पिता की आंखें-
लोह सांय की ठंडी शलाखें हैं
बेटी की आंखें मंदिर के दीवट पर
क्यांकि हम पेशेवर गरीब हैं ।

कवि केदार नाथ सिंह को मुक्ति के अन्य मार्गों की अपेक्षा उन्हें कविता का मार्ग अधिक भाता है। उन्होंने कहा भी है–'मुक्ति का रास्ता होती है कविता'। उनका काव्य-संकलन 'उत्तर कबीर' और अन्य कविताएं इस बात की साक्षी हैं। ग्रामीणों के प्रति उनकी छटपटाहट प्रस्तुत काव्यांश में द्रष्टव्य हैं–

'क्या करूं मैं
क्या करूं, क्या करूं कि लगे
कि मैं इन्हीं में से हूं
इन्हीं का हूं
कि यही है मेरे लोग
जिनका मैं दम भरता हूं कविता में

'अज्ञेय प्रसूत प्रयोगवाद से लगभग 1950 में कवियों का एक समूह धर्मवीर भारती के साथ 'परिमल ग्रुप' के नाम से अलग हो गया। इस ग्रुप के कवियों की रचनाओं को 'नई कविता' की संज्ञा दी गई। इन कविताओं पर यूरोपीय साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रभाव है। डॉ॰ लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय लिखते हैं–1950 ई॰ से कहा जाता है कि 'नई कविता' में प्रयोगवादी कविता की अपेक्षा अधिक 'संतुलन' आने लगा और वह जीवन की नैकट्य प्राप्त करने लगी, मध्यवर्गीय कवियों द्वारा जीवन की विद्रूपता और विसंगति के तनाव-प्राप्त अनुभव की यथार्थता और तीव्रता उसमें आ गई, नकली मुखौटों और खोखली परंपराओं का भंडाफोड़ होने लगा। निराला जी के इस मुक्ति-संघर्ष को पुष्पित, पल्लवित करने में प्रगतिवादी कवियों की अहम भूमिका रही है, जिनमें रामेश्वर प्रसाद शुक्ल 'अंचल', भगवती चरण वर्मा, माखन लाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह सुमन, शमशेर बहादुर सिंह, शील, विजेन्द्र, ऋतुराज, राजेश जोशी, उदयप्रकाश, अरुण कमल, दिनेश शुक्ल आदि अनेक कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। प्रगतिवादी कवि मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। वे 'मानव-मानव एक समान' की विचारधारा को पुष्ट करने वाले कवि हैं। उनके काव्य में कल्पना की कोरी उड़ान न होकर यथार्थ का सहज, सरल चित्रण होता है। प्रगतिवादी कवि साहित्य को जीवन से अलग नहीं मानते पूंजीवाद का विरोध तथा सर्वहारा वर्ग को दैन्य-मुक्त कर उन्हें समानता का अधिकार दिलाना ही उनके काव्य का मूल उद्देश्य है, और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही वे निर्धन कृषक, शोषित, श्रमिक, दलित, पीड़ित, घृणित एवं उपेक्षित पात्रों को अपने काव्य की विषयवस्तु बनाकर उन पर काव्य-सृजन करते हैं।

मुक्ति के प्रबल समर्थक मुक्तिबोध पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰ पद्मा पाटिल लिखती हैं–'मुक्तिबोध मानव की मुक्ति चाहते हैं, उन्हें पूंजीवादियों द्वारा होने वाले शोषण से अत्यंत चिढ़ है।' उनका यह दृढ़ विश्वास है कि संगठित होकर संघर्ष करने से ही पीड़ितावस्था से व्यक्ति की मुक्ति संभव है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में लिखते हैं–

'अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले नहीं मिलते'

'अंधेरे में' कविता में मुक्तिबोध एक अत्यंत मर्मस्पर्श चित्र उकेरते हुए लिखते हैं–

'गरीबों का वहीं घर, वही छत
उसके ही तल-खोह अंधेरे में सो रहे
गृह हीन कई प्राण
अंधेरे में डूब गए
डालों में लटके जो मटमैले चिथड़े
किसी एक अति दीन
पागल के धन वे
हां, वहां रहता है सिरफिरा कोई

मुक्तिबोध की कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा सर्वहारा वर्ग में प्रतिरोधी शक्तियों से टकराने का साहस जागृत कर उनके आत्मबल को बढ़ाया है।

केदारनाथ अग्रवाल की कविता 'पैतृक संपत्ति' में भारतीय किसान को ऋणमुक्त तथा क्षुधा-मुक्त कराने का मर्मस्पर्शी आग्रह किसी भी सहृदय व्यक्ति को सोचने पर विवश कर देता है–

'बनिया के रुपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता
बस यही नहीं जो भूख मिली
सौ गुनी बाप से अधिक मिली
अब पेट खिलाए फिरता है
चौड़ा मुंह बाए फिरता है
वह क्या जाने आजादी क्या ?
आजाद देख की बातें क्या ?

प्रस्तुत काव्यांश पाठक के हृदय में मात्र करुणा का भाव जागृत करने का ही कार्य नहीं करता वरन शोषक वर्ग के प्रति आक्रोश पैदा कर उनसे संघर्ष करने का साहस भी पैदा करता है। बचपन से ही अभाव का कड़वा पीते आ रहे बाबा नागार्जुन

के मन में अमानवीय शक्तियों के विरुद्ध विद्रोही भावना का जागृत होना स्वाभाविक ही है। फलस्वरूप उनका संपूर्ण काव्य क्रांति से ओत-प्रोत है। उन्हें दृढ़ विश्वास है कि एक-न-एक दिन सर्वहारा वर्ग अपने हक के लिए अवश्य उठ खड़ा होगा और कुबेरों से पंजा लड़ाकर अपने अधिकार छीन लाएगा। 'वह कौन था ' में वे स्पष्ट घोषणा करते हुए लिखते हैं–

'आज बंधन-मोक्ष के त्योहार का आरंभ होता है
उपद्रव, उत्पात कहकर कुबेरों का वर्ग रोता है
मशीनों पर और श्रम पर, उपज के सब साधनों पर
सर्वहारा स्वयं अपना करेगा अधिकार स्थापित'

ऐसी निर्भीक एवं दबंग घोषणा पीड़ा का भुक्तभोगी बाबा नागार्जुन जैसा सर्वहारा वर्ग का हितचिंतक ही कर सकता है। श्रम-जीवियों की ऐसी सबल एवं निष्ठावान पक्ष धरता बहुत कम कवियों में देखने को मिलती है। बाबा शोषित वर्ग में धधकती मुक्ति की ज्वाला को देखकर मुग्ध हो उठते हैं और कहते हैं–

'लहरा उट्ठी है
कदम-कदम पर, इस माटी पर!
महामुक्ति की अग्नि-गंध
ठहरो-ठहरो इन नयनों में इसको भर लूं
अपना जनम सकारथ कर लूं !

आज तक न जाने कितने 'नारी-मुक्ति-आंदोलन' चलाए गए, कितने विधान तैयार किए गए, कितनी समाजसेवी संस्थाओं ने एतदर्थ वाहवाही लूटी किंतु नारी की स्थिति में, उसकी दासता में कोई विशेष सकारात्मक परिवर्तन नहीं आया। नारी की इस दयनीय स्थिति से क्षुब्ध होकर प्रगतिवादी कवि शील जी उस पर प्रश्नों की झड़ी-सी लगाते हुए, उसे झकझोर कर दासता के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं–

'आज भी तुम
दान दी जाती हो कन्यादान में
यह नहीं दासत्व तो फिर और क्या
आज भी तुम बिक रही बाजार में
यह नहीं दासत्व तो फिर और क्या

लगभग अर्धशताब्दी की लंबी यात्रा तय कर निराला जी द्वारा प्रारंभ की गई मुक्ति-यात्रा बीसवीं शती के नवें दशक तक आ पहुंचती है। इन पचास वर्षों के काव्य में व्यक्त मुक्ति की भावना को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ मुक्तेश्वर नाथ तिवारी लिखते हैं–'मुक्ति कविता की ही नहीं, व्यापक और आवश्यक अर्थ में समकालीन जड़ताओं, दोषों, कुरीतियों, अंधविश्वासों से भी मुक्ति। विषमता से मुक्ति, शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति, छल-प्रपंच और अंधेरों से मुक्ति ।' प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह मुक्ति का संघर्ष कब तक? इसका उत्तर देते हुए डॉ॰ तिवारी आगे लिखते हैं–'शती के अंत की हिंदी कविता को आदर्श स्थिति बहाल करने की फिक्र है और जब तक यह स्थिति बहाल नहीं होती, कविता का तद्विषयक संघर्ष जारी रहेगा, ऐसा कहा जाता है। इसीलिए विगत कुछ दशकों से व्यवस्था विरोध का मुहावरा कविता में अक्षुण्ण, स्थिर होकर रह सका है क्योंकि आदर्श का कायम होना अभी वांछित ही है। प्रगतिवादी कवियों के साहित्य पर अनिल सिन्हा ने बड़ी ही सार्थक टिप्पणी करते हुए लिखा है–'हिंदी कविता में भूख, गरीबी, शोषण, शोषण का प्रतिरोध, भूख और गरीबी से निजात पाने की कोशिश, श्रम के महत्व को सामने लाना, एक सुंदर बराबरी वाली दुनिया के निर्माण की आकांक्षा, सामंती समाज के स्वरूप तथा नागरिक अधिकारों के हनन और इसके विरुद्ध चेतना का विकास-ऐसी तमाम स्थितियों का बड़ी शिद्दत से और कई बार कलात्मकता के साथ प्रवेश हुआ'। यदि हम मानव मुक्ति के उद्देश्य से सृजित संपूर्ण साहित्य पर दृष्टिपात करें तो अनिल सिन्हा जी के कथन का सत्यापन एवं सार्थकता स्वत: ही सिद्ध हो जाती है।

संदर्भ

- आधुनिक हिन्दी कवि के केन्द्रीय कवि निराला, सी.जे. प्रसन्न कुमारी
- अनकहा निराला, जानकी वल्लभ शास्त्री

शोध प्रज्ञ
मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

गणेश शंकर 'विद्यार्थी' का अद्भुत 'प्रताप'

डॉ. डी॰ एन॰ सिन्हा

साहित्य की सदैव से समाज में प्रमुख भूमिका रही है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान पत्र-पत्रिकाओं में विद्यमान क्रांति की ज्वाला क्रांतिकारियों से कम प्रखर नहीं थी। इनमें प्रकाशित रचनाएं जहां स्वतंत्रता आंदोलन को एक मजबूत आधार प्रदान करती थीं, वहीं लोगों में बखूबी जन जागरण का कार्य भी करती थीं। गणेश शंकर 'विद्यार्थी' साहित्य और पत्रकारिता के ऐसे ही शीर्ष स्तंभ थे, जिनके अखबार 'प्रताप' ने स्वाधीनता आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभायी। प्रताप के जरिये न जाने कितने क्रांतिकारी स्वाधीनता आंदोलन से रूबरू हुए, वहीं समय-समय पर यह अखबार क्रांतिकारियों हेतु सुरक्षा की ढाल भी बना।

गणेश शंकर 'विद्यार्थी' का जन्म 26 अक्टूबर 1890 को अपने ननिहाल अतरसुइया, इलाहाबाद में हुआ था। उनके नाना सूरज प्रसाद श्रीवास्तव सहायक जेलर थे, अत: अनुशासन उन्हें विरासत में मिला। गणेश शंकर के नामकरण के पीछे भी एक रोचक वाक्या है–उनकी नानी ने सपने में अपनी पुत्री गोमती देवी के हाथ गणेश जी की प्रतिमा दी थी, तभी से उन्होंने यह माना था कि यदि गोमती देवी का कोई पुत्र होगा तो उसका नामकरण गणेश शंकर किया जायेगा। मूलत: फतेहपुर जनपद के हथगांव क्षेत्र के निवासी गणेश शंकर के पिता मुंशी जयनारायण श्रीवास्तव ग्वालियर राज्य में मुंगावली नामक स्थान पर अध्यापक थे। गणेश शंकर आरंभ से ही किताबें पढ़ने के काफी शौकीन थे, इसी कारण मित्रगण उन्हें 'विद्यार्थी' कहते थे। बाद में उन्होंने यह उपनाम अपने नाम के साथ लिखना आरंभ कर दिया। विद्यार्थी जी की प्रारंभिक शिक्षा पिता जी के स्कूल मुंगावली, जहां वे एंग्लो-वर्नाकुलर मिडिल स्कूल में अध्यापक थे; में हुई। विद्यार्थी जी उर्दू, फारसी एवं अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। 1904 में उन्होंने भलेसा से अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा पास की, जिसमें पहली बार हिंदी द्वितीय भाषा के रूप में मिली थी। तत्पश्चात पिताजी ने विद्यार्थी जी को पढ़ाई के साथ-साथ नौकरी करने के लिए बड़े भाई शिवव्रत नारायण के पास कानपुर भेज दिया। कानपुर में आकर विद्यार्थी जी ने क्राइस्ट चर्च कॉलेज की प्रवेश परीक्षा दी पर भाई का तबादला मुंगावली हो जाने से आगे की पढ़ाई फिर वहीं हुई। वर्ष 1907 में विद्यार्थी जी आगे की पढ़ाई के लिए कायस्थ पाठशाला गये। इलाहाबाद प्रवास के दौरान विद्यार्थी जी की मुलाकात 'कर्मयोगी' साप्ताहिक के संपादक सुंदर लाल से हुई एवं इसी दौरान वे उर्दू पत्र 'स्वराज्य' के संपर्क में भी आए। गौरतलब है कि अपनी क्रांतिधर्मिता के चलते 'स्वराज्य' पत्र के आठ संपादकों को सजा दी गई थी, जिनमें से तीन को कालापानी की सजा मुकर्रर हुई थी। सुंदरलाल उस दौर के प्रतिष्ठित संपादकों में से थे। लोकमान्य तिलक को इलाहाबाद बुलाने के जुर्म में उन्हें कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया था एवं इसी कारण उनकी पढ़ाई भी भंग हो गई थी। सुंदरलाल के संपर्क में आकर विद्यार्थी जी ने 'स्वराज्य' एवं 'कर्मयोगी' के लिए लिखना आरंभ किया। यहीं से पत्रकारिता एवं क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति उनकी आस्था भी बढ़ती गई।

इलाहाबाद से गणेश शंकर 'विद्यार्थी' कानपुर आये एवं इसे अपनी कर्मस्थली बनाया। कानपुर में कलकत्ता से अरविंद घोष द्वारा संपादित 'वन्देमातरम्' ने विद्यार्थी जी को आकृष्ट किया एवं इसी दौरान उनकी मुलाकात पं॰ पृथ्वीनाथ मिडिल स्कूल के अध्यापक नारायण प्रसाद अरोड़ा से हुई। अरोड़ा जी की सिफारिश पर विद्यार्थी जी को उसी स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गई। पर पत्रकारिता की ओर मन से प्रवृत्त विद्यार्थी जी का मन यहां भी नहीं लगा और नौकरी अन्तत: छोड़ दी। उस समय महावीर प्रसाद द्विवेदी कानपुर में ही रहकर 'सरस्वती' का संपादन कर रहे थे। विद्यार्थी जी इस पत्र से भी सहयोगी रूप में जुड़े रहे। एक तरफ पराधीनता का दौर, उस पर से अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचार ने विद्यार्थी जी को झकझोर कर रख दिया। उन्होंने पत्रकारिता को राजनैतिक चेतना से जोड़कर कार्य करना आरंभ किया। इसी दौरान वे इलाहाबाद लौटकर वहां से प्रकाशित साप्ताहिक 'अभ्युदय' के सहायक संपादक भी रहे। पर विद्यार्थी जी का मनोमस्तिष्क तो कानपुर में बस चुका था, अत: वे पुन: कानपुर लौट आए।

कानपुर में विद्यार्थी जी ने 1913 से साप्ताहिक 'प्रताप' के माध्यम से न केवल क्रांति का नया प्राण फूंका बल्कि इसे एक ऐसा समाचारपत्र बना दिया जो सारी हिन्दी पत्रकारिता की आस्था और शक्ति का प्रतीक बन गया। प्रताप प्रेस में कंपोजिंग के अक्षरों के खाने में नीचे बारूद रखा जाता था एवं उसके ऊपर टाइप के अक्षर। ब्लाक बनाने के स्थान पर नाना प्रकार के बम

बनाने का सामान भी रहता था। पर तलाशी में कभी भी पुलिस को ये चीजें हाथ नहीं लगीं। विद्यार्थी जी को 1929-1939 तक पांच बार जेल जाना पड़ा और यह प्राय: 'प्रताप' में प्रकाशित किसी समाचार के कारण ही होता था। विद्यार्थी जी ने सदैव निर्भीक एवं निष्पक्ष पत्रकारिता की। उनके पास पैसा और समुचित संसाधन नहीं थे, 'प्रताप' प्रेस के निकट तहखाने में ही एक पुस्तकालय भी बनाया गया, जिसमें सभी जब्तशुदा क्रांतिकारी साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाएं उपलब्ध थी। यह 'प्रताप' ही था जिसने दक्षिण अफ्रीका से विजयी होकर लौटे तथा भारत के लिये उस समय तक अनजान महात्मा गांधी की महत्ता को समझा और चंपारण-सत्याग्रह की नियमित रिपोर्टिंग कर राष्ट्र को गांधी जी जैसे व्यक्तित्व से परिचित कराया। चौरी-चौरा तथा कारोरी काण्ड के स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा रचित सुप्रसिद्ध देशभक्ति कविता 'पुष्प की अभिलाषा' प्रताप अखबार में ही मई 1922 में प्रकाशित हुई। बालकृष्ण शर्मा नवीन, सोहन लाल द्विवेदी, स्नेहीजी, प्रताप नारायण मिश्र इत्यादि ने प्रताप के माध्यम से अपनी देशभक्ति को मुखर आवाज दी।

विद्यार्थी जी एक पत्रकार के साथ-साथ क्रांतिधर्मी भी थे। वे पहले ऐसे राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने काकोरी षड्यंत्र केस के अभियुक्तों के मुकदमे की पैरवी करवायी और जेल में क्रांतिकारियों का अनशन तुड़वाया। कानपुर को क्रांतिकारी गतिविधियों का केन्द्र बनाने में विद्यार्थी जी का बहुत बड़ा योगदान रहा है। सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, विजय कुमार सिन्हा, राजकुमार सिन्हा जैसे तमाम क्रांतिकारी विद्यार्थी जी से प्रेरणा पाते रहे। वस्तुत: प्रताप प्रेस की बनावट ही कुछ ऐसी थी कि जिसमें छिपकर रहा जा सकता था तथा फिर सघन बस्ती में तलाशी होने पर एक मकान से दूसरे मकान की छत पर आसानी से जाया जा सकता था। बनारस षड्यंत्र से भागे सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य प्रताप अखबार में उपसंपादक थे। बाद में भट्टाचार्य और प्रताप अखबार से ही जुड़े पं॰ राम दुलारे त्रिपाठी को काकोरी काण्ड में सजा मिली। भगत सिंह ने तो 'प्रताप' अखबार में बलवंत सिंह के छद्म नाम से लगभग ढ़ाई वर्ष तक कार्य किया। सर्वप्रथम दरियागंज, दिल्ली में हुए दंगे का समाचार एकत्र करने के लिए भगत सिंह ने दिल्ली की यात्रा की और लौटकर 'प्रताप' के लिए सचिन दा के सहयोग से दो कालम का समाचार तैयार किया। चन्द्रशेखर आजाद से भगत सिंह की मुलाकात विद्यार्थी जी ने ही कानपुर में करायी थी, फिर तो शिव वर्मा सहित तमाम क्रांतिकारी जुड़ते गये। यह विद्यार्थी जी ही थे कि जेल में भेंट करके क्रांतिकारी राम प्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा छिपाकर लाये तथा उसे 'प्रताप' प्रेस के माध्यम से प्रकाशित करवाया। जरूरत पड़ने पर विद्यार्थी जी ने राम प्रसाद बिस्मिल की मां की मदद की और रोशन सिंह की कन्या का कन्यादान भी किया। यही नहीं अशफाकउल्ला खान की कब्र भी विद्यार्थी जी ने ही बनवाई। विद्यार्थी जी का 'प्रताप' तमाम महापुरुषों को भी आकृष्ट करता था। 1916 में लखनऊ कांग्रेस के बाद महात्मा गांधी और लोकमान्य तिलक इक्के पर बैठकर प्रताप प्रेस आये एवं वहां दो दिन रहे। 1924 के कानपुर कांग्रेस अधिवेशन के दौरान विद्यार्थी जी स्वागत मंत्री रहे और जवाहर लाल नेहरू के साथ-साथ घोड़े पर चढ़कर अधिवेशन स्थल का भ्रमण करते थे। यह विद्यार्थी जी ही थे जिन्होंने श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' को प्रताप प्रेस में रखा एवं उनके गान 'राष्ट्र पताका नमो-नमो' को 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा' में तब्दील कर दिया। विद्यार्थी जी सिद्धांतप्रिय व्यक्ति थे। एक बार जब ग्वालियर नरेश ने उन्हें सम्मानित किया और कहा कि मुझे खुशी है कि आपके पिताजी मेरे अंतर्गत मुंगावली में कार्यरत रहे हैं, परंतु आप मेरे बारे में अपने अखबार में लगातार विरोधी खबरें छाप रहे हैं तो विद्यार्थी जी ने निडरता से कहा कि मैं आपका और पिताजी के आपसे संबंधों का सम्मान करता हूं, परंतु इसके चलते अखबार के साथ अन्याय नहीं कर सकता। हां, यदि आप इन खबरों का प्रतिवाद लिखकर भेजेंगे तो अवश्य प्रकाशित करूंगा।

कालांतर में विद्यार्थी जी गांधीवादी विचारधारा से काफी प्रभावित हुए एवं यह उनकी लोकप्रियता का भी सबब बना। वे क्रांतिकारियों एवं गांधीवादी विचारधारा के अनुयायियों के लिए समान रूप से प्रिय थे। इस बीच अंग्रेजी हुकूमत ने 23 मार्च 1931 को भगत सिंह को फांसी पर चढ़ा दिया तो भारतीय जनमानस आगबबूला हो उठा। अंग्रेजी निर्दयता के विरुद्ध जनमानस सड़कों पर उतर आया। निडर एवं साहसी व्यक्तित्व के धनी तथा सांप्रदायिकता विरोधी विद्यार्थी जी इस दौरान भड़के हिन्दू-मुस्लिम दंगों को शांत कराने के लिए लोगों के बीच उतर पड़े। उधर विद्यार्थी जी के प्रताप से अंग्रेजी हुकूमत भी भयभीत थी। रायबरेली में मशीगंज गोली काण्ड के तहत 'प्रताप' पर मानहानि का केस चल रहा था और अंग्रेज बार-बार यह संदेश दे रहे थे कि जब तक कानपुर में 'प्रताप' जीवित है, तब तक प्रदेश में शांति स्थापना मुश्किल है। भड़की हिंसा को काबू करने के दौरान 25 मार्च 1931 को विद्यार्थी जी सांप्रदायिकता की भेंट चढ़ गए। उनका शव अस्पताल की लाशों के मध्य पड़ा मिला। वह इतना फूल गया था कि उसे पहचानना तक मुश्किल था। नम आंखों से 29 मार्च को विद्यार्थी जी का अंतिम संस्कार कर दिया गया पर 'प्रताप' के माध्यम से 'विद्यार्थी' जी ने राजनैतिक आंदोलन, क्रांतिकारी चेतना, क्रांतिधर्मी पत्रकारिता एवं साहित्य को जो ऊंचाइयां दीं, उसने उन्हें अमर कर दिया एवं इसकी आंच में ही अंतत: स्वाधीनता की लौ प्रज्जवलित हुई।

अंग्रेजी विभाग, बी.एन. कॉलेज, पटना

भट्टारक संप्रदाय और आचार्य सकलकीर्त्ति

राकेश कुमार चौधरी

भट्टारक शब्द एक विशिष्ट कोटि के जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इस संप्रदाय के जैन मुनिचर्या अथवा यतिचर्या के विपरीत विभिन्न धर्मपीठों पर प्रतिष्ठित धार्मिक शासक का कार्य किया करते थे। ये राजगुरु के नाम से विख्यात थे और अपने संलग्न मठ से संबद्ध भू-संपदा प्रभृति की व्यवस्था का संपादन किया करते थे। इस प्रकार, इस संप्रदाय का झुकाव साधुचर्या से अधिक शासक-चर्या की ओर हो गया, यह स्पष्ट होता है।[1]

भट्टारक परंपरा दिगंबर और श्वेताम्बर इन दोनों ही संप्रदायों में दृष्टिगोचर होती है। दक्षिण भारत में दिगंबर संप्रदाय और उत्तर भारत में श्वेतांबर संप्रदाय प्रचलित थे। भगवान् महावीर के अनन्तर दिगंबर परंपरा में गौतम इन्द्रभूमि प्रभृत्ति तथा श्वेताम्बर परंपरा में आर्य जम्बूस्वामी के बाद यशोभद्र प्रभृति आचार्यों का नामोल्लेख प्राप्त होता है।[2]

जैन साधुमण्डली की क्रमागत सामान्य स्थिति से इस संप्रदाय की भिन्नता का कारण वस्त्रधारण को कहा जाता है। प्राचीन काल में ही वस्त्रधारण के विषम पर विवाद उत्पन्न हो चला था जिसका समाधान आचार्य कुन्दकुन्द के सभापतित्व में संपन्न समिति में किया गया। तदनुसार, उक्त समिति में दिगम्बरत्व का ही सर्वतोभावेन समर्थन किया गया था। व्यावहारिक जीवन में भट्टारकों के लिए वस्त्रधारण को यद्यपि अनुमोदित किया गया तथापि उन्हें दिगम्बरत्व की चर्या को, सीमित समय के लिए ही सही, व्यवहार में लाना आवश्यक माना गया। दिगंबरत्व के इस आदर्श को अपनाने के कारण ही श्वेतांबर-संप्रदाय से भट्टारक संप्रदाय की भिन्नता स्थापित हुई। इस संप्रदाय की भिन्नता का एक दूसरा प्रमुख कारण मठ-मंदिरों का आवासीय परिसर के रूप में निर्माण तथा उपयोग, भूमिदान के ग्रहण एवं कृषिकर्म की व्यवस्था के विधान में भट्टारकों की संलग्नता को कहा गया है।[3]

ये दो प्रथाएं-दिगंबरत्व एवं शासकत्व-भट्टारकों को सामान्य जैन-साधुओं की मण्डली से पृथक रूप में प्रकट करतीं हैं। अब, धार्मिक राजगुरु के रूप में इनकी प्रतिष्ठा हो गयी और ये अब, राजा के समान ही छत्र, चामर, पालकी प्रभृति को व्यवहार में लाने लगे। इनका परिधान भी राजसी हो गया जिसमें जरी और बेल-बूटे की कलाकारी दीख पड़ने लगी। ये अब अपने कमण्डलु और पिच्छों में सोने-चांदी का उपयोग करने लगे। धर्मयात्रा के समय इनके साथ सेवकों, परिचारिकाओं, श्रावकों एवं श्राविकाओं तथा गाड़ी-घोड़ों की व्यवस्था की जाती थी। भट्टारकों का पट्टाभिषेक महोत्सव राजाओं के राज्यभिषेक महोत्सव के समान ही प्रभूत व्ययसाध्य हुआ करता था। इसके आयोजन में आवश्यक व्यय कार्य के लिए वित्त की व्यवस्था समृद्ध श्रावक की ओर से की जाती थी। ईसा की तेरहवीं सदी के आस-पास भट्टारक संप्रदाय की विशिष्टताएं स्थिर हो चुकी थीं।[4]

कार्यस्थल

भट्टारक संप्रदाय के आचार्यों की विहार-यात्राएं पूर्व भारत में सम्मेदशिखर, चम्पापुर, पावापुर तथा प्रयाग तक की जाती थीं। परंतु इस क्षेत्र में इनके किसी पीठ का प्रमाण प्राप्त नहीं होता है।[5]

महाराष्ट्र-विषय में मलखेड़, कारजा, लातूर तथा कोल्हापुर में इनके पीठ अवस्थित थे। इनके अतिरिक्त विदर्भ में रिद्धिपुर, बालापुर, रामटेक, अमरावती, एलिचपुर तथा नागपुर प्रभृति स्थानों में अवस्थित पीठों के अतिरिक्त मराठवाड़ा क्षेत्र में जिंतुर, नांदेड़, देवगिरि, पैठन प्रभृति स्थानों के पीठ शिष्यों की समृद्धि एवं बाहुल्य के लिए सुविश्रुत थे।

गुर्जर-क्षेत्र में सूरत, नवसारी, भड़ौच, खंभात, जांबूसर, ईडर प्रभृति स्थानों में भट्टारकों का प्रभावोत्कर्ष विद्यमान था। मालवा क्षेत्र में धारानगरी जैन धर्म का केंद्र था। ग्वालियर और सोनागिरि में भी भट्टारक-पीठ स्थापित थे। राजस्थान में जयपुर, अजमेर, चित्तौड़-प्रभृति स्थानों में भट्टारक-पीठ विद्यमान थे।

भट्टारक संप्रदाय ग्रंथ के अनुसार भारत में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या-बहुलता के बावजूद बौद्ध धर्म के विलुप्त हो जाने का एक प्रमुख कारण भट्टारक संप्रदाय जैसी संस्था का अभाव भी रहा है। इस संस्था के सद्भाव के कारण ही आज भारत में जैन धर्म अस्तित्व शील है। व्यवहार में भट्टारकों के लिए वस्त्र-धारण का समर्थन किया गया। परंतु स्वल्प काल के लिए ही सही नग्नता का अवलंबन करना परम आवश्यक कहा गया है।[6]

भट्टारक संप्रदाय के कार्य-कलाप

*(क) **मूर्ति-प्रतिष्ठा तथा मंदिर-निर्माण:*** भट्टारकों की जीवनचर्या में मूर्तिप्रतिष्ठा और मंदिरों के निर्माझा की कर्त्तव्यता का सर्वप्रमुख स्थान था। इस कालखंड में मूर्तिप्रतिष्ठा का कार्य इतने व्यापक रूप में हुआ कि आज के समाज के लिए उनकी रक्षा करना भी अतीव कठिन कार्य हो गया है। मूर्तियों के प्रकार के अंतर्गत तीर्थंकर, नन्दीश्वर, सरस्वती-प्रभृति के प्रकार मुख्य थे। इन सभी मूर्तियों में पार्श्वनाथ की मूर्ति की संख्या अत्यधिक है। मूर्तियों के अतिरिक्त यंत्रों की रचना भी अधिक संख्या में की गयी प्राप्त होती है। मूर्तियों की पादपीठिका में भ्रष्ट संस्कृत के अतिरिक्त कहीं-कहीं हिन्दी, मराठी प्रभृति लोकभाषा में अभिलेख प्राप्त होते हैं। इन अभिलेखों में लेख का समय, प्रतिष्ठापक श्रेष्ठी की पूर्वज परंपरा, प्रतिष्ठा के उत्प्रेरक भट्टारक की गुरु-परंपरा, स्थान, शासक-नाम एवं मंगल-वाक्य का उल्लेख हुआ करता था। इन मूर्तियों में ग्वालियर की मूर्तियां विशालता के कारण उल्लेखनीय है।[7]

*(ख) **ग्रंथों की रचना तथा उनका संरक्षण:*** पुराण, कथा और पूजापाठ जैसे विषयों से संबद्ध रचनाओं की संख्या बहुत ही समृद्ध है। इस युग में रचित पुराणों और कथाओं की भूमि जिनसेन-रचित हरिवंशपुराण, रविषेण-रचित पद्मपुराण और जिनसेन-रचित महापुराण द्वारा निर्मित की गयी हैं। इनमें भट्टारक सकलकीर्त्ति तथा भट्टारक शुभचन्द्र के पुराण प्रशंसनीय हैं।

पूजापाठ से संबद्ध ग्रंथों के अंतर्गत, स्नोत्र, जयमाला, आरती प्रभृति के ग्रंथ प्रमुख थे। प्रतिष्ठित मूर्तियों एवं यंत्रों की आत्मा को जीवित रखने के लिए पूजापाठ अतीव आवश्यक थे। ये पूजापाठ के ग्रंथों की भाषा में गेयता का अपूर्व गुण था। जिससे इनकी लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हुई।

शास्त्रीय ग्रंथों के अंतर्गत भट्टारक धर्मभूषण-रचित न्यायदीपिका तथा भट्टारक शुभचन्द्र रचित संशयि-वदन-विदारण गंभीर रचनाएं हैं। आचार-धर्म पर षट्कर्मोपदेश और त्रैवर्णिकाचार उल्लेखनीय हैं। भट्टारक ज्ञानभूषण तथा भट्टारक सुमतिकीर्ति द्वारा रचित कर्मकाण्ड-टीका उल्लेखनीय ग्रंथ है। भट्टारक शुभचन्द्र द्वारा प्राकृत भाषा के एक व्याकरण-ग्रंथ का भी परिचय प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त विविध भट्टारकों तथा उनकी शिष्यमण्डली द्वारा संस्कृत शब्दकोष, अनेकार्थ-नाममाला हिन्दी कोष, ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रंथ तथा समवसरण प्रभृति विषयों पर लघुकाय कविताएं भी रची गयी हैं।

भट्टारक-पद पर प्रतिष्ठित महापुरुषों के कार्यों में से प्राचीन पुस्तकों की पांडुलिपियों का संरक्षण और उनका प्रतिलेखन सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। प्राचीन ग्रंथों की प्रतिलिपियां कराकर विभिन्न व्रतोद्यापन के शुभ अवसर पर मुनियों तथा आर्यिकाओं को दान के रूप में उन्हें समर्पित किया जाता था। इसके अतिरिक्त पठन-पाठन की परंपरा में उपयोग के लिए भी ग्रंथों की प्रतिलिपियां प्रस्तुत करायी जाती थी। इन हस्तलिखित ग्रंथों की समाप्ति पर निबद्ध प्रशस्तिमूलक पुष्पिकाओं का ऐतिहासिक मूल्य अत्यधिक है।[8]

*(ग) **शिष्य-परंपरा:*** ब्राह्मण-परंपरा में विद्याध्ययन की व्यवस्था कुल परंपरा पर आधृत थी जिससे यह व्यवस्था सुदृढ़ता के साथ चलती रही। परंतु जैन परंपरा में ऐसी बात नहीं थी। अत: ब्राह्मण-परंपरा के विद्याध्ययन की व्यवस्था के समान उसमें ऐसी सुदृढ़ता के साथ चलती रही। परंतु जैन परंपरा में ऐसी बात नहीं थी। इस अभाव को दूर करने में भट्टारक संप्रदाय ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की। बहुधा गुरुओं से भी अधिक यशस्वी उनके शिष्यगण हो गये हैं। इस संदर्भ में ब्रह्म जिनदास, श्रुतसागर सूरि, पण्डित राजमल्ल-प्रभृति शिष्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। विविध भट्टारक-पीठों में सौमनस्य एवं सौहार्द के संरक्षण-कार्य में भट्टारकों की शिष्य परंपरा का उल्लेखनीय योगदान रहा था। इस प्रसंग में दक्षिण के पण्डित देव तथा नागचन्द्र जैसे विद्वानों के नाम एवं उत्तर के जिनचन्द्र तथा ज्ञानभूषण जैसे भट्टारकों के नाम अविस्मरणीय हैं। भट्टारकों की शिष्य-परंपरा को विभिन्न महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों के प्रतिलिपीकरण वितरण तथा उनके पठन-पाठन की व्यवस्था को प्रवर्त्तमान रखने का प्रशंसनीय श्रेय प्राप्त है।[9]

(घ) तीर्थयात्रा: मध्ययुगीन जैन समाज में तीर्थ-यात्रा को धार्मिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार तीर्थक्षेत्रों के दो भेद होते हैं–सिद्धक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्र। जिस स्थान पर किसी तीर्थकर या मुनि को निर्वाण की प्राप्ति हो चुकी होती है उसे सिद्धक्षेत्र कहा जाता है और जिस स्थान पर किसी व्यक्ति-विशेष, मूर्ति अथवा दिव्य चमत्कारिक घटना को श्रद्धापूर्वक स्मरणीय बनाने की दृष्टि से क्षेत्र स्थापित किया गया हो उसे अतिशय-क्षेत्र कहा जाता है। तदनुसार, पश्चिम भूभाग में अवस्थित सिद्धक्षेत्रों में गिरनार और शत्रुंजय जैसे सिद्ध क्षेत्रों को महती प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसी प्रकार पूर्व में सम्मेदशिखर, चम्पापुरी तथा पावापुरी को सर्वमान्य सिद्धक्षेत्र की प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

भट्टारक जिनसेन तथा नरेन्द्रसेन के द्वारा बड़ी-बड़ी तीर्थयात्राओं के संपादन का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार, भट्टारक सकलकीर्ति और भट्टारक पद्मनंदि द्वारा की गयी शत्रुंजय-तीर्थ की यात्राएं स्मरणीय हो गयी हैं। भट्टारक विद्यानन्दि ने अपने शिष्य श्रुतसागर सूरि तथा भट्टारक इन्दुभूषण के साथ सुविस्तृत तीर्थयात्राएं कीं थीं।

ब्रह्म ज्ञानसागर ने अपने समय के सिद्धक्षेत्रों और अतिशय-क्षेत्रों की संख्या अठहत्तर बतलायी है और अपने सरल कविताओं में उन्होंने उनके वर्णन प्रस्तुत किये हैं। तीर्थों के वर्णनपरक ग्रंथों में जयसागर की तीर्थजयमाला तथा छात्रसेन की पार्श्वनाथ-पूजा में अनेकानेक जैन तीर्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा की परंपरा जैन और जैनेतर धार्मिक संप्रदायों में समान रूप से समादृत रही है।[10]

(ङ) शिल्पकला का संरक्षण : भट्टारकों द्वारा प्रवर्तित पूजा प्रतिष्ठा के कार्य में भजन-कीर्तन का प्रमुख स्थान था। अत: इस समय में भक्तिभाव से परिपूर्ण पदों में गेयधर्मिता का अतीव विकास हुआ लक्षित होता है। विशेष उत्सव के पुण्य दिवसों के अतिरिक्त मंदिरों में सप्ताह में एक वार भक्तवृन्दसमवेत भाव से संगीत के लय में बद्ध भजनों का गायन किया करते थे।

भट्टारकों ने मंदिर निर्माण, मूर्तिरचना तथा यंत्र-प्रतिष्ठा के कार्य में आवेशपूर्वक अपनी संलग्नता तथा तत्परता के फलस्वरूप शिल्पकला को अतीव प्रोत्साहन प्रदान किया है। सूरत में अवस्थित गोपीपुरा के मंदिर में एक मेरूमूर्ति पर भट्टारकों की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। कहीं-कहीं प्रस्तर के स्तंभों पर अथवा काष्ठ के स्तंभों पर जिनेन्द्र के जन्मकालिक अभिषेक, सम्मेद-शिखर एवं अन्यान्य तीर्थक्षेत्र तथा धार्मिक कथाएं उत्कीर्ण की गयीं प्राप्त होती है।

पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियों में भट्टारकों के चित्रकालिषयक प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। जिनसागर मुनि द्वारा विरचित सुगंधदशमी-कथा की एक पाण्डुलिपि में तिहत्तर चित्र प्राप्त होते हैं। कतिपय पाण्डुलिपियों का लेखन कार्य सोने के अक्षरों में किया गया उपलब्ध होता है। अंजनगांव के एक जैन मंदिर में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणियों के रंगीन चित्र बड़े ही मनोहारी रूप में अलिखित हैं। विजयादशमी तथा पद्मावती की रथयात्रा के अवसर पर नृत्य के आयोजन का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[11]

इस प्रकार, कलाओं के अस्तित्व के साथ ही उनमें विद्यमान गांभीर्य एवं पवित्रता की भावना ने समाज के बालक-वृद्ध महिलाओं तथा पुरुषों को मंदिर के पावन वातावरण में आकर्षित कर जैन तथा जैनेतर समाजों के मध्य स्पृहणीय सामंजस्य स्थापित करने का महान कार्य संपन्न किया।

अद्यावधि प्राप्त एवं प्रकाशित विवरणों के आधार पर मध्यकालीन जैन धर्माचरण की पद्धति पर भट्टारक संप्रदाय के महत्वपूर्ण योगदान एवं प्रभाव का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। कहा गया है कि चार सौ भट्टारकों, उनके एक सौ पिचहत्तर शिष्यों तथा तीन सौ नौ साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त, विभिन्न स्थानों पर नब्बे मंदिरों के निर्मित किये जाने का अद्यावधि परिचय प्राप्त हुआ है।

भट्टारक सकलकीर्त्ति, शुभचन्द्र तथा जिनचन्द्र मध्ययुगीन जैन-जगत् के जाज्वल्यमान रत्न हैं जिनके उल्लेख के बिना इस कालखण्ड के धार्मिक, साहित्यिक दार्शनिक एवं कलाकौशल संबंधी इतिहास का ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकेगा।[12]

भट्टारक आचार्य सकलकीर्त्ति का परिचय

भट्टारक आचार्य सकलकीर्ति का आविर्भाव विक्रम सं॰ 1443 तद्नुसार 1386 ई॰ में हुआ था। इनके पुण्यात्मा पिता का नाम कर्मसिंह और यशस्विनी माता का नाम सौभाग्यवती शोभादेवी था। इन्होंने अपने आविर्भाव से हूंबड़ जाति को गौरवान्वित

किया। अणहिलपुर पट्टन इनका वासस्थान था। माता के गर्भ में महापुरुष के अवतरण के पूर्व माता को शुभप्रद स्वप्न हुआ करते हैं। इस शास्त्रीय मान्यता के अनुसार इनकी माता के आपन्नसत्वा होने पर उन्हें शुभ स्वप्न का दर्शन हुआ था। तद्नुसार इनके पिता पूर्णसिंह ने अपनी पत्नी को इस स्वप्न का फल सुयोग्य, धर्मचर्या में तत्पर तथा यशस्वी पुत्र की प्राप्ति के रूप में वर्णित किया था। माता-पिता ने नवजात शिशु का नाम पूर्णसिंह अथवा पूनसिंह रखा। ये अतीव गौर वर्ण के थे। अत: इनके वर्ण की शुभ्रता के वर्णन के प्रसंग में राजहंस जैसे उपमान का प्रयोग किया गया है। इनका पुण्य शरीर फलित ज्योतिष शास्त्रानुसार महापुरुष के बत्तीस सुलक्षणों से सुशोभित था। पांच वर्ष की अवस्था में इनका विद्यारंभ-संस्कार संपादित किया गया। तीव्र बुद्धि और अपरिमेय मेधाशक्ति के प्रभाव से इन्होंने स्वल्प अवधि में ही अशेषशास्त्रों का अभ्यास संपन्न कर लिया।[13]

शास्त्राभ्यास परिपूर्ण हो जाने पर माता-पिता ने इनका विवाह चौदह वर्ष के वयस में ही संपन्न कर दिया। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद भी इनका चित्त दाम्पत्य-सुख के उपभोग की ओर आकृष्ट न हो सका। इनके माता-पिता की इस मनोभावना को देखकर चिंतित हो उठे।

एक दिन उन्होंने अपने पेत्र को संसार-यात्रा के यथासमय परिपालन की आवश्यकता को समझाते हुए कहा–''वत्स! घर में लक्ष्मी की कृपा से अपार संपदा है। सुख-भोग की अशेष सामग्री विद्यमान है। यौवन वयस ही तो सांसारिक सुखोपभोग का समुचित समय है। यम-नियम के परिपालन के लिए तो अभी सारा समय बचा हुआ है। सांसारिकता से वैराग्य का अवलंबन तो वृद्धावस्था में किया जाता है।'' इस पर पुत्र ने पिता से कहा ''पिता जी! यह शरीर तो तप करने के लिए ही अत्यधिक पुण्य के प्रताप से प्राप्त हुआ है। इसे सांसारिक सुखोपभोग में नष्ट कर देना बुद्धिमानी नहीं है।'' भट्टारक भुवनकीर्ति ने पिता-पुत्र के इस वार्तालाप का कवित्वपूर्ण वर्णन किया है।[14] कहा जाता है कि माता-पिता के अनुरोध पर सकलकीर्ति ने चार वर्षों तक गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया और तत्पश्चात् सारी संपदा की ओर से मुंह मोड़कर अट्ठारह वर्ष के वयस में गृहत्यागी हो गये।

गृहत्याग करने के अनन्तर ये नेणवां-स्थान पर विराजमान भट्टारक पद्मनन्दि के अन्तेवासी हो गये तथा चौंतीसवें वर्ष में इन्होंने आचार्य-पद की प्रतिष्ठा की। तत्पश्चात् दिगंबर-व्रत धारण करते हुए अपने प्रदेश को लौटकर धर्मप्रचार में संलग्न हो गये। भट्टारक संप्रदाय के लेखांक 330 के आधार पर विदित होता है कि इन्होंने बाईस वर्ष तक नग्नव्रत का परिपालन किया था।[15] ये गांव-गांव में विहार-परायण रहते हुए स्वाध्याय और भगवान् की भक्ति का उपदेश देकर श्रावकों के मनोमंदिर में धर्मभावना के रत्नदीप को प्रज्वलित करते रहे। इनके व्यक्तित्व में वैदुष्य और सच्चरित्रता का अपूर्व मणि-कांचन संयोग विद्यमान था। अपने समय में तपश्चरण के लिये इनका निर्मल यश देश में सर्वत्र फैल चुका था।

इनके द्वारा एक चौबीसी मूर्ति, एक पार्श्वनाथ मूर्ति, अर्बुदाचल (आबू पर्वत) पर एक मंदिर, एक आदिनाथ-स्वामी की मूर्ति तथा सागवाड़ा में आदिनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा करायी थी। इन असाधारण कीर्तिप्रद कृत्यों के अतिरिक्त इन्होंने भक्तिभाव से परिपूर्ण सारस्वत-पुष्पांजलि भगवती सरस्वाती के चरणों में भी समर्पित की है।[16]

ये संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी विविध रचनाएं संस्कृत एवं राजस्थानी दोनों ही भाषाओं में प्राप्त होती हैं। संस्कृत भाषा में इनकी रचनाएं अधलिखित हैं–

1. ***शांतिनाथ-चरित:*** इस चरित-वर्णनपरक काव्य में सोलह अधिकार (सर्ग) हैं। इसके अन्तर्गत सोलहवें तीर्थकर शांतिनाथ की जीवनचर्या का वर्णन प्राप्त होता है। इस काव्य में पौराणिकता के साथ काव्य-चमत्कार भी दृष्टिगोचर होता है।
2. ***वर्द्धमान-चरित:*** यह चरित काव्य जैन धर्म के अंतिम तीर्थकर वर्द्धमान के पवित्रता से उज्जवल जीवन-चर्याका वर्णन करता है। कथावस्तु का विभाग उन्नीस अधिकारों (सर्गों) में प्राप्त होता है। इसके प्रथम छह सर्ग महावीर के पूर्व भवों के वर्णन को समर्पित हैं तथा अवशिष्ट तरह सर्ग गर्भ-कल्याण से लेकर निर्वाण-कल्याण तक के अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण जीवन-वृत को समर्पित हैं।
3. ***मल्लिनाथ-चरित:*** इस चरित-वर्णनपरक काव्य में सात सर्ग हैं। इसमें तीर्थकर मल्लिनाथ के चरित का वर्णन प्राप्त होता है। चमत्कार पूर्ण वस्तु वर्णन के साथ दान की महिमा, अहिंसा का महत्व, रत्नत्रय के धारण की कर्तव्यता तथा भक्ति एवं पूजा की महिमा का यहां वर्णन प्राप्त होता है। काव्य तत्व एवं दर्शन तत्व के समन्वय के कारण यह काव्य महत्वपूर्ण है।

4. ***यशोधर-चरितः*** अहिंसा-तत्व की महत्ता को प्रतिपादित करने के उदृश्य से इस चरित-काव्य में यशोधर की सुप्रसिद्ध कथा का सरस वर्णन प्राप्त होता है। इसमें आठ सर्ग हैं।
5. ***धन्यकुमार-चरितः*** सात सर्गों में निबद्ध इस चरित-काव्य में धन्यकुमार के चरित का वर्णन किया गया है। इसके अंतर्गत धन्यकुमार के जीवन की कौतूहल-पूर्ण घटनाओं को काव्यात्मक रूप में वर्णित किया गया है।
6. ***सुकुमाल-चरितः*** नौ सर्गों के इस चरित-वर्णनपरक काव्य में पूर्व भव्य के साथ ही सुकुमाल की जीवन-चर्या का वर्णन किया गया है। पूर्व भव में किये गये वर भाव का कुफल जन्मान्तर में भोगना ही पड़ता है। इसी तथ्य को इस काव्य में अतीव प्रभावोत्पादक रूप से वर्णित किया गया है।
7. ***सुदर्शन-चरितः*** आठ सर्गों में विभक्त इस चरित-काव्य में सुदर्शन श्रेष्ठी का आदर्श चरित काव्य-गुणों से परिपूर्ण शैली में वर्णित किया गया है। इस काव्य में संयम, शील एवं तप के प्रभाव से सुदर्शन श्रेष्ठी के काम पर विजय प्राप्त कर पंचणमोकार महामंत्र के जप की महिमा से केवल ज्ञान तथा सिद्धत्व की प्राप्ति का अपूर्व आख्यान उपलब्ध होता है। काव्य के नेपथ्य से मनोहर सरल संस्कृत वाणी में विरचित यह काव्य धर्मोपदेशपरक जैन संस्कृत काव्यों में प्रमुख स्थान रखता है।
8. ***श्रीपालचरितः*** सात सर्गों में विभक्त इस महाकाव्य में श्रीपाल राजा के जीवन में कर्मविपाक के फलस्वरूप प्राप्त अनेकानेक रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन किया गया है। कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। यह शास्त्र का अटल सिद्धांत है। कहा भी गया है– ''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।''
9. ***मूलाचार-प्रदीपः*** बारह अधिकारों में विभक्त इस ग्रंथ में मुनि-जीवन के अशेष क्रियाकलाप, विधि-विधान तथा साधना-मार्ग का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकार आचार निरूपण-परक साहित्य में इस ग्रंथ का प्रमुख स्थान है।
10. ***प्रश्नोत्तरोपासकाचारः*** चौबीस परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रंथ में श्रावकों के आचार धर्म का वर्णन किया गया है। श्रद्धालु भक्तजनों के आचार से संबद्ध प्रश्नों के समाधान के उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गयी है जिसके अंतर्गत मूलगुण, द्वादशव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत-प्रभृति का सविस्तर वर्णन प्राप्त होता है।
11. ***आदिपुराणः*** बीस सर्गों में विभक्त इस पुराण में भगवान् आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, सुलोचना, जयकुमार-प्रभृति के जीवन चरित का विशद आख्यान प्राप्त होता है। यह ग्रंथ वृषभनाथचरित के अपर नाम से भी प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का चरित मुख्य रूप से वर्णित है।
12. ***उत्तरपुराणः*** पन्द्रह अधिकारों (सर्गों) में विभक्त इस पुराण-ग्रंथ में प्रथम तीर्थंकर को छोड़कर अवशिष्ट तेईस तीर्थंकरों के जीवनवृत्त का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।
13. ***सद्भाषितावलीः*** तीन सौ नवासी पद्यों के इस सुभाषित-ग्रंथ के अंतर्गत धर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, इन्द्रियजय, स्त्री-सहवास, कामोपभोग, निर्ग्रन्थ-सेवा, तपस्या, त्याग, राग-द्वेष, क्रोध-लोभ एवं मोह-माया-प्रभृति भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रस्तुत एक-से-एक हृदयग्राही सुभाषितों में उनके स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। उपदेश-प्रधान यह ग्रंथ सुभाषित-साहित्य का उल्लेखनीय ग्रंथ है।
14. ***पार्श्वनाथ-पुराणः*** तेईस सर्गों में विभक्त यह ग्रंथ तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन-चरित का मनोहर वर्णन प्रस्तुत करता है। यह ग्रंथ पार्श्वनाथ-चरित के नाम से भी प्रसिद्ध है।
15. ***सिद्धांतसार-दीपकः*** सोलह अधिकारों में विभक्त इस ग्रंथ में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक के वर्णन के साथ-साथ उनके निवासी देवता, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकीय जीवों के सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं।
16. ***व्रतकथा-कोषः*** आचार धर्म के इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में विभिन्न व्रतों से संबद्ध कथाओं के साथ ही उन-उन व्रतों के परिपालन के द्वारा जिन-जिन व्यक्तियों ने अपने-अपने जीवन में अभीष्ट सिद्धि प्राप्त की, उन श्रद्धाशील भक्तों के सविस्तार आख्यान वर्णित किये गये हैं।
17. ***पुराणसार-संग्रहः*** इस ग्रंथ में संक्षेप-प्रधान शैली का अवलंबन कर आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान जैसे छह तीर्थंकरों के चरित का आख्यान प्रस्तुत किया गया है।

18. ***कर्मविपाकः*** पांच सौ सैंतालीस पद्यों के इस ग्रंथ में प्रकृति-बंध, प्रदेश-बंध, स्थिति-बंध तथा अनुभाग-बंध की अपेक्षा से कर्मों के बंध का बोधगम्य शैली में निरूपण किया गया है।
19. ***तत्त्वार्थसार-दीपकः*** इस दार्शनिक ग्रंथ में बारह अध्यायों के अंतर्गत प्रथम सात अध्यायों में जीव तथा उसकी विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् आठवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का क्रमागत रूप से वर्णन किया गया है।
20. ***परमात्मराज-स्तोत्रः*** सोलह पद्यों का यह लघुकाय स्तोत्रग्रंथ भक्तिभाव से ओत-प्रोत होने के कारण जैन श्रावकों एवं आर्यिकाओं का कण्ठहार कहा जाता है।

उपयुक्त संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी अन्यान्य संस्कृत रचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. आगमसार
2. सारचतुर्विंशतिका
3. पंचपरमेष्ठी-पूजा
4. अष्टाह्निका-पूजा
5. सोलह कारण-पूजा
6. द्वादशानुप्रेक्षा
6. गणधर-वलयपूजा
8. समाधि-मरणोत्साह-दीपक

संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा में भी इनकी रचनाएं पायी जाती हैं जिनका नामोल्लेख अधोलिखित रूप में प्राप्त होता है–

1. आराधना-प्रतिबोधसाार
2. नेमीश्वर-गीत
3. मुक्तावली-गीत
4. णमोकार-गीत
5. पार्श्वनाथ-अष्टक
6. सोलहकारण-रासो
7. शिखामणि-रास
8. रत्नत्रय-रास

इनके द्वारा विरचित पूजापाठ संबंधी साहित्य श्रावकों और आर्यिकाओं के बीच अतीव लोकप्रिय रहा है। इसके अंतर्गत पंच-परमेष्ठी, अष्टाह्निका तथा सोलह कारण प्रभृति की पूजा का निरूपण प्राप्त होता है। द्वादश अनुप्रेक्षा के अंतर्गत आनित्य, अशरण, संसार, एकत्व एवं अन्यत्व-प्रभृति भावनाओं का विवेचन किया गया है।

आचार्य विरचित ग्रंथों की विपुल संपदा के आलोक में यह तिरोहित नहीं रहता है कि इन्होंने जैन-सिद्धांत, तत्त्वज्ञान, अध्यात्म-चिंतन, कर्म-सिद्धांत तथा आचार-प्रधान ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त चरित-ग्रंथों की रचना के द्वारा संकृत साहित्य के भाण्डागार को अपने वाङ्मय-रत्नों से अतिशय समृद्ध किया है। इन्होंने संवत् 1499 में कैवल्य-लाभकर निर्वाण प्राप्त किया।[17] इनके वैदुष्य की प्रशस्ति में पट्टावली के 329 लेखांक के अंतर्गत निम्न श्लोक उपलब्ध होता है–

श्रीकुंदकुंदान्वयभूषणाप्तः भट्टारकाणां शिरसः किरीटः।
षट्तर्कसिद्धांतरहस्यवेत्ता पयोजनुर्नंद्यभवद्धरित्र्याम् ।। ३२ ।।
तत्पट्टभागी जिनधर्मरागी गुरुपवासी कुसुमेषुनाशी ।
तपोऽनुरक्तः समभूद्विरक्तः पुण्यस्य मूर्तिः सकलादिकीर्त्तिः ।। ३३ ।।

आचार्य कुन्दकुन्द की परंपरा के भूषणस्वरूप, परम आप्त, भट्टारकों के शिरोमुकुट, छः तर्कसिद्धांत के रहस्यों के ज्ञाता, पद्मन्दि-नामक आचार्य हुए।

उनके पट्ट पर प्रतिष्ठित जिन धर्म में अनुरक्त, गुरु के समीप रहने वाले, काम के विकास को नाश करने वाले, तपस्या में निरत संसार से विरक्त, पुण्य के मूर्तिस्वरूप सकलकीर्ति हुए।

शाखा-प्रवर्त्तक आचार्य-भट्टारक सकलकीर्ति

विविध शास्त्रों के सुविख्यात तथा भट्टारकों के मुकुट-मणि भट्टारक पद्मनन्दि के पट्ट पर अभिषिक्त आचार्य सकलकीर्ति से बलात्कारगण की ईडर-शाखा का प्रारंभ हुआ।[19] इस शाखा में इनके बाद पन्द्रह पट्टाभिषिक्त भट्टारकों एवं उनके द्वारा विविध मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा विविध धार्मिक विषयों पर की गयी ग्रंथ-रचना का उल्लेख प्राप्त होता है।[20] तद्नुसार, भट्टारक आचार्य सकलकीर्ति के अनन्तर क्रमशः-

1. भट्टारक भुवनकीर्ति,
2. भट्टारक ज्ञानभूषण,
3. भट्टारक विजयकीर्ति,
4. भट्टारक शुभचन्द्र,
5. भट्टारक सुमतिकीर्ति,
6. भट्टारक गुणकीर्ति,
7. भट्टारक वादिभूषण,
8. भट्टारक रामकीर्ति,
9. भट्टारक पद्मनन्दि,
10. भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति,
11. भट्टारक क्षेमकीर्ति,
12. भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति,
13. भट्टारक विजयकीर्ति,
14. भट्टारक नेमिचन्द्र,
15. भट्टारक चन्द्रकीर्ति,
16. भट्टारक रामकीर्ति एवं
17. भट्टारक यशःकीर्ति ।

भट्टारक संप्रदाय के अंतर्गत बलात्कार-गण की ईडर-शाखा के भट्टारकों के धार्मिक कार्यकलाप तथा उनके शिष्यों द्वारा अनुष्ठित पुण्यकार्य-प्रभृति का एक संक्षिप्त विवरण, प्रासंगिकता के अनुरोध से, अधोलिखित संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है।

भट्टारक भुवनकीर्तिः भट्टारक सकलकीर्ति के पट्ट पर उनके बाद भुवनकीर्ति भट्टारक पट्टाभिषिक्त हुए। इनके द्वारा एक पार्श्वनाथ-मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख प्राप्त होता है। इनके एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने रामायण-रास की रचना की थी। इसके अतिरिक्त कर्मविपाक-रास, धर्मपरीक्षा-रास, जम्बूस्वामी-रास, जीवन्धर-रास तथा जसोधर-रास भी इनकी रचनाएं हैं।

भट्टारक ज्ञानभूषणः भट्टारक भुवनकीर्ति के बाद उनके पट्ट पर भट्टारक ज्ञानभूषण अभिषिक्त हुए। इन्होंने एक चरित्र यन्त्र, एक रत्नत्रय-मूर्ति, एक पद्मप्रभमूर्ति तथा एक सुमतिनाथ मूर्ति की स्थापना की। इनके द्वारा विरचित 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी'-नामक आध्यात्मिक ग्रंथ उल्लेखनीय है। इनके एक शिष्य नागचन्द्र सूरि ने विषापहार-टीकाग्रंथ तथा एक-दूसरे शिष्य गुणनन्दि ने ऋषिमंडल-पूजा ग्रंथ की रचना की थी।

भट्टारक विजयकीर्तिः भट्टारक ज्ञानभूषण के बाद उनके पट्ट पर भट्टारक विजयकीर्ति अभिषिक्त हुए। इन्होंने शानितनाथ की मूर्तियां तथा एक रत्नत्रय की मूर्ति स्थापित की थी।

भट्टारक शुभचन्द्रः भट्टारक विजयकीर्ति के बाद उनके पट्ट पर उनके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र अभिषिक्त हुए। इन्होंने अमृतचन्द्र-प्रणीत समयसार पर परमाध्यात्म-तरंगिणी नामक टीका-ग्रंथ का प्रणयन किया तथा पंच-परमेष्ठी का मूर्ति-स्थापन किया। कीर्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका, करकंडु-चरित्र, संशयिवदन-विदारण, षड्दर्शन-प्रमेयानु-प्रवेश, अंगपण्णत्ती, नन्दीश्वर-कथा तथा पांडवपुराण इनकी अन्यान्य उल्लेखनीय कृतियां हैं। पांडव-पुराण के प्रशस्ति-श्लोक से इनकी अट्ठारह अन्य ग्रंथों का नामोल्लेख प्राप्त होता है जो अधोलिखित है–

1. चन्द्रनाथ-चरित,
2. पद्मनाथ-चरित,
3. प्रद्युम्न-चरित,
4. जीवन्धर-चरित,
5. चन्दना-कथा,
6. आशाधर-रचित धर्मामृत की वृत्ति,
7. तीस चौबीसी पूजा-पद्धति,
8. सिद्धपूजा-पद्धति,
9. सरस्वती-पूजापद्धति,
10. चिन्तामणि-पूजा पद्धति,
11. कर्मदहन-विधान,
12. गणधर-वलयपूजा पद्धति,
13. पार्श्वनाथ-काव्य की पंजिका,
14. पल्योपम-विधान,
15. चरित्र शुद्धि के सहस्राहिक उपवासों का विधान,
16. स्वरूप-संबोधन की वृत्ति,
17. चिन्तामणि-सर्वतोभद्रव्याकरण,
18. अंग प्रज्ञप्ति।

भट्टारक सुमतिकीर्तिः भट्टारक शुभचन्द्र के अनन्तर उनके पट्ट पर भट्टारक सुमतिकीर्ति अभिषिक्त हुए। इन्होंने एक मूर्ति तथा एक वेदी की प्रतिष्ठा की।

भट्टारक गुणकीर्तिः भट्टारक सुमतिकीर्ति के अनन्तर उनके पट्ट पर भट्टारक गुणकीर्ति अभिषिक्त हुए। इन्होंने अजितनाथ की मूर्ति के अतिरिक्त एक अन्य मूर्ति की भी प्रतिष्ठा की। इनकी श्रेणिक-पृच्छा-कर्मविषाक नामक ग्रंथ उल्लेखनीय है। इन्होंने जीवन्धर-रास की एक पांडुलिपि प्रस्तुत की।

भट्टारक वादिभूषणः भट्टारक गुणकिर्ति के अनन्तर उनके पट्ट पर भट्टारक वादिभूषण अभिषिक्त हुए। इन्होंने अपने शिष्य देवजी के अध्ययन के लिए अध्यात्म-तरंगिनी की एक पांडुलिपि प्रस्तुत की। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक वासुपूज्य-मूर्ति तथा एक अन्य मूर्ति की भी स्थापना की।

भट्टारक रामकीर्तिः भट्टारक वादिभूषण के अनन्तर भट्टारक रामकीर्ति उनके पट्ट पर अभिषिक्त हुए। इन्होंने एक सुपार्श्व-मूर्ति तथा एक पद्मप्रभ-मूर्ति का प्रतिष्ठा-महोत्सव संपन्न किया।

भट्टारक पद्मनन्दिः भट्टारक रामकीर्ति के बाद भट्टारक पद्मनन्दि उनके पट्ट पर अभिषिक्त हुए। इन्होंने अपने कार्यकाल में एक पार्श्वनाथ-मूर्ति तथा सिद्धक्षेत्र शत्रुंजय पर्वत पर शांतिनाथ-मंदिर का प्रतिष्ठा समारोह संपन्न किया।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिः भट्टारक पद्मनन्दि के बाद भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति उनके पट्ट पर अभिषिक्त हुए। इनके कार्यकाल में इनके आश्रित ब्रह्म-तेजपाल ने शब्दार्णव-चन्द्रिका नामक ग्रंथ की तथा मुनि त्रिभुवन-चन्द्र ने गणित-सारसंग्रह नामक ग्रंथ की प्रतिलिपि का लेखन-कार्य संपन्न किया।

भट्टारक क्षेमकीर्तिः भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के बाद उनके पट्ट पर भट्टारक क्षेमकीर्ति आभिषिक्त हुए। इन्होंने अपने कार्यकाल में एक मूर्ति की प्रतिष्ठा संपन्न की।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिः भट्टारक क्षेमकीर्ति के बाद इनके पट्ट शिष्य भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति अपने गुरु के पट्ट पर आभिषिक्त हुए। इनके कार्यकाल में इनके शिष्य लालचंद ने अष्टसाहस्री-ग्रंथ की एक प्रतिलिपि संपन्न की।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के अनन्तर क्रमागत रूप से (13) विजयकीर्ति, (14) नेमिचन्द्र तथा (15) चन्द्रकीर्ति भट्टारक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। भट्टारक चन्द्रकीर्ति को तीर्थक्षेत्र केशरियाजी में चौगीस तीर्थकरों की चरणपादुकाओं की प्रतिष्ठा का श्रेय प्राप्त है। भट्टारक चन्द्रकीर्ति के बाद क्रमशः (16) रामकीर्ति तथा (17) यशः कीर्ति भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए। भट्टारक यशःकीर्ति के उपदेश के प्रभाव से केशरियाजी के मंदिर का प्राकार-निर्माझा संपन्न हुआ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर भट्टारक आचार्य सकलकीर्ति द्वारा प्रवर्तित बलात्कार-गण की ईडर-शाखा के भट्टारकों द्वारा अनुष्ठित मूर्ति-प्रतिष्ठा, देवालय-प्रतिष्ठा तथा उनके आश्रित श्रावकों, शिष्यों एवं मुनियों द्वारा किये गये विविध विषयों पर ग्रंथ लेखन तथा प्राचीन ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियों का पुनर्लेखन एवं वितरण प्रभृति कार्यकलाप का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। दानवीर माणिकचन्द्र के अनुसार ईडर-शाखा द्वारा प्रस्तुत हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रंथों का भाण्डागार असाधारण रूप से समृद्ध है। जैनधर्म एवं संस्कृति के संरक्षण की दिशा में इस शाखा के भट्टारकों एवं उनके आश्रित शिष्यों तथा विद्वानों के द्वारा अनुष्ठित स्थापत्य तथा ग्रंथ-रचना के कार्यकलाप निस्संदेह प्रभूत प्रशंसा के पात्र हैं।

संकेताक्षर एवं उसकी विवरणी

1. भ॰ स॰–भट्टारक संप्रदाय–संपादक श्री विद्याधर जोहरापुरकर, नागपुर।
2. ती॰ आ॰–तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा–डॉ॰ नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय दिगंबर जैन विद्वतपरिषद् बंबई।
3. जै॰ सि॰–जैन सिद्धांत–जैनसिद्धांत भवन, आरा।
4. पृ॰–पृष्ठ।
5. प्र॰–प्रस्तावना।

संदर्भ ग्रंथ

1. भ॰ स॰ पृष्ठ 4-5 (प्र॰)।
2. भ॰ स॰ पृष्ठ 2 (प्र॰)।
3. भ॰ स॰ पृष्ठ 4-5 (प्र॰)।
4. भ॰ स॰ पृष्ठ 5 (प्र॰)।
5. भ॰ स॰ पृष्ठ 6 (प्र॰)।
6. भ॰ स॰ पृष्ठ 4 (प्र॰)।
7. भ॰ स॰ पृष्ठ 7-9 (प्र॰)।
8. भ॰ स॰ पृष्ठ 9-11 (प्र॰)।
9. भ॰ स॰ पृष्ठ 11-12 (प्र॰)।
10. भ॰ स॰ पृष्ठ 13-14 (प्र॰)।
11. भ॰ स॰ पृष्ठ 15-16 (प्र॰)।
12. भ॰ स॰ पृष्ठ 23 (प्र॰)।
13. ती॰ आ॰ पृष्ठ 327।
14. ती॰ आ॰ पृष्ठ 327।
15. भ॰ स॰ पृष्ठ 126 पर उद्धृत-वर्ष 22 पर्यन्त स्वामी नग्न हता।
16. ती॰ आ॰ पृष्ठ 328-329।
17. ती॰ आ॰ पृष्ठ 329।
18. जै॰ सि॰ 17 पृष्ठ 58 (भ॰ स॰ पृष्ठ 136 पर उद्धृत)।
19. भ॰ स॰ पृष्ठ 153।
20. भ॰ स॰ पृष्ठ 153-157।

एम॰ ए॰ (पी॰ यू॰) पी॰ एच॰ डी॰ (पी॰ यू॰)
साहित्याचार्य (का॰ सि॰ द॰ स॰ वि॰ वि॰ द॰)

सृष्टि विषयक वैदिक अवधारणायें

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

वेद दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है क्योंकि जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है उसी से पलता है और अंत में उसी में समाविश्ट हो जाता है। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म के आवरण हैं क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है।

वैदिक संहिताओं को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उस समय के लोग सांसारिक बातों से पूर्ण अनभिज्ञ थे। उन्हें क्षिति, जल, तेजस् तथा वायु के गुणों का पूर्ण परिचय था। उन्हें मृत्यु का बहुत भय था। वे दीर्ध जीवन के लिये देवताओं से विशिष्ट शक्ति की प्रार्थना करते थे। उनमें बड़ों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति थी। उपासना के द्वारा मनोरथ की सिद्धि में उन्हें पूर्ण विश्वास था। सुख-दु:ख का, ज्ञान-अज्ञान का, नित्य अनित्य का, अभय, अमर तथा अजर का इस लोक एवं परलोक का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। उपासनाओं के अवसर पर साधक साध्य के साथ एक बन जाता था अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा के अभेद या ऐक्य ज्ञान से ही चरम उद्देश्य की सिद्धि होती है, यह भी वे जानते थे और ऐक्य का साक्षात् अनुभव करते थे। इन बातों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक विचारधारा भारतवर्ष में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान थी और जिज्ञासु दु:ख की निवृत्ति के लिये तेज:स्वरूप देवताओं के साथ उपासनाओं के द्वारा एक हो जाने के लिये तत्पर रहते थे।

यद्यपि ऋग्वेद की स्तुतियों में उपासनार्थ बहुदेव की कल्पना है तथापि वैदिक ऋषियों की दार्शनिक जिज्ञासा सदैव इस खोज में तत्पर थी कि वास्तव में कौन सी सत्ता प्रकृति के नियमों की प्रेरक है, जिसकी आज्ञा से चंद्र और सूर्य अपनी ही परिधि में घूमते हैं। किसकी प्रेरणा से मुकुल कुसुमित होते हैं ? कौन सा देव मेघ के अट्टहास एवं विद्युत् की स्मृति में अपने ऐश्वर्य का परिचय दे रहा है ? ऋग्वेद की यही जिज्ञासा केनोपनिशद् के प्रथम मंत्र में संपादित होती है जहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है, यह मन किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने विशयों की ओर प्रवृत्त होता है ? किससे प्रेरित प्रथम (प्रधान) बाण चलाता है। प्राणिमात्र किसकी इच्छा से वाणी बोलते हैं ? कौन देव चक्षु एवं श्रोत को प्रेरित करता है ?

विश्वसत्ता के बारे में इसी जिज्ञासा के फलस्वरूप ऋषियों में इच्छा उत्पन्न हुई:

हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।

स दधार पृथिवीं धामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

अर्थात् किस देवता को हविश प्रदान किया जाये।

वैसे तो इस जिज्ञासा एवं कौतूहल की शांति किसी एक देवता की प्रधानता स्वीकार कर लेने से संभव थी किन्तु वैदिक विचारधारा केवल इतने से संतुष्ट न रह सकी। वैदिक काल की मुख्य जिज्ञासा केवल एक सर्वश्रेष्ठ देवता की ही नहीं वरन् उस शक्ति की खोज थी जिसकी प्रेरणा से संसार के स्थावर एवं जंगम सभी पदार्थ अपने-अपने नियमानुसार स्वकार्य में लगे रहते हैं। इस अन्वेशण के फलस्वरूप हम कभी वरूण में संसार के कर्त्ता, संरक्षक एंव 'ऋतस्य गोप:' की झलक पाते हैं तो कभी विश्वकर्मा में विश्वकर्तृत्व का और कभी प्रजापति और हिरण्यगर्भ में संसार के सृष्टा के रूप देखते हैं। वेद में अग्नि से जगत् की उत्पत्ति कही गयी है, तत्पश्चात् 'सोम' से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिन-रात, जल तथा औषधियों की उत्पत्ति मानी गयी है। 'त्वेश्टा' ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया। इन्द्र ने समस्त पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। इन्होंने ही तीनों लोगों तथा देवों को उत्पन्न किया। ऋषियों की यह प्रवृत्ति अंत में उन्हें विश्व सत्ता के ऐक्य का भास कराती है। और वे इस दृढ़ निश्चय पर आरूढ़ होते हैं कि सत् एक ही है और विद्वान् उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

यह व्यावहारतः भी समीचीन प्रतीत होता है कि साधकों को अपने कार्य की सिद्धि के लिये जिस किसी देवता की अपेक्षा हुई, उन्हें साधक ने सबसे बड़ा बनाया यहाँ तक कि उन्हें जगत् का स्रष्टा ही बना दिया।

यद्यपि विश्वसत्ता अथवा संसार की प्रेरक शक्ति के अन्वेशण के फलस्वरूप ऐक्यवाद की निश्चित विचारधारा उपनिशदों में मिलती है, तथापि इस सिद्धान्त के कुछ विचार बीजरूप में संहिताओं में भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में ऐक्यवाद के दो रूप मिलते हैं। एक तो वह कल्पना जिसमें परमेश्वर की प्रकृति से अभेद माना जाता है तथा जहाँ परमेश्वर प्रकृति में पूर्णतया व्याप्त है। यह विचारधारा पाश्चात्य दर्शन में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज्म) के नाम से विख्यात है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण ऋग्वेद के दशम मण्डल का पुरूषसूक्त है। पुरूष ही एकमात्र सत् है। उसके हजार सिर है, हजार आँखें हैं और हजार पैर हैं। उसने चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर रखा है। जो कुछ है या था और जो कुछ होगा, वह सब पुरूष ही है। पुरूष अमरों तथा अन्न-जीवियों का ईश्वर है।

सहस्त्रशीर्षाः पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
पुरूषं एवेदं सर्व यद्भूतं यच्चभव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

अथर्वेद के स्कम्भसूक्त और अच्छश्टसूक्त में यह ऐक्यवाद और भी स्पष्ट है। ब्रह्म का ही दूसरा नाम स्कम्भ है। स्कन्ध विश्व का कारण है, वह सर्वव्यापी और सर्वेश्वर है, स्कम्भ को ही विद्वान् लोग आत्मा कहते हैं। फिर उच्छिष्ट सूक्त में कहा गया है कि दृष्य जगत का निषेध करने के बाद जो शेष रहता है, वही उच्छिष्ट है। उच्छिष्ट स्पष्टः ब्रह्म का दूसरा नाम है। उसी पर नामरूप अवलंबित है, सारा लोक अवलम्बित है, और सब कुछ उसी से आविर्भूत हुआ है।

ऐक्यवाद का दूसरा रूप वह है जो हमें विश्व-कारण की खोज के फलस्वरूप प्राप्त होता है। पहले प्रकार की विचारधारा हमें पुरूषसूक्त के अतिरिक्ति अदिति (अनन्त) की कल्पना में भी मिलती है जहाँ उसका तादात्म्य देवता, मनुष्य, प्रकृति, आकाश, वायु आदि सभी पदार्थों में दिखलाया गया है। दूसरे प्रकार के ऐक्य की कल्पना का प्रमुख उदाहरण नासदीय सूक्त में मिलता है। इस सूक्त में ऋषि संसार के कारण पर विचार करते हुए न केवल कारण के ऐक्य के निश्चय पर पहुँचते हैं, वरन् उसके स्वरूप का भी वर्णन करते हैं। संसार के सभी द्वन्द्व, उदाहरणार्थ सत् और असत्, जन्म-मरण, पाप-पुण्य आदि अंततोगत्वा इसी विश्व-कारण में समन्वित होते हैं। इस सूक्त में हमें उपनिषदों के आत्मवाद की प्रस्तावना-सी प्रतीत होती है। इसमें बहुकोटिक तर्कपद्धति के बीज भी छिपे हैं। यह सूक्त शून्यवाद तथा असत्कारणवाद का भी मूल स्त्रोत है।

इस विवेचना के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि संहिताओं में किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया फिर भी स्तुत्यर्थ ऋषियों ने जो मंत्र कहे उनकी विचारधारा में हम एक तारतम्य की कल्पना कर सकते हैं। यह तारतम्य ही वैदिक साहित्य में दार्शनिक विचारधाराओं का विकासक्रम है।

असत् को विश्व का उपादान कारण माना गया है। विश्वकर्मा ने बिना किसी की सहायता से विश्व की रचना की। सायणाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि परमात्मा ने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को रचा। इसी शक्ति को माया कहते हैं, किन्तु यह देव शक्ति है, नित्य है। शांकर - वेदान्त की माया की तरह यह अनिर्वचनीय नहीं है। यही बात तैतरीय ब्राह्मण में स्पष्ट कही गयी है।

नासदीय सूक्त में सृष्टि प्रक्रिया का विषद वर्णन है। सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न 'असत' न 'सत' न 'अन्तरिक्ष' और न व्योम था। मृत्यु का भी भय नहीं था। केवल वह एक था इसके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। अंधकार मात्र सर्वत्र था। जल था प्रकाश नहीं था।

'तपस्' से उस एक की उत्पत्ति हुयी तपस् एक अव्यक्त चेतना थी जिससे कालान्तर में सृष्टि के वैचित्य अभिव्यक्त हुये। वस्तुतः यह तपस् ही वह सर्वव्यापी शक्ति है। इसी से ज्ञानशक्ति तथा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

एक व्यापक शक्ति का वर्णन हमें वेद में स्पष्ट मिलता है। इसी से समस्त सृष्टि होती है। यही भाव यजुर्वेद के 'पुरूषसूक्त' में भी स्पष्ट है। वेद में इन्द्र सबसे बड़े देवता माने गये हैं। यही इन्द्र, सायणाचार्य के विचार में, कभी अग्नि, कभी सूर्य और कभी वायु के रूप में वेद में वर्णित है। अन्तरिक्ष के सभी नक्षत्र इन्हीं इन्द्र के रूप हैं। इसीलिए वेद ने कहा हैं– **'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते** अर्थात् अपनी शक्तियों के द्वारा इन्द्र बहुत-से रूपों को धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि साधक अपनी रूचि के अनुसार चाहे जिस देवता की स्तुति करे, किन्तु वे स्तुतियाँ सभी इन्द्र के प्रति ही होती हैं। यही बात भगवद्गीता में भी भगवान् ने कही है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि वेद में अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त उस 'एक का वर्णन है, जो सर्वशक्तिमान् है, जो दुष्टों का दमन करता है तथा सज्जनों की रक्षा करता है। यही 'एक शक्ति 'विश्वकर्मा' के भी रूप में वेद में वर्णित है।

इसी व्यापक परम शक्ति का भिन्न-भिन्न नाम से वेद ने वर्णन किया है। इसी को 'अभयं ज्योतिः, परम व्योमन् 'परम पद, 'अव्यक्त', आदि नाम से वर्णन किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का परिचय ऋग्वेद के प्रसिद्ध **'द्वासुपर्णा सयुजा''** इत्यादि मात्र में स्पष्ट है। इसी परमात्मा का साक्षात्कार करना भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य है। इसी से दुःख की चरम निवृत्ति होती है। यही यजुर्वेद ने कहा है - **'तमेव विदित्वाश्षतिमृत्युमेति'।** यजुर्वेद में अनेक मन्त्र हैं जिनमें परमेश्वर का वर्णन है जो जगत् में अनेक रूप से अभिव्यक्त होते हैं तथा जिनके ज्ञान से जिज्ञासु को चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है और वह सर्वज्ञ हो जाता है।

जगत् के विकास के अतिरिक्त उपनिशद् में जगत् के पाँच स्तरों का उल्लेख हुआ है जिसे 'पे्चकोश कहते हैं। भौतिक पदार्थों को अन्नमय कहा गया है। पौधे प्राणमय हैं, पशु मनोमय हैं। मनुष्य को विज्ञानमय तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है।

सृष्टि की व्याख्या उपनिशदों में सादृश्यता एवं उपमाओं के बल पर किया गया है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बन जाते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। जिस प्रकार मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गये जालों के धागे निकलते हैं इसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। सृष्टि को ब्रह्म की लीला भी माना गया है क्योंकि यह आनन्दमय खेल है। 'वेदान्तों नाम उपनिषत्प्रमाणम्' के अनुसार इन उपनिशदों को प्रमाण मानकर ही कालक्रम में वेदान्त दर्शन में सृष्टि प्रक्रिया तथा जगत् की सता की स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की गयी है। शंकर के अनुसार तीन प्रकार की सत्ता स्वीकारी गयी है– प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता, पारमार्थिक सत्ता। प्रातिभासिक सत्ता क्षणिक होती है इसका खंडन जागरित अनुभव द्वारा हो जाता है उदाहरण स्वरूप-स्वप्न या भ्रम में दिखनेवाली घटनायें।

व्यावहारिक सत्ता– जो व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। इसके अन्तर्गत आनेवाली वस्तुओं का जागरितावस्था में भी सत्य माना जाता है किन्तु तार्किक युक्तियों द्वारा इसका खण्डन संभव है। जगत् की प्रत्येक वस्तु इसका उदाहरण है।

पारमार्थिक सत्ता– पारमार्थिक सत्ता हर दृष्टिाकोण से सत्य है। इसका खंडन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। जैसे ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता का उदाहरण है।

अद्वैतवाद के अनुसार सृष्टि केवल अपने व्यावहारिक सत्ता में ही होता है और ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। शंकर के अनुसार उपाधिरहित, निर्विकार तथा निर्विकल्पक सत्ता का नाम ब्रह्म है। सह निर्गुण और निर्विषेष है अतः किसी भी प्रकार उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता।

ईश्वर ब्रह्म का मायावी रूप है यह सम्पूर्ण जगत् मायावी ईश्वर का कौतुकमात्र है। जो अपनी क्रीडा के लिये सतत् जगत् की सृष्टि करता है। शंकर के अनुसार जबतक व्यक्ति अज्ञान के वशीभूत रहता है तबतक वह विश्व की वास्तविकता में विश्वास रखता है किन्तु अज्ञान के प्रभाव से मुक्त होते ही उसे मूलसत्ता का ज्ञान होता है और वह विश्व की वास्तविकता से परिचित हो जाता है। ज्ञानी के लिये यह विश्व मिथ्या या अवास्तविक है और ब्रह्म की ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रहणैव नापरः'

शंकर का मत है कि जब ब्रह्म मायायुक्त होता है तब वह ईश्वर बन जाता है। जब वह अविद्या से सम्बद्ध होता है तब जीव बन जाता है। इस प्रकार ये दोनों अवास्तविक और ब्रह्म के ही विवर्त हैं।

श्रुति कहती है कि जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर में केश, नख इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होते रहता है। तमोगुण प्रधान अज्ञान की दूसरी शक्ति विक्षेप शक्ति ही सृष्टि का कारण है। उससे सर्वप्रथम सूक्ष्मतम आकाश की उत्पत्ति होती है– क्रमशः आकाश से स्थूलतर वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

ये पाँचों तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और व्यक्त नहीं होते, अतः इन्हें सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा कहा जाता है। इन तन्मात्राओं के सात्विक अंश से पृथक् पृथक् पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आकाश तन्मात्रा से श्रोत, वायु तन्मात्रा से स्पर्ष, अग्नि तन्मात्रा से चक्षु, जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा पृथ्वी तन्मात्रा से ध्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों का निवास स्थान क्रमशः कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका में है और ये क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनुभव कराती हैं।

इन समस्त तथ्यों के अनुशीलन के फलस्वरूप माया को सृजन करने वाली शक्ति मानी जानी चाहिए। अथर्ववेद के स्कम्भसूक्त में तो जिस पदार्थ से जगत् की उत्पत्ति हुयी है वह माया से आवृत्त है ऐसा स्पष्टतः कहा गया है।

अतः सृष्टि के सन्दर्भ में वेदों में ये तमाम अवधारणायें स्पष्ट होती हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषय का सांगोपांग विचार एक किसी स्थान में वेद में नहीं मिलता और न वह मिल ही सकता है, किन्तु छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े तत्त्वों के स्वरूप का साक्षात् दर्शन तो ऋषियों को हुआ था और वे सब अनुभव वेद में व्यक्त रूप में वर्णित है। उसमें लौकिक तथा अलौकिक सभी बातें हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूप से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का परिचय वेद के अध्ययन से हमें प्राप्त होता है।

बाद में न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के सामन वेद का अपना कोई एक प्रतिपाद्य मत नहीं है। ऋषियों की तपस्या के फलस्वरूप आत्मतत्त्व का अपना-अपना साक्षात् अनुभव ही 'वेद' हैं अथवा ज्योतिःस्वरूप आत्मा ही तो वेद है। किसी एक विषय के सम्बन्ध में यह कोई एक ग्रन्थ तो है ही नहीं। अतएव इसका अपना न कोई 'दर्शन' है और न कोई मन्तव्य। यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञान के स्वरूपों का संकलन है, भण्डार है। इसी से तत्त्वों को निकाल कर बाद में विद्वानों ने अपने-अपने विचार के लिए एवं दर्शनों के निर्माण के लिए ज्ञान का संचय किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

(1) ऋग्वेद (हिरण्यगर्भसूक्त) 8.73
(2) ऋग्वेद 10. 164. 4,
(3) ऋग्वेद 4, 3, 33
(4) ऋग्वेद मंत्र 10 - 129, 3-7
(5) छान्दोग्योपनिशद् 6.2।
(6) Philosophy of Upanisads P40
(7) Out lines of Indian Philosophy P - 378
(8) ब्रह्मसूत्र शांकरभाश्य 1.1.2
(9) मुण्डकोपनिशद् 2.1.1
(10) श्रीमद्भागवद्गीता 2.16, 18
(11) तैत्तरीय उपनिशद् 2.1
(12) भारतीय दर्शन की रूपरेखा एम हरियन्ना प्रा0 46
(13) वशहदारणकोपनिशद् 1.5.1
(14) कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन बी0 355, ए 298।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवम् अधयक्ष
संस्कृत विभाग
सिंहभूम कॉलेज, चांडिल

महर्षि पतंजलि की अनुपम कृतिः महाभाष्य

चित्रा भारद्वाज

संस्कृत वाङ्मय एवं भारतीय चिंतन परंपरा में महीयसी मेधा के धनी पतञ्जलि का अविस्मरणीय योगदान है। इन्होंने अपनी भाषा शैली के लालित्य एवं तर्क प्रणाली के फलस्वरूप संस्कृत व्याकरण दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। पाणिनीय व्याकरण परंपरा को इनका योगदान महाभाष्य के रूप में है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण जैसे दुरुह एवं शुष्क विषय को सरस एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। पतञ्जलि ने कात्यायन के वार्तिकों की व्याख्या समन्वयात्मक पद्धति के आधार पर की है। यद्यपि पतञ्जलि ने वैयाकरण-दार्शनिकों के विचारों को उचित मूल्यांकन के साथ प्रस्तुत किया है तथापि महाभाष्य मूलतः पाणिनी के सूत्रों की व्याख्या है। समग्र महाभाष्य 85 आह्निकों में विभक्त है। 'आह्निक' का तात्पर्य ग्रंथ के उस अंश से है जो छात्रों को एक दिन में (अह्ना निवृत्तम्) पढ़ा दिया जाता है।

महाभाष्य की रचना शैली

महाभाष्य की रचना शैली अत्यंत सरल एवं प्रसादगुण युक्त है। अधुना जो पाणिनीय व्याकरण की प्रतिष्ठा स्थापित है उसका मुख्य कारण पतञ्जलि की रचना शैली का प्रभाव है। महाभाष्य में लौकिक व्यवहार, ऐतिहासिक ज्ञान, आवश्यक धर्म, दर्शन के सिद्धांत, गूढ़ वैज्ञानिक सिद्धांत इत्यादि समाहित हैं। सर्वजनोपयोगी इस व्याकरण की रचना ने पतञ्जलि की प्रतिष्ठा स्थापित की। यद्यपि महाभाष्य में सर्वत्र व्याकरण शास्त्र संबंधी विवेचन है तथापि यह व्याकरण के अन्य शास्त्रों के समान शुष्क एवं नीरस नहीं है। इसमें व्याकरण के अत्यंत शुष्क एवं क्लिष्ट विषयों का अत्यंत सरसता व सरलता से बोध कराया गया है। महाभाष्य में लंबे श्लेष गर्भित समास की अपेक्षा छोटे-छोटे सरल वाक्यों द्वारा व्याकरण विषयों की व्याख्या की गई है।

शास्त्रीय विषय विवेचन के लिए महाभाष्य में अनेक पारिभाषिक शब्दों, शास्त्रीय विषय के ग्रंथों इत्यादि का प्रयोग, लोक व्यवहार में प्रचालित सुपरिचित शब्दावली का प्रयोग किया है। अतएव भाषा कहीं भी कठिन नहीं प्रतीत होती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की सरल, सुबोध, निसर्गरमणीय भाषा अनेक स्थान पर संवादरूपेण दृष्टिगत होती है वहां भाष्यकार विनोद युक्त वाक्यों का सन्निवेश कर लौकिक दृष्टांत वाक्यों द्वारा पाठकों की जिज्ञासा को उत्तरोत्तर बढ़ाते हैं।

अनेक स्थलों पर इनकी विषय निरूपण शैली सम्भाषण वाली है। वह स्वयं ही पूर्वपक्षी के रूप में शंका उत्पन करते हैं परंतु फिर स्वयं ही उनका समाधान भी करते हैं। अनेक स्थलों पर वह वार्तिकों का उपयोग अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए करते हैं। विवादग्रस्त स्थलों में वह पूर्वपक्षी का आलंबन लेते हुए इसका उत्तर पक्ष में प्रसिद्ध आचार्यों का उल्लेख कर प्रचलित प्रयोग एवं सर्वसम्मत व्याकरण विषयक मौलिक सिद्धांतानुसार अपना निर्णय देते हैं। तथा जहां लौकिक प्रयोगों से निर्णय नहीं संभव होता वहां दैविक आलंबन लेते हैं। वस्तुतः संपूर्ण महाभाष्य की रचना शिष्य एवं अध्यापक के संवाद के रूप में हुई है। पतञ्जलि महाभाष्य में केवल सूत्रों एवं वार्तिकों की व्याख्या ही नहीं करते अपितु यत्र-तत्र स्वयं के वाक्यों का भी समावेश करते हैं। अनेक स्थलों पर महाभाष्यकार के कथनों द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। यथा–

1. कथं पुनरिदं भगवता पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्- पश्पशाह्निकं महाभाष्यम्
2. सङ्गहे तावतकार्य प्रतिद्वान्द्विभावात् मन्यामहे नित्यपर्यायवचिनो ग्रहणमिति-पश्पशाहिकम् महाभाष्यम्

महाभाष्य की भाषा

महाभाष्य की प्रसिद्धि का एक कारण इसकी भाषा भी है। महाभाष्यकार प्रवचन शैली का व्यावहारिक रूप महाभाष्य में प्रतिबिंबित करते हैं। महर्षि पतञ्जलि विरोधियों के लिए कटाक्ष एवं व्यंग्यमयी भाषा प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की भाषा शुष्क सिद्धांत निरूपण को भी मनोरंजक बना देती हैं। यथा–

किं पुनरनेन वर्णेन। कि न महता कण्ठेन नित्यशब्दः एवोप्रान्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽदेहः स्यात्। पश्पशाह्निकम् महाभाष्यम्।

भाषा सौष्ठव की वृद्धि उपमान, न्याय दृष्टांत एवं सूक्तियों के द्वारा होती है। वह ऐसे न्याय दृष्टांतों व सूक्तियों का प्रयोग करते हैं जो जनसाधारण में बहुप्रचलित है। जैसे–

1. कूपखानकन्याय–महाभाष्यम् पश्पशाह्निकम्
2. काकतालीयन्याय–महाभाष्यम् 1.3.7
3. बुभुक्षिंत न प्रतिभाति किञ्चित्–महाभाष्यम् 2.3.2

महाभाष्य में पतञ्जलि यथायानुभव एवं मनोरम सूक्तियों द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हैं। कहीं वह उनका सोदाहरण प्रयोग करते हैं तो कहीं यह साररूप प्रयुक्त है। इस प्रकार से महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धांतों एवं परिभाषाओं की रचना की। महाभाष्य में प्रयुक्त अनेक शब्द संस्कृत शब्दकोष की अमूल्य निधि हैं। विशिष्ट अर्थों एवं अवसरों में प्रयोग किए गए शब्द एवं वाक्यांश भाषा में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। पतञ्जलि स्वयं अनेक शब्दों को गढ़कर तैयार करते हैं, जिसका प्रयोग बड़ा ही अन्वर्थक तथा प्रतिपाद्य भाव को अभिव्यक्त करने वाला है। महाभाष्य में अनेक स्थलों पर इस प्रकार शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिसके लिए संपूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती है यथा–उष्ट्रासिका:, आहोपुरुषिका इत्यादि। यह शब्द आधुनिक भारतीय भाषा के विकास में अत्यंत सहायक होते हैं।

महाभाष्य की विशेषताएं

महाभाष्य की मौलिकता व्याकरण क्षेत्र में सर्वोपरि है। महाभाष्य में अनेक तत्त्वों का समावेश किया गया है यथा–दार्शनिक तत्त्व, व्यवहार तथा समाजशास्त्र, भौतिक विज्ञान, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र एवं ज्योतिष तत्त्वों का वर्णन भी मिलता है।

दार्शनिक पक्ष–''सर्वोषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने'' से महाभाष्य का दार्शनिक महत्व दृष्टिगोचर होता है। महाभाष्य की विशेषता सर्वप्रथम इसी कारण है कि यह व्याकरण एवं दर्शन की परिधि को एक कर विवेचन करता है।

महाभाष्यकार प्रारंभ में ही शब्द का विवेचन करते हैं। शब्द की परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि जिसके उच्चारण से बोध्य वस्तु का संप्रत्यय हो जाए वह शब्द है।

येनोच्चारितेन सास्नालाङ् गूलककुद्खुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति सशब्द:। महाभाष्यम् पश्पशाहिंक शब्द नित्य है क्योंकि उच्चारण के बाद जो नष्ट होता है वह ध्वनि है एवं जो नष्ट नहीं होता वह शब्द (आकृति) है। यह शब्द बुद्धिस्थ है जो द्रव्याश्रित आकृति का बोध करता है। उसका उच्चारण से प्रत्यक्ष होता है अतएवं यदि उचारित न हो तब भी शब्दत्व तो विद्यमान होता ही है अत: शब्दत्व नित्य है। अपशब्द एवं धर्म के विषय में पतञ्जलि का मत है कि शब्द तो अल्प हैं किंतु लोक में अपशब्द अनन्त हैं यदि अपशब्द के ज्ञान में अधर्म है तो अधर्म की बहुलता होगी। शब्दार्थ संबंध को नित्य मानते हुए महर्षि पतञ्जलि शब्दों में अभिधान शक्ति को स्वाभाविक मानते हैं। स्वाभाविकमभिधानम् महाभाष्यम् 1.2.6.4

भौतिक विज्ञान–महाभाष्य में भौतिक विज्ञान के आकर्षण एवं परिणामवाद के भी कुछ स्थल हैं जो पतञ्जलि की भौतिक विज्ञान की विद्वता के परिचायक हैं। आकर्षणवाद का ज्ञान हमें ''स्थानेऽन्नरतम:'' के भाष्य अचेतनेष्वापि'' से मिलता है।

अनुनय–महर्षि पतञ्जलि अनुशासनिक जीवन के अनन्य समर्थक थे। महाभाष्य के प्रथम शब्द से ही इसका ज्ञान हो जाता है–

अथशब्दानुशासनम्। महाभाष्यम् पश्पशाह्निकम्

महाभाष्य में व्याकरण पढ़ने के लाभों के विषय में चर्चा करते हुए अपने बड़ों को नमस्कार एवं छोटों को आशीर्वाद देने की रीति का वर्णन है।

ज्योतिष–महाभाष्य में अनेक स्थलों पर ज्योतिष तत्त्वों का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे–तिष्यपुष्ययोक्षित्राणि य लोपो वक्तव्य:। तैषं पौषम्। महाभाष्यम् 6.4.4

उपयुक्त सभी विशेषताओं के अतिरिक्त महाभाष्य में आयुर्वेद, कर्मकाण्ड, आर्यसंस्कृति इतिहास, पुराण इत्यादि का उदाहरणों द्वारा प्रतिपादन किया है जो मुख्य प्रतिपाद्य विषय से सहायक होते हुए भी अभिन्न अंग के रूप में प्रतीत होते हैं। इन सब से एक बात स्पष्ट है कि भाष्यकार का ज्ञान अथाह है।

महाभाष्य की टीकाएं–संस्कृत व्याकरण में महाभाष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पर रचित टीकाएं इसी का प्रमाण हैं। महाभाष्य पर अनेक टीकाओं की रचना हुई हैं जैसे–

भर्तृहरि विरचित महाभाष्य दीपिका को महाभाष्य की उपलब्ध टीकाओं में सर्वप्राचीन माना जाता है। इससे पहले भी महाभाष्य पर अनेक टीकाएं एवं व्याख्याएं लिखी गई इसका ज्ञान हमें महाभाष्य दीपिका से होता है–भाष्यकार स्याभिप्रायमेंत

व्याख्यातार: समर्थ यन्ते'' दीपिका, किंतु आज वह टीकाएं उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में महाभाष्य दीपिका का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय डॉ॰ कीलहार्न को जाता है। प्रकीर्ण काण्ड की व्याख्या की समाप्ति पर हेलाराज ने लिखा है–

त्रैलोक्यगामिनि येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृत ।

तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नम: ।

भर्तुहरि ने अपनी व्याख्या अर्थात् महाभाष्यदीपिका संपूर्ण महाभाष्य पर लिखी थी किंतु वर्तमान में महाभाष्य दीपिका में तीन पाद की व्याख्या ही उपलब्ध होती है। भर्तुहरि की यह टीका महाभाष्य के गूढ़ रहस्यों की उद्घाटिनी है।

यह महाभाष्य पर भर्तुहरि की दीपिका के बाद सर्वाधिक प्राचीन टीका है। इसकी रचना कैयट द्वारा हुई है। भर्तुहरि के बाद महाभाष्य के मर्मवेत्ता वैयाकरणों में कैयट का स्थान अग्रणी है। कैयट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने महाभाष्य की जो व्याख्या लिखी उन सबका सार कैयट ने संकलित किया है। कैयट ने अपनी इस टीका के प्रारंभ में कहा कि उन्होंने यह व्याख्या भर्तुहरि निबद्ध वाक्यपदीय, साररूपग्रंथ सेतु के आश्रय से रची है। इस तथ्य की पुष्टि स्थान-स्थान पर कैयट द्वारा उद्धृत वाक्यपदीय के उद्धरण द्वारा भी होती है। कैयट विरचित प्रदीप के महत्व का आकलन इससे भी हो जाता है कि इस पर अनेक व्याख्याएं एवं टीकाएं लिखी गईं। जिसमें सबसे प्रख्यात नागेशभट्ट की टीका ''उद्योत'' तथा आनन्भट्ट की प्रदीपोद्द्योतन है।

इन दोनों प्रमुख टीकाओं के अतिरिक्त ज्येष्ठकलश, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तमदेव, धनेश्वर, शेषनारायण, विष्णुमित्र, नीलकण्ठ वाजपेयी, शेषविष्णु, तिरुमल यज्वा, शिवरामेन्द्र सरस्वती, गोपालकृष्ण शास्त्री, प्रयागवेङ्कटाद्रि, कुमारतातय, सत्याप्रिय तीर्थ स्वामी, राजनसिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित, सदाशिव, राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्र गढ़कर, छलारी नरसिंहाचार्य, ने भी महाभाष्य पर टीकाएं लिखी जिनमें से कुछ पाण्डुलिपि संग्रहालय में सुरक्षित हैं एवं अप्रकाशित हैं। अत: महाभाष्य के सूक्ष्म प्रर्यालोचन से विदित होता है कि यह केवल व्याकरण शास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है, अपितु समस्त विद्याओं का आकार ग्रंथ है।

संदर्भ ग्रंथ

1. पतञ्जलि: व्याकरण महाभाष्यम्, विद्यानिधि हिन्दी व्याकरण प्रो॰ भीमसिंह वेदालङ्कार, विद्यानिधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र, 2006 ।
2. पतञ्जलि: महाभाष्यम् (प्रदीप एवं उद्योत सहित) प्रतिभा प्रकाशन, संस्कती-आचार्य गुरु प्रसाद शास्त्री, 2001 ।
3. भर्तुहरि: वाक्यपदीयम् (हेलाराज की टीका सहित) संपादक के॰ ए॰ एस॰ अय्यर पूना, 1963 ।

सहायक ग्रंथ

1. गोपाल दत्त पाण्डेय: संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पञ्चदश खण्ड, उत्तत प्रदेश संस्कृत संस्थान (लखनऊ), 2001 ।
2. दीप्ती शर्मा: व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, बिहार ग्रंथ अकादमी, 1945 ।
3. बलदेव उपाध्याय: संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, विद्या भवन, वाराणसी, 1994 ।
4. डॉ॰ भीमसिंह वेदालङ्कार: महाभाष्य के प्रत्याख्यात सूत्र, कुरुक्षेत्र, 1986 ।
5. डॉ॰ भीमसिंह वेदालङ्कार: व्याकरण शास्त्रीय लोक न्याय रत्नाकर, पैनमैल पब्लिशर्स दिल्ली ।
6. डॉ॰ भीमसिंह वेदालङ्कार: महाभाष्य के प्रत्याख्यात सूत्र, कुरुक्षेत्र, 1986 ।
7. डॉ॰ मंगलाराम: संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक मीमांसा, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1995 ।
8. युधिष्ठिर मीमांसक: संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत ।
9. रामप्रकाश वर्णी: व्याकरण दर्शन के विविध सोपान, पस्पिल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2006 ।
10. राम सुरेश त्रिपाठी: संस्कृत व्याकरण दर्शन, राजकमल प्रकाशन, 1972 ।
11. वैद्य दामोदर प्रसाद शर्मा शास्त्री: महामुनि पतञ्जलि भ्रांतियां और निराकरण, नवयुग साहित्य भवन, इन्दौर 1967 ।

हिन्दी संस्कृतेतर ग्रंथ

1. Discovery of Sanskrit Treasures, grammar and linguiskcs, Satyarast Shastri, Yash Publication, edition, 2006.
2. Patanjali's Vyakarana Mahabhasya, Kartihnika Introduction, Translation and Notes by S.D. Joshi and J.A.F. Road Bergen, University of Poona 1975.
3. Patanyali's as a Critic of Kalyana and Panini, Dr (Mrs) Sudershan Kaushik, Publication Division University of Delhi 1991.
4. Systems of Sanskrit Grammar: K.P. Belraker, Varanasi, Bhartiya Vidya Bhawan 1976.

शोधकत्री, संस्कृत विभग
दिल्ली विश्वविद्यालय

वैदिक काल में नारी-शिक्षा

डॉ. जयप्रकाश पाण्डेय

वैदिक वाङ्मय न केवल भारत का अपितु विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। भारतीय धर्म, भाषा, संस्कृति, सभ्यता तथा समाज का भव्यप्रासाद वैदिक-वाङ्मय पर ही विनर्मित हुआ है। वैदिक वाङ्मय में वेदों का महत्वपूर्ण स्थान है। चारों वेदों के अध्ययन से ही वैदिक कालीन जीवन के विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पहलुओं की जानकारी हो पाती है। वैदिक काल में नारी का स्थान पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उच्च था।

वैदिक काल की नारी भावना का पूर्ण परिचय ऋग्वेद में वर्णित प्रतीकों से मिल जाता है। आर्यों द्वारा सर्जित और पूजित देवियों में अदिति स्वाधीनता की साकार प्रतिमा वह अनादि जननी है तथा मनुष्यों को बंधनमुक्त करती है। इन्द्राणी एक ओर अपने त्याग और बलिदान से इन्द्र को बलवान बनाती है और दूसरी ओर आदर्श पत्नी व्रत को प्रतिष्ठा करती हैं। सूर्या आदर्श आर्य वधू के रूप में आज भी समादृत है।

एक ओर ललित कलाओं एवं ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती की वीणा की स्वर लहरियों का अमर संगीत है, तो दूसरी ओर परम लावण्यमयी, सौंदर्य और रूप की खान देवी उषा हैं, जो अपनी कान्त किरणों से ऋषियों के सहज भावुक मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कुछ अंश में नारी के प्रति वैदिक ऋषियों का दृष्टिकोण कुछ अंश में यथार्थमूलक और कुछ भावना मूलक है।

भारतीय नारी वैदिक काल से ही एक आदर्श नारी के रूप में मानी जाती रही है। उसने एक पुत्री, माता, पत्नी के कर्तव्यों का निर्वहन किया ही साथ ही उसने ब्रह्मज्ञानी शिक्षिका, काव्यज्ञा, चिकित्सक आदि के रूप में भी एक अलग पहचान बनाई।

अत्यंत प्राचीन काल में न्याय, योग और सांरश में कुछ स्त्रियां कितनी योग्य थीं, इसका एक उदाहरण महाभारत में असाधारण विदुषी सुलमा का मिलता है जिसने विवाह न करके जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया और अनेक आश्रमों में ज्ञानार्जन करती हुई उस समय के प्रसिद्ध ज्ञानी धर्मध्वज जनक को अपनी विलक्षण वाग्मिता से और असाधारण योग क्रिया के प्रदर्शन से अत्यंत विस्मित कर दिया।

वैदिक काल में नारी शिक्षा की व्यवस्था थी। ऋग्वेद काल में स्त्री-शिक्षा का प्रचार था। उस समय स्त्रियां वेदाध्ययन करती थी और मंत्रों की रचयिता भी थीं। ऋग्वेद के अनेक सूत्रों के दर्शन कर्त्री स्त्रियां थीं। घोषा नाम की ब्रह्मनावादिनी ने दशम मण्डल के 39वें एवं 40 वें सूत्रों की रचना की है। इससे विदित होता है कि उन दिनों स्त्रियां शिक्षिता होती थीं। इसके अतिरिक्त लोपा मुद्रा अपाला, लोमशा, विश्ववारा, सूर्या आदि ऋषिकाओं ने एक-एक सूक्तों की रचनाएं की हैं। वृहस्पति की पत्नी जूहू, विवस्वान् की पुत्री यमी, श्रद्धा, सूर्यराज्ञी आदि ऋषिकाओं ने भी एक-एक सूक्तों की रचनाएं की हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियां मंत्रों की रचना करने वाली थीं, कविताएं भी करती थीं, गान विद्या में कुशल होती थीं, नृत्यकला भी जानती थी। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।[1]

अथर्ववेद में स्त्रियों के ब्रह्मचर्य अर्थात् ज्ञानोपार्जन के लिए गुरुकुल में जाने का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि कन्या ब्रह्मचर्य के द्वारा युवापति को प्राप्त होती हैं–''ब्रह्मचर्येण-कन्यायवानं विन्दते पतिम् ।''[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कन्याओं को भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करके विद्याभ्यास करना पड़ता था। यही कारण है कि वैदिक युग में कितनी ही विदुषी स्त्रियों ने जन्म लिया था व उनमें से कुछ मंत्र द्रष्टियां भी थीं।

वैदिक काल में स्त्रियों को अत्यंत सम्माननीय एवं गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी समाज का एक विशिष्ट अंग माना जाता था। उन्हें भी वेद मंत्रों के उच्चारण का अधिकार प्राप्त था–

यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेम्य:।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाच चारणाय ।।[3]

स्त्रियों के उपनयन संस्कार भी होते थे–

भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता।[4]

यज्ञादि में नारी का स्थान सदैव से ही पुरुष के साथ मुख्य रहा है। वेदों के अनुशीलन से ज्ञात हो जाता है कि स्त्रियां यज्ञादि में पुरुष की सहचरी बनकर भाग लेती थीं। स्त्रियों के बिना यह कार्य संपादन कठिन समझा जाता था।

वैदिक काल में स्त्रियां उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। जटिल एवं दुरूह वैदिक यज्ञ विधियों और विधानों की एक वाक्यता करने और उनके सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए मीमांसा जैसे कठिन दर्शन की रचना हुई जिसके अध्ययन में स्त्रियां भी निपुण हुई। स्त्रियां अध्यापन कार्य भी करती थीं पाणिनि और पतंजलि के समय में स्त्रियां वैदिक चरणों में अध्ययन ही नहीं अध्यापन कार्य भी करती थी।

अथर्ववेद ने इस परंपरा की पुष्टि अत्यंत स्पष्ट शब्दों में की है और विद्याप्राप्ति की पद्धति का भी उल्लेख किया है। ब्रह्मचर्य सूक्त में वर्णित है कि युवकों के समान युवतियां ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन कर अपने योग्य युवकों का वरण करती हैं। स्त्रियों की उच्च शिक्षा की परंपरा उत्तरवर्ती काल तक उपलब्ध होती है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार गार्गी वाचक्नवी ने महाराज जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य ऋषि से ब्रह्म विद्या के विषय में ऐसे गंभीर प्रश्न पूछे थे कि उन्होंने यह कहकर उससे बचाव किया कि तुम ऐसे विषय में प्रश्न कर रही हो जिसके बारे में बहुत अधिक प्रश्न नहीं करने चाहिए।[5]

ऋग्वेद में स्त्री को 'ज्ञानयुक्त वक्तृता'' देने का कथन है–''विदथमा वदसि''[6] स्त्री को 'बह्मपद' पर आसीन होने का उल्लेख उसके महती विदुषी होने का बोध करता है–''स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ''[7]

बृहदारण्यक के माध्यन्दिन और काण्व दोनों ही शाखाओं में मैत्रेयी और गार्गी दोनों ब्रह्मवादिनी नारियों का आरथान वर्णित है। शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध शतपथ ब्राह्मण के अन्रिम छ: अध्यायों को वृहदारण्यक कहते। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों ही मिश्रित हैं। इस बृहदारण्यकोंपनिषद् के द्वितीय काण्ड के चतुर्थ अध्याय में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी कात्यायनी तथा मैत्रेयी का संवाद वर्णित है जिसमें याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।[8]

वैदिक काल में नारी की शिक्षा में कला-पक्ष को विशेष स्थान मिलता आया है। सोम का गायन स्त्रियों का विशेष कार्य बताया गया है जो उनकी गान विद्या में प्रवीणता निर्दिष्ट करने के साथ-साथ इस तथ्य विशेष का भी निर्देश करता है कि वैदिक मंत्रों का विशुद्ध उच्चारण और विधिवत के साथ पाठ कर सकती थीं।[10] इसके अतिरिक्त स्त्रियां पाककला, बुनना, कातना, युद्धविद्या आदि कलाओं का ज्ञान भी प्राप्त करती थीं इससे स्पष्ट होता है कि शैक्षणिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थीं और वे विविध एवं उच्च शिक्षाएं प्राप्त करती थीं।

संदर्भ ग्रंथ

1. वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ॰ पारसनाथ द्विवेदी।
2. अथर्ववेद–11.5.18।
3. यजुर्वेद–26.2।
4. ऋग्वेद–10.109.4।
5. वैदिक साहित्य का इतिहास।
6. ऋग्वेद–14.01.12।
7. ऋग्वेद–8.33.19।
8. वैदिक साहित्य का इतिहास–पृष्ठ-155।
9. शतपथ ब्राह्मण–14.3.1.35।
10. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था–जी॰ एस॰ पी॰ मिश्र, पृष्ठ-109।

सहायक शिक्षक (संस्कृत)

रा॰ कृ॰ कु॰ विद्यामंदिर उ॰ वि॰ धरहरा

हाजीपुर (वैशाली)

महाकवि कालिदास की शिक्षा विषयक मान्यता

प्रवीण कुमार सिंह

महाकवि कालिदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके महाकाव्यों के अनुशीलन कलाओं को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि मानव जीवन से संबद्ध शायद ही कोई विषय होगा, जिसे कविवर ने अछूता छोड़ दिया होगा। भारत की सभ्यता और संस्कृति कालिदास को अपना अभिव्यंजक पाकर कृतकृत्य हुई। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में 'शिक्षा' विषय से संबंधित विषयों शिक्षण के प्रकार, शिक्षा, विद्यार्थी के कर्तव्य और शिक्षा के उद्देश्यों पर एक शिक्षाविद् का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कालिदास के मंत्रक बड़े महत्वपूर्ण हैं, वर्तमान समय के शिक्षा-शास्त्रियों के लिए विशेष ध्यान योग्य हैं।

शिक्षा का आरंभ प्राचीनकाल से चूड़ाकरण के बाद विद्यारंभ होता रहा है। चूड़ाकरण तीसरे वर्ष तथा विद्यारंभ पांचवे वर्ष में किया जाता है। विद्या का आरंभ लिपि के ग्रहण से ही होता है। जिस प्रकार नदी का आश्रय लेकर समुद्र प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार लिपि की शिक्षा पाकर वाङ्मय अर्थात् शब्द समुदाय में बालक प्रवेश कर सकता है–

सः वृत्तचूलश्चलकाक पक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः''

लिवेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदी मुखेनेव समुद्रमा विशत् । (रघुवंशम्–3.28)

आज भी शिक्षण का विषय होने से लिपि की समस्या महत्वपूर्ण मानी जाती है।

कालिदास ने विद्यारंभ काल में ब्रह्मचर्य पालन करने पर बल दिया है। इनके अनुसार विद्याभ्यासी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। रघुवंशम् में कालिदास ने राजा रघु के वर्णन क्रम में यह बतलाया है कि रघु ने रूरुमृग के चर्म को धारण कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने मंत्रविद् पिता से अस्त्र विद्या को सीखा–

त्वंच स मेध्यां परिधाय रौरवी ।

म शिक्षतास्त्रं पितुरेव मंत्रवत् ।। रघुवंशम् 3.31

कालिदास ने शैशवकाल को ही विद्याभ्यास अभ्यास के लिए उपयुक्तकाल कहा है। इसी समय रघुवंशीय नरेशों ने अपने वर्ण और मर्यादा के अनुसार विद्याओं का अनुशीलन किया।

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानाम्–रघुवंशम् 1.8

कालिदास ने शिक्षा-ग्रहण करने के क्रम में संस्कार के महत्व को भी दर्शाया है। संस्कार का शिक्षा पर बड़ा प्रभाव होता है। सहज संस्कार इस जन्म में फलीभूत होते हैं। कालिदास के अनुसार बालक का मस्तिष्क कोरी स्लेट की तरह नहीं है, अपितु वह अपने पूर्व जन्म की प्रवृत्तियों, संस्कारों तथा शक्तियों को साथ लेकर पैदा होता है और उनके जीवन में आगे चलकर ये ही प्रवृत्तियां विकसित होती हैं। 'कुमारसंभवम्' में महाकवि का कथन, उमा के विषय में है कि जिस प्रकार शरद्काल में हंसमालाएं गंगा में आती है, रात के समय स्वाभाविक प्रकाश औषधियों में आता है, उसी प्रकार उपदेश के समय में स्थिरता से विद्या-ग्रहण करने वाली उमा के पास पूर्व जन्म की उपार्जित विद्याएं स्वतः आ गयीं–

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्ममासः ।

स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ।। (कुमार संभवम् 1.30)

कालिदास ने एक महान शिक्षाविद् की तरह आदर्श शिक्षक को परिभाषित किया है। कुछ शिक्षक विद्याग्रहण करने में निपुण होते हैं और कुछ छात्रों को पढ़ाने में निपुण होते हैं, किंतु सर्वश्रेष्ठ शिक्षक वही होता है, जिसमें इन दोनों गुणों का समन्वय होता है। वह विद्या के ग्रहण में तथा विद्या के संक्रमण में समभाव से समर्थ होता है–

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्म संस्था संक्रांन्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।

यस्योमयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितन्य एव ।। (मालविकाः 1.16)

शिक्षक की अध्यापन कुशलता से उसकी विद्या और भी प्रस्फुटित होती है। विद्याध्ययन काल में अर्जित ज्ञान का विकास अध्यापन काल में विलक्षण रूप से विकसित होता है। इसकी चर्चा महाकवि ने मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम सर्ग में इसी संदर्भ में कहा है–सुशिक्षितोऽसर्वः उपदेशेन निष्णातो भवति''

शिक्षक वस्तुतः पारखी होता है। वह सदैव अपनी शिक्षा उपयुक्त अधिकारी को ही देना चाहता है। शिक्षा सत्पात्र को देने से वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है। जिस प्रकार साधारण जल शुक्ति में पड़ते ही मोती बनकर चमक तथा दाम दोनों में बढ़ जाता है, किंतु अन्यत्र वह साधारण जल ही रह जाता है–

पात्रविशेषेन्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलभिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ।। (मालविकाग्मिमित्रम्)

योग्य आलोचकों की प्रशंसा पाना ही सफल शिक्षा की कसौटी है। वही उपदेश विशुद्ध तथा उपादेय माना जाता है, जो योग्य व्यक्तियों के सामने परीक्षा के अवसर पर मलिन नहीं होता–

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।

श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ।।

महाकवि कालिदास ने शिक्षा प्राप्ति के लिए विद्यार्थियों को भी अनेक नियमों के पालन पर बल दिया है। विद्यार्थियों को ब्रह्ममुछूर्त में उठना चाहिए क्योंकि उस समय चित्त प्रसन्न रहता है, चेतना प्रसन्नता प्राप्त कर लेती है। कालिदास की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

पश्चिमाद् यानिनीयामात् प्रसादमिव चेतना।

विद्यार्थियों को अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए। गुरुजनों के अनुभवपूर्ण वाक्यों को आत्मसात् करना चाहिए। यदि कोई पूज्य पुरुषों के प्रति अनादर भाव दिखलाता है, तो वह उस व्यक्ति के कल्याण में महान् बाधक होगा–

प्रतिबध्नाति हिश्रेयः पूज्याकातिक्रम ।। (रघु॰ ..79)

कालिदास ने अपने काव्यों में शिक्षण, शिक्षक और विद्यार्थी के विषय में ही नही अपितु शिक्षा के उद्देश्य के बारे में भी विवेचना की है। कालिदास के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल सामाजिक जीवन जीना और जीविकोपार्जन का उपाय मात्र नहीं है। यह तो व्यक्ति शिक्षित होने पर सहज से कर लेता है, किंतु शिक्षा की इतनी ही आवश्यकता नहीं है, वह तो जीवन को पवित्र तथा विभूषित करने के लिए नितान्त समर्थ है। पार्वती जन्म के अवसर पर हिमालय की प्रशंसा करते समय कालिदास ने स्पष्ट ही कहा है कि हिमालय पार्वती से उसी प्रकार पवित्र तथा विभूषित किये गये जिस प्रकार स्वर्ग गंगाजी से तथा विद्वान पुरुष संस्कार युक्त वाणी से होता है। (कुमार संभवम् 1.28)

शास्त्रीय विद्या जब तक व्यवहार रूप में न लायी जाए केवल अध्ययन शब्द का जंजाल मात्र है, परंतु व्यवहार से समन्वित होने पर ही वह अध्ययन वास्तविक बनता है। महाकवि की यह उक्ति द्रष्टव्य है–

विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हति। (रघु॰ 1.88)

वस्तुतः विद्या विशेष व्याख्या नहीं चाहती। गीता के 'ज्ञान' विज्ञान सहितम् का भी यही रहस्य है। 'ज्ञान' केवल शाब्दिक तथा शास्त्रीय रहता है और 'विज्ञान' व्यावहारिक तथा कार्यरूप में परिणत होता है। ज्ञान तथा विज्ञान के समन्वय बिना उच्च उद्देश्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती है। अस्तु कालिदास ने शिक्षण विषय पर जो विचार अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं, वे नितान्त उच्च, उपादेय तथा उत्साहवर्धक हैं। कालिदास ने किसी विद्यालय में शायद ही अध्यापन कराया हो, किंतु इस विषय में उनके मन्तव्य जो उनके काव्यों में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी शिक्षा शास्त्रियों के लिए उपयोगी हैं। सचमुच में कवि शिरोमणि कालिदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे एक उच्च कोटि के महान् शिक्षाविद् थे।

संदर्भ

1. संस्कृत-सुकवि-समीक्षा।
2. रघुवंशम्।
3. कुमारसंभवम्।
4. मालविकाग्नि मित्रम।

शिक्षाण में कैरियर

डॉ. विमला सिंह

टीचिंग एक ऐसा प्रोफ्रेशन है, जिसे भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में न केवल आदर की दृष्टि से देखा जाता है, बल्कि हमेशा से इन-डिमांड रहा है। आमतौर पर टीचिंग प्रोफेशन गर्ल्स के लिए ज्यादा उपयुक्त माना जाता है। यदि आज की हाई प्रोफाइल जॉब्स से इसकी तुलना की जाए, तो सैलरी कम जरूर मिलती है, लेकिन इसके बावजूद यह एक ऐसा प्रोफेशन है, जिसे हमेशा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यदि आपके अंदर भी पढ़ने में रुचि, बोलने की कला और विद्यार्थियों से स्नेह करने के गुण हों, तो निःसंदेह आप इस प्रोफेशन को चुन सकते हैं। आज कैरियर के लिहाज से इस क्षेत्र में असीम संभावनाएं मौजूद हैं।

कोर्स पैटर्नः आमतौर पर टीचर्स ट्रेनिंग कोर्सेज को तीन या चार हिस्सों में बांटा जाता है। एलीमेंट्री टीचर्स ट्रेनिंग या जेबीटी, बीएलएड, बीएड और एमएड। यदि बीएड यानी कि बैचलर ऑफ एजुकेशन की बात करें, तो ग्रेजुएशन की डिग्री लेने के बाद इस कोर्स में प्रवेश ले सकते हैं। इसके लिए दो प्रक्रियाएं हैं। एक तो प्रवेश परीक्षा के दौर से गुजरने के बाद आप बीएड कोर्स में एडमिशन ले सकते हैं। दूसरा यह कि राष्ट्रीय स्तर पर कुछ बीएड कॉलेजों में 50 प्रतिशत अंकों की शर्त पर प्रवेश की सुविधा मौजूद है, जबकि कई राज्यों में 45 प्रतिशत अंक के आधार पर भी प्रवेश मिल जाता है। हालांकि, ज्यादातर संस्थानों में प्रवेश परीक्षा के आधार पर ही एडमिशन दिया जाता है। बीएड के एग्जाम में टीचिंग एप्टीट्यूड, लैंग्वेज एप्टीट्यूड नॉलेज एप्लीकेशन, प्रॉब्लम बेस्ड ऑब्जेक्टिव टाइप प्रश्न पूछे जाते हैं। कहीं-कहीं पर डिस्क्रिप्टिव प्रश्न भी डिस्टेंस लर्निंग एजुकेशन के माध्यम से भी कोर्स उपलब्ध हैं। कोर्स फीसः यदि बीएड करने के दौरान होने वाले खर्चे की बात करें, तो बड़े-बड़े प्रोफेशनल कोर्सेज की तुलना में कम खर्च आता है। सरकारी संस्थानों में प्रवेश लें, तो पूरे वर्ष भर में 15 से 20 हजार रुपए तक खर्च हो सकता है, जिसमें फीस व टीचिंग मैटीरियल जैसे अन्य खर्च भी शामिल हैं। प्राइवेट इंस्टीट्यूट में यह खर्च अधिक से अधिक 40 हजार रुपए तक हो सकता है।

कैरियर की संभावनाः एक वर्ष के इस कोर्स में प्रवेश लेने के बाद निश्चित तौर पर नौकरी मिलने की संभावना बढ़ जाती है। अगर सरकारी नौकरी की बात करें, तो दिल्ली में ही अध्यपापकों के हजारों पद खाली हैं। अन्य राज्यों में भी स्थिति लगभग यही है। इसके अलावा, विदेश में भी नौकरी के अवसर उपलब्ध हैं। पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका, जापान, इंग्लैण्ड और सऊदी अरब में भी भारतीय टीचर्स की डिमांड बढ़ी है। खासतौर पर मैथ्स व साइंस जैसे विषयों के अध्यापक तो हमेशा इन-डिमांड रहते हैं। इसके अतिरिक्त पब्लिक स्कूलों में भी बीएड की डिग्री रखने वालों के लिए ऑप्शन की कमी नहीं है। फिर भी बेहतर नौकरी प्राप्त करने के लिए कॉम्पीटिशन क्लीयर करना पड़ता है, लेकिन देखा यह भी गया है कि नौकरी किसी न किसी सेक्टर में मिल ही जाती है।

विदेशों में अवसरः विदेशों में भी भारतीय टीचर के लिए संभावनाओं की कोई कमी नहीं है। विदेशों में एक से दो वर्ष में टीचिंग एक्सपीरियंस के बाद हर माह 50 हजार रुपए तक सैलरी मिल सकती है। इसके साथ रेजिडेंस, होस्टल्स, फूड इत्यादि की सुविधाएं भी दी जाती हैं।

सैलरीः यदि स्केल की बात करें, तो शुरुआती दौर में यह 5,500 से 9,000 रुपए तक होता है। पर नौकरी के आरंभ में कई अन्य भत्तों को मिलाकर सैलरी कम से कम 10 हजार रुपए तो अवश्य मिलती है, जबकि बड़े शहरों में सिटी भत्ता मिलने के कारण सैलरी 12 हजार के करीब हो सकती है। हालांकि, कई राज्यों में एचआरए या अन्य कई भत्तों में अंतर हो सकता है।

प्रमुख शिक्षण संस्थानः दिल्ली यूनिवर्सिटी, डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन, दिल्ली। जामिया-मिलिया इस्लामिया, जामिया नगर, नई दिल्ली-110025। एम डी यूनिवर्सिटी, रोहतक। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय। इंदिरा गांधी ओपन यूनिवर्सिटी। इसके अतिरिक्त लगभग सभी राज्यों के मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालयों में बीएड कोर्स उपलब्ध हैं। यदि आप बीएड से संबंधित देश के चुनिंदा कॉलेजों के बारे में जानकारी लेना चाहते हैं, तो पदकपंमकनण्बवउ साइट पर जाकर कॉलेज के बारे में सिलसिलेवार ब्यौरा प्राप्त कर सकते हैं।

बोरिंग रोड, पटना

महिलाएं एवं आहार विशेषज्ञ

डॉ. हेमलता

हर क्षेत्र में बढ़ते प्रदूषण ने हमारे खान-पान को भी गहरे रूप से प्रभावित किया है। हम जिस अनुपात में स्वाद की ओर बढ़ रहे हैं, उसी अनुपात में स्वास्थ्य से खिलवाड़ भी करते जा रहे हैं। सबसे भयावह स्थिति यह है कि हमें यह पता ही नहीं है कि आखिर हम खा क्या रहे हैं! रंगों और स्वादों से लबरेज जो खाद्य पदार्थ हम प्रतिदिन ग्रहण कर रहे हैं, उसके भीतर कितना जहर भरा है, इसका अहसास हमें तब होता है, जब हम किसी लंबी बीमारी के शिकार होकर डाइटीशियन के पास पहुंचते हैं। महानगरीय जीवन की इस आपाधापी में हमें इतनी भी फुर्सत नहीं मिलती कि अपने दैनिक दिनचर्या पर विचार कर सकें। सबसे बड़ी विसंगति यह है कि हम अपने कपड़े, मकान, गाड़ी आदि चीजों के प्रति तो सावधान रहते हैं, लेकिन स्वास्थ्य के प्रति घोर लापरवाह हो जाते हैं। इसके पीछे का मनोविज्ञान शायद यही होता है कि हम बाकी चीजों की तरह स्वास्थ्य की कीमत को नहीं आंकते। लेकिन जब स्वास्थ्य अचानक बिगड़ जाता है, तब हमें इसका अहसास होता है कि हमने अपने जीवन में कितनी मूल्यवान चीज खो दी है। दरअसल, डाइटीशियन हमें इसी खतरे से आगाह करवाता है, इसलिए पहले की अपेक्षा उसकी उपयोगिता आज अधिक बढ़ गई है। हम सभी जानते हैं कि स्वास्थ्य का सीधा संबंध हमारे खान-पान से है। अगर हमारा खानपान पौष्टिक एवं संतुलित है, तो निश्चय ही स्वास्थ्य अच्छा होगा। स्वास्थ्य के प्रति लोगों में जागरूकता एवं सजगता का यह परिणाम है कि आज एक बीमार व्यक्ति ही नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति भी अपने आपको फिट रखने के लिए डाइटीशियन की मदद ले रहे हैं।

शैक्षणिक योग्यता: डाइटीशियन बनने के लिए 10+2 होना जरूरी है। बारहवीं की प्राथमिक शिक्षा के बाद आप दो वर्ष का न्यूट्रीशियन डिग्री कोर्स कर सकते हैं। इसके लिए अगर आपके पास बारहवीं में होमसाइंस या विज्ञान हो, तो आपको प्राथमिकता मिलती है। इसके अलावा इसमें बीएससी (होम साइंस), एमएससी (फूड एंड न्यूट्रीशियन) एवं डाइटेटिक्स में भी डिग्रियां मिलती हैं।

डाइटीशियन का कार्य: एक डाइटीशियन का कार्य होता है, एक वर्ग-विशेष के अनुसार उसके दिनचर्या के खाने-पीने का ब्यौरा देना। अगर एक मरीज है, तो उसकी बीमारी को ध्यान में रखते हुए उसे क्या खाना है, किस चीज से परहेज करना है, कितनी मात्रा में खाना है आदि बातों को बताना होता है। इसके अलावा गर्भवती महिला, एथलीट तथा मोटापे से परेशान लोगों को वजन कम करने के लिए प्रतिदिन के आहार में किन-किन खाद्य पदार्थों का सेवन कितनी मात्रा में की जाए, इसकी जानकारी देना भी डाइटीशियन के कार्य में शामिल है। लोकनायक हॉस्पिटल की डाइटीशियन वंदना अरोड़ा का कहना है कि एक डाइटीशियन के कार्य में विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के आहार तथा स्वास्थ्य से संबंधित मीनू शामिल होते हैं। उसे कुछ महत्वपूर्ण टिप्स तथा गर्भवती महिला की डाइट एक एथलीट से भिन्न क्यों होती है, आदि की भी जानकारी होती है।

प्राथमिकता: इस कैरियर की यह खासियत है कि इसमें महिलाओं को प्राथमिकता मिलती है। इस संबंध में वंदना कहती हैं कि यदि आप देखने में फिजिकली फिट, मृदुभाषी, मानवीय व्यवहारों की समझ आदि रखती हैं, तो यह कैरियर चुनना आपके लिए उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त अगर आपके भीतर खान-पान से संबंधित नए-पुराने क्षेत्रों पर रिसर्च करने की इच्छा एवं क्षमता है, तब तो आपको इस कैरियर में एक अच्छा मुकाम पाने से कोई नहीं रोक सकता। वर्तमान में डाइटीशियन की विभिन्न क्षेत्रों जैसे-मेडिसिन, फिटनेस केंद्र, पशु विज्ञान, होटल, केटरिंग, खेल जगत, शोध एवं विकास संस्थान, डेंटिस्ट्री तथा जन-स्वास्थ्य क्षेत्रों में लगातार मांग बढ़ रही है। आजकल बड़ी-बड़ी कॉरपोरेट संस्थाएं अपने कर्मचारियों के संतुलित खान-पान के लिए डाइटीशियन की नियुक्ति आहार विशेषज्ञ के रूप में करती हैं। फार्मास्युटिकल एवं अन्य शोध संस्थानों में भी डाइटीशियन की रिसर्च कोऑर्डीनेटर के रूप में नियुक्ति हो सकती है। इसके अलावा बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुएं जैसे बिस्कुट, चॉकलेट, हॉर्लिक्स, च्वयनप्राश, मॉनप्लॉन, ब्रेड आदि बनाने के लिए प्रतिष्ठित कंपनियां न्यूट्रीशियन/डाइटीशियन की सेवाएं लेती हैं।

वर्तमान समय में भक्ति का औचित्य

डॉ. राजीव रंजन

साईबर – संस्कृति से उपजे अनेक कुसंस्कारों के परिष्कार के लिए भाव–प्रवण भक्ति को अंगीकार करना परम आवश्यक है। वैज्ञानिक चकाचौंध से चित्ता–चंचरिक को शांति प्राप्त नहीं हो सकती है। निष्ठा, आस्था, विश्वास एवं सद्भाव ही शांति का आधार है, यह बाह्य नहीं आन्तरिक है जो अन्त: में भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण से प्राप्त होती है। विज्ञान क्षणिक सुखों को उपलब्ध तो करवा सकता है किन्तु परमशान्ति लाभ को नहीं। सम्प्रति, भूमण्डलीकरण के वर्तमान युग में भक्ति के औचित्य को समझना आवश्यक है जिसके द्वारा ही विश्वबन्धुत्व की संकल्पना साकार हो सकेगी।

विश्व कल्याण का अमोल सुयोग है – भक्ति। अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनों एक ही स्नेह के पर्याय हैं। इसी स्नेह के ऊपर समस्त विश्व का उदय और आनन्द निर्भर है। यदि यही स्नेह समस्त भूमण्डल में यथायोग्य सभी लोगों में फैल जाय तो भूलोक एवं स्वर्गलोक के समस्त भेद समाप्त हो जायेगें। माता पुत्र का, राजा प्रजा का, गुरु शिष्य का, करुणासागर भगवान् अपने सृजन (मानव) का पालन इसी स्नेह के वशीभूत होकर करते हैं। यह स्नेह तत्त्व जगत् के समस्त प्राणियों में एकरस प्रवाहित हो रहा है, आज, इस स्नेह तत्त्व को अनुभूत करने की आवश्यकता है। अस्तु, अपरिमित कल्याणगुणों के ज्ञान से उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धीजन तथा पदार्थों से ही क्या प्राणों से भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आने पर भी न टूटने वाले, अत्यधिक सुदृढ़, गंगाप्रवाह के समान अखण्ड प्रेम के प्रवाह को भक्ति कहते हैं।

वस्तुत: स्नेहरस ही भक्ति रस है। यह भक्तिरस दो प्रकार का है, एक शास्त्र प्राप्त दूसरा स्वभाव प्राप्त। परब्रह्म सत्य, विज्ञान और आनन्द है। आनन्दमय की आत्मा भी आनन्द ही है। श्रुतियों से यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है, आनन्दरूप है– 'अहं ब्रह्मास्मि'[1], 'तत्त्वमसि'[2] 'रसो वैस:', 'सत्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म'। 'ममैवांशो जीवलोके'[3] एवं 'एकांशेन स्थितो जगत्' आदि समृतिसूत्रों से भी स्पष्ट होता है कि उस रस रूप परमात्मा का ही रूपान्तर होने से, अंश होने से सब देहों में विद्यमान आत्मा 'जीव' भी वास्तव में रसरूप आनन्द तत्त्व ही है। किन्तु माया, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और देह का आवरण आ जाने से इसकी वह रसरूपता तिरोहित हो जाती है। अत: परमरस रूप परमात्मा के रस से सिक्त होकर ही विश्वशांति एवं प्रेम की स्थापना की जा सकती है। जगत् में व्याप्त द्वन्दों एवं संघर्षों की जड़ है प्रेमरस विमुखता, जिसका क्षय प्रेम अथवा स्नेह रस से किया जा सकता है। इस स्नेहरूपा भक्ति को वैधी भक्ति कहते है। इसे सिद्ध कर लेने पर अपने – पराये के सारे भेद मिट जाते हैं, ' पर' 'स्व' में विलीन हो जाता है, भक्त की यही भावना विश्व को एक सूत्र में बांध देती है। तब भक्त 'सर्व खल्विद ब्रह्म'[4] की परम अनुभूति का साक्षात्कार कर लेता है।

भारतीय वाङ्मय में वेदों के पश्चारत् पुरानों का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान है। भक्ति भारतीय संस्कृति का प्राण है। भक्ति आर्य जाति का सर्वस्व है। प्रत्येक भारतीय इसी भक्ति को आधार मानकर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखों को प्राप्त कर सकते है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अधिकतर सूत्र आध्यात्म से जुड़े हुए है। कुछ ऐसे युग पुरुषों ने यहाँ जन्म लिया है जिनका शाश्वत प्रकाश आज भी भारत भूमि को आलोकित कर रहा है। परम भागवत वह है जो परमात्मा का परम नैष्ठिक भक्त होता है तथा अनेक कठिनाइयों के आने पर भी अपने पथ पर बना रहता है। वह भगवान के चरणों में प्रेम प्राप्त कर सर्वजन–कल्याण भावना को सर्व जन हिताय के रूप में देखकर भगवान के निकट जा पहुँचता है। भारतीय संस्कृति में भक्ति को अमृत स्वरूप समझा जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ ही हमारे जीवन का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया है। मोक्ष की प्राप्ति भक्ति के बिना सरल ढ़ंग से नहीं हो सकती है। इसी लिए शुद्ध आत्मा से की गयी भक्ति ही सच्ची भक्ति कहलाती है। भक्ति मानवीय भावना एवं रुचि में भिन्नता के कारण नौ प्रकार की बतलाई गयी है। नवधा–भक्ति की चर्चा भारतीय वाङ्मय में व्यापक रूप से की गई है। इस तरह भक्ति को सरल, बोधगम्य और व्यापक रूप से प्रस्तुत एवं प्रतिपादित किया गया है।

ईश्वर की उपासना के संदर्भ में आचार्य उद्यण कहते हैं कि जिस 'ईश्वर की वेदांन्ती लोग ब्रह्म के रूप में, बौद्ध लोग बुद्ध के रूप में, प्रामाणपटु न्याय दर्शन के माननेवाले कर्ता के रूप में, जैनी लोग अर्हंत के रूप में, मीमांसक कर्म के रूप में उपासना करते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दू धर्म के संबंध में अनेक भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ हैं। इसके आलोचक इसे

जादू-टोने का धर्म भी मानते हैं। कभी-कभी दर्शन के द्वारा परिवर्तित प्रेतवाद इसमें देखा जा सकता है, लेकिन यह भी हिन्दूधर्म के संबंध में अल्पज्ञान का परिचायक है। इस संबंध में डॉ0 राधकृष्णन ने ठीक ही कहा है- 'तत्त्ववाद द्वारा प्रकाशित जादू-टोने और आमतौर पर प्रयुक्त जादू-टोना में अंतर है। जादू-टोना हो या प्रेतवाद हिन्दूधर्म में जो कुछ मिलाया जाता है उसे आत्मशास्त्र के उच्च स्तर तक पहुँचाया जाता है।'

मोक्ष प्राप्ति के लिए भी हिन्दू धर्म में विभिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। व्यक्ति अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार इन मार्गो को चुन सकता है और इस पर चल सकता है। इस संबंध में भी डॉ0 राधाकृष्णन का स्पष्ट कथन है - 'मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के विषय में हिन्दू विचारकों का रुख बड़ा ही उदार रहा है।' मोक्ष-वभिन्न मार्गो का मोटे रूप से ज्ञान, भक्ति, और कर्म इन तीन प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है। ये तीनों पृथक नहीं है परन्तु अपनी-अपनी प्रधानता पर जोर देते हैं, ज्ञान का अर्थ तीव्र बुद्धि या द्वंद्वात्मक शक्ति नहीं है वह साक्षातकृत अनुभव है। हम पाप से भी बचते हैं जब ईश्वर हमारे सम्मुख रहता है। अगर हमारी अंतर्दृष्टि सत्य है तो सत् कार्य स्वयं होगा। सत्य की प्रवृति सत् कार्य के अतिरिक्त अन्यत्र हो ही नहीं सकती। भक्तिमार्ग सबसे लोकप्रिय हुआ है। यह पापियों तथा पुण्यआत्माओं, मूर्खों तथा विद्वानों और मूढ़ों तथा ज्ञानियों सबको सहज मालूम होता है। प्रार्थना, पूजा, व्रत, उपवास, उत्सव-त्योहार तथा आत्म निरीक्षण सबके सब भक्ति मार्ग में सन्निहित हैं। भक्ति अपनी उच्चतम अवस्था में ज्ञान से मिल जाती है और दोनों से सत् कर्म या सचरित्र जीवन की प्रेरणा मिलती है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में या यूँ कहे आज के इस मायावी युग में जहाँ मानव लोभ, मोह, क्रोध, अहंकार, अज्ञान रूपी दानवों से घिरा हुआ पाता है हर इन्सान स्वार्थ के गर्त में डूबता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव तो हम हैं परन्तु हमारी मानवता का अर्थ कहीं विलुप्त हो गया है। ऐसी स्थिति में जहाँ हम आत्म चिन्तन में अपने को निर्बल और असहाय महसूस करते हैं तो ऐसी स्थिति से उबरने के लिए भक्ति के महत्व को और अधिक व्यापक अर्थ में समझने की आवश्यकता है।

"न हिं मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित''

अर्थात् मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नही है। हमारा आदर्श मानव मात्र की एकता और क्रांतिकारी मानवतावाद् है। हमारा सारा ज्ञान-विज्ञान ये सारे अविष्कार और धन दौलत इन्सान के लिए है, इनसान की तरक्की के लिए है। हमारा लक्ष्य है "सर्वे भवन्तु सुखिन:'' अर्थात् सभी लोग सुखी हो ये तभी संभव है जब हमें आत्मबोध होगा, हम आत्म चिन्तन करेंगे। वस्तुत: सुख और आनंद में अंतर है। सुख क्षणभंगुर और अस्थायी होता है, सुख को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के साधन एवं उपकरण प्रयोग में लाये जाते हैं, इसके साधन पवित्र एवं अपवित्र या दोनों हो सकते हैं। जबकि आनंद शाश्वत होता है, इसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के साधन या उपकरण की आवश्यकता नहीं होती है। यदि किसी साधन की आवश्यकता पड़ती भी है तो वह पवित्र ही होती है। जिस व्यक्ति का भक्ति भाव से ईश्वर साधना में मन लग जाता है, आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है उसे अखंड एवं अलौकिक आनंद की सहज ही प्राप्ति हो जाती है। अत: यदि हम शाश्वत सुख और आनंद की चाहत रखते हैं तो हमें पवित्र साधन को अपना कर उसकी ओर बढ़ना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी ने इस संदर्भ में कहा कि - 'भक्ति तुम्हारे भीतर ही है, केवल इसके उपर काम-कांचन का एक आवरण पड़ा हुआ है। इसके दूर होते ही भक्ति स्वयं प्रकाशित हो उठेगी।' वस्तुत: भक्तों का मार्ग भी उतना ही कठिन है, जितना कि वेदान्तियों अथवा राजयोगियों का। कोई भी मार्ग बहुत आसान नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में कोई राजमार्ग नहीं है। केवल जिज्ञासुओं को प्रात्साहित करने के लिए सन्त-महात्मा कहते हैं कि भक्ति या प्रेम का मार्ग सबसे आसान है। प्रत्येक मार्ग में अहंकार के पूर्ण उन्मूलन की अपेक्षा की जाती है। एक कर्मयोगी नि:स्वार्थ सेवा द्वारा अपने अहंकार का नाश करता है, तो एक भक्त आत्म-समर्पण द्वारा भक्ति मार्ग के बाधाओं और संकटों से मुक्त हो जाता है। यह तलवार की धार के समान है। यह अति संकरा है जिसमें केवल 'एक' प्रवेश पा सकता है। जब भगवान् हैं तो 'मैं' नहीं, और जब 'मैं' है तो भगवान् नहीं है। भगवत्व प्राप्ति के लिए अहं का नाश आवश्यक है।

निष्कर्षत: हृदय प्रकोष्ठ के प्रेम प्रपात से निरन्तर अमृत टपक रहा है। इस अमृत का पान करते हुए भक्त प्रत्येक कदम पर प्रभु के प्रेमपूर्ण आलिंगन का अनुभव करता है। यही कारण है कि व निर्भयतापूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है। दिव्य कृपा के बिना वह इस संघर्ष में विजयी नहीं हो सकता। प्रभु की सहायता के बिना वह अपने खतरनाक मार्ग पर एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकता। अव्यक्त सत्ता के अदृश्य हाथ सदैव उसकी सहायता करते हैं।

संदर्भ - सूची:

1. वृहद्0 उप0 - 1/4/10
2. छां0 उप0 - 6/8/7
3. गीता - 15/7
4. छां0 उप0 - 3/14/1

नीतीश्वर महाविद्यालय, दर्शन शास्त्र विभाग, मुजफ्फरपुर

दयनीय स्थिति में बाल श्रमिक

ललन प्रसाद सिंह एवं सुरेश कुमार

जहां एक ओर यह दलील दी जाती है कि बच्चे देश के भविष्य हैं वहीं कुछ ऐसे बच्चे जिनकी उम्र खेलने, घूमने और पढ़ने की होती है वे बच्चे अपनी पेट की आग बुझाने व परिवार को चलाने के लिए मजदूरी करने पर विवश हैं और अपने आप को बाल श्रमिक के रूप में समाज के सामने पेश कर चुके हैं।

ये ऐसे बच्चे हैं जिनके परिवार की आय बहुत ही कम है तथा जो गरीब परिवार से अपना संबंध रखते हैं। अनेकों संवैधानिक प्रावधानों के बनने के बावजूद भी बाल श्रम समाज के सामने एक कलंक के रूप में देखा जा रहा है। किसी फिल्म का यह गाना ''नन्हें मुन्ने बच्चों तेरी मुट्ठी में क्या है?

मुट्ठी में है तकदीर हमारी'' शायद यह गाना इन बच्चों के लिए नहीं है जो और बच्चों की तरह अपनी जिन्दगी का निर्वाह नहीं कर पाते हैं। सभी व्यस्क जब रात को सो जाते हैं तो ये सोते हैं और जब तक ये वयस्क सुबह तक सोये रहते हैं उससे पहले इन बच्चों को उठ जाना पड़ता है। इन बाल श्रमिकों में बिहार के बाल श्रमिक सर्वाधिक हैं। बिहार में खासकर उत्तर बिहार जो हमेशा बाढ़, सूखा तथा अकाल जैसी त्रासदी को झेलते रहता है बाल श्रमिक में अपना प्रमुख स्थान रखता है जिनमें मुजफ्फरपुर, मधेपुरा, सहरसा, इत्यादि जिले प्रमुख हैं।

बिहार के बाल श्रमिक पूरे भारत में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दिल्ली के अलावा अन्य राज्यों जैसे-पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, असम तथा उत्तर प्रदेश में भी बिहार के बाल श्रमिक अच्छी संख्या में कार्य कर रहे हैं। हालांकि बिहार में अब जाकर बाल श्रमिकों की रोकथाम की पहल की जा रही है। किंतु बिहार के अंदर ही गरीबी के कारण विभिन्न रेलवे स्टेशनों, बस स्टैण्डों पर गुटखा व पानी के बोतल बेचते हुए बाल श्रमिक देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त बिहार में कृषि कार्य, पशुपालन, मुर्गी पालन, निर्माण, चिमनी भट्ठा, टायर रिसोलिंग, गैरेज, होटल तथा घरेलू नौकर के रूप में बिहार का हर पांचवा बच्चा काम करने को मजबूर है। बाल श्रमिकों को यहां इसलिए रखा जाता है कि उन्हें 200 रुपये से लेकर 500 रुपये प्रतिमाह वेतन देकर लगभग 10 से 14 घंटे तक काम लिया जाता है।

विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों का यह मानना है कि बिहार में लगभग 8 लाख से ऊपर बाल श्रमिक हैं और यदि पूरे भारत में इसका सर्वेक्षण कराया जाए तो सर्वाधिक बाल श्रमिक बिहारी ही होंगे।

बिहार के बाल श्रमिक अन्य प्रांतों में बहुत कम ही वेतन पर बहुत खतरनाक उद्योगों एवं व्यवसाय में लगे हुए हैं। अन्य प्रांतों के अलावा भी कुछ ऐसे बाल श्रमिक हैं जो बिहार में ही रहकर बाल श्रम करते हैं। बिहार में ये बाल श्रमिक निम्नलिखित कार्यों में लगे नजर आते हैं जो इस प्रकार हैं–

1. रद्दी चुनना, 2. रेलवे स्टेशनों व बस स्टैण्डों पर गुटखा बेचना व पानी बोतल बेचना, 3. बिस्कुट व पावरोटी फैक्टरी में काम करना, 4. घरेलू नौकर, 5. ऑटो गैरेज व ऑटोमोबाइल गैरेज में काम करना, 6. चिमनी भट्ठा में कार्य करना, 7. टायर रिसोलिंग में काम करना, 8. कपड़ा रंगाई व बुनाई में काम करना, 9. ऑटो के पीछे खलासी गिरी करना, 10. चाय दुकान व होटलों में काम करना, 11. चुड़ी व लहठी बनाने का काम करना, 12. कांच अथवा कांच के सामान बनाना, 13. अगरबत्ती, मोमबत्ती का निर्माण कार्य, व 14. विभिन्न प्रकार के स्वरोजगारों व अन्य कार्यों को करना, इत्यादि।

वर्ष 2004 में बिहार झारखंड में कराये गये बाल श्रमिकों के सर्वेक्षण में बिहार के कुछ प्रमुख जिला में बालश्रमिकों की संख्या इस प्रकार है–

जिला का नाम	बालश्रमिकों की संख्या	जिला का नाम	बालश्रमिकों की संख्या
बेगूसराय	2984	मोतिहारी	2919
जमुई	2425	भागलपुर	5682
मुंगेर	1340	समस्तीपुर	5430
खगड़िया	3160	मधुबनी	4949
पूर्णिया	15, 272	सीतामढ़ी	5265
अररिया	12, 495	दरभंगा	6112
मुजफ्फरपुर	4760	मधेपुरा	3179
कटिहार	8431	बेतिया	5403
किशनगंज	5533	शिवहर	1250

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि बिहार में बालश्रमिकों की संख्या कम नहीं है। हालांकि यह तथ्य सरकार ने अपने सर्वेक्षण के माध्यम से उपलब्ध कराये हैं। किंतु विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों का यह मानना है कि बिहार में लगभग 8 लाख से ऊपर बालश्रमिक हैं और यदि पूरे भारत में इसका सर्वेक्षण कराया जाए तो सर्वाधिक बालश्रमिक बिहारी ही होंगे।

बाल श्रमिक एक सामाजिक अभिशाप है। जो बच्चे पढ़ना चाहते हैं उन्हें काम पर भेजा जा रहा है। बाल श्रम प्रथा किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर एक बोझ मानवता के नाम पर एक कलंक तथा बच्चों के लिए अभिशाप है लेकिन कुछ वर्गों के निजी स्वार्थों के रहते ये न केवल भारत या तीसरी दुनिया के देशों में बल्कि संसार के संपन्न और विकसित कहे जाने वाले देशों में भी नियोजित प्रकार से तेजी से प्रचलित है। यहां तक की अमेरिका जैसे धनी और संपन्न देश तक में बालश्रम की घटनाओं में लगातार वृद्धि हो रही है। अमेरिका महालेखाकार की रिर्पोट के अनुसार वर्ष 1990 से 2000 के बीच अमेरिका में बाल श्रम कानून के उल्लंघन की घटनाओं में 150 से भी अधिक प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वहां के उद्योगपति सस्ती मजदूरी के लिए बाल श्रमिकों को सेवानियोजित करते हैं। इसी प्रकार मध्य तथा पूर्वी यूरोप तक में इस प्रकार की घटनाओं में वृद्धि की गई है लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में यह समस्या अति विकराल है। विभिन्न संगठनों द्वारा एकत्रित आंकड़ों के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है। तीसरी दुनिया के लगभग सभी देशों में बच्चों को विभिन्न उद्योगों और कार्यों में नियोजित कर उनका शोषण किया जाता है।

इस प्रकार विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो बाल श्रमिक आज कार्य कर रहे हैं उन्हें तनिक भी ये करने की इच्छा नहीं है। जिस तरह से भयावह रूप में बिहार के बाल श्रमिक दूसरे राज्यों में कार्य कर रहे हैं तथा आये दिन उन्हें मुक्त कराया जा रहा है यदि इस पर रोक नहीं लगाया जाता है तो भारत का भविष्य घोर संकट में पड़ जायेगा। उन बच्चों के लिए जो बच्चे मजदूरी करने पर विवश हैं उनकी आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण कराकर जरूरत है उनके परिवार के समक्ष रोजगार उत्पन्न करने का साथ ही उनके लिए चलाये जा रहे बाल श्रमिक परियोजना विद्यालय को सुचारू रूप से चलाकर उन बच्चों के लिए कुछ रोजगारोन्मुख शिक्षा प्रदान की जाए जिससे वे इस तरह के कार्यों को न करें साथ ही कुछ कार्य करते हुए पढ़ाई भी करते रहें। इसके साथ ही बाल श्रमिकों से संबंधित कानून को कठोरता पूर्वक लागू किया जाए।

संदर्भ ग्रंथ

1. बाल श्रम गणना रिर्पोट ।
2. कुरुक्षेत्र–नवंबर 2007 ।
3. हिन्दुस्तान दैनिक ।
4. योजना–नवंबर 2008 ।
5. भारत में बाल मजदूर–सुभाष शर्मा ।

शोध छात्र बी॰ आर॰ अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

बिहार की कृषिः प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता

मो. ऐहतसाम सिद्धीकी

परिचय

बिहार एक कृषि-प्रधान राज्य है। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यहाँ अर्द्ध-सामंतवाद कृषि क्षेत्रों में फैला हुआ है, जिसके फलस्वरूप भूमि का अधिकांश भाग कुछ बड़े कृषकों के पास है, जो कृषकों एवं खेतिहर मजदूरों का भारी शोषण कर रहे हैं। खेतिहर मजदूर को भारी परिश्रम के बाद भी न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल पाती हैं। इस राज्य के कुल आय में कृषि क्षेत्र का योगदान अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से कृषि क्षेत्र के सापेक्षिक महत्व में धीरे-धीरे कमी हो रही हैं। ऐसा भारतीय अर्थव्यवस्था में भी पाया जा रहा है। बिहार में कृषि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूप में अधिकांश जनसंख्या के जीवन यापन का साधन रही हैं। यहाँ की कृषि प्रकृति पर निर्भर है जिसमें विशेष रूप से वर्षा निश्चित नहीं है। कभी अधिक व कभी न्यून हो जाती है। इसी कारण बिहार की कृषि को 'मानसून का जुआ' कहा जाता है।

उद्धेश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्धेश्य यह दर्शाना है कि बिहार की कृषि व्यवस्था की समस्याएँ क्या है? तो प्रगति की क्या समस्याएँ है तो दूसरी ओर यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि उसकी क्या प्राथमिकताएँ है। इस शोध-पत्र के माध्यम से यह भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि बिहार के विभाजन के बाद उसकी प्रगति कैसे सम्भव है। इस हेतु यथा सम्भव सुझाव भी दिए गए है।

विश्लेषण

राज्य विभाजन के पश्चात कृषि की भूमिका राज्य की प्राकृतिक संपदा में भूमि और जल मुख्य हैं। वनों एवं खनिज अवयवों की उपस्थिति नगण्य है। परिणामतः बिहार की अर्थव्यवस्था में गैर कृषि क्षेत्रों के विकास की गति काफी धीमी हैं। उद्योग में अवसरों की कमी, शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में समन्वय का अभाव तथा कमजोर बुनियादी ढाँचे ने कृषि की महत्ता को बरकरार रखने में योगदान किया है। प्राकृतिक संपदाओं पर मनुष्य एवं जानवरों की संख्या का काफी दबाव है। इन सभी कारणों से राज्य में पिछड़ी खेती, प्रति व्यक्ति कम आय अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक गरीबी का बोलवाला है। बिहार में कृषि छोटे कृषकों पर आधारित है, 84 प्रतिशत किसानों के पास एक हेक्टयेर से भी कम जमीन है, अतः बिहार में कृषि-विकास की रणनीति लधु किसानों पर आधारित होनी चाहिए। कृषि के मुख्य धटक-फसल, पशुधन एवं मत्स्य का समीकृत विकास जरूरी है। सर्वप्रथम पिछले कुछ वर्षो में इन तीनों धटकों की प्रगति का संक्षिप्त अवलोकन करना अनिवार्य है। तत्पश्चात कृषि विकास की समस्याओं एवं कृषि के त्वरित विकास के लिए प्राथमिकताओं का उचित चयन भी महत्वपूर्ण है।

कृषि की प्रगति

1. **फसल क्षेत्रः**- 90 के दशक में तीन प्रमुख फसलों धान, गेहूँ एवं मक्का के उत्पादन में वृद्धि-दर बहुत ही अच्छी रही। धान एवं मक्का की उत्पादकता में वृद्धि मुख्य श्रोत रहा, जबकि गेहूँ में क्षेत्र-विस्तार का महत्वपूर्ण योगदान रहा। लेकिन शेष फसलों में उत्पाद वृद्धि संतोषजनक नहीं कही जा सकती है जबकि 80 के दशक में इन फसलों के अतिरिक्त ईख, मसूर, तिलहन के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई थी।
2. **फल व सब्जीः**- मुख्य फलों एवं सब्जियों जैसे बैगन, टमाटर, आम, प्याज, गोभी, लीची आदि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। बिहार के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि-दर बाँकी दो क्षेत्रों में फलों एवं सब्जियों की खेती पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
3. **पशुधन एवं मत्स्यः**- प्रमुख पशुधन पदार्थो में दूध-उत्पादन की वृद्धि सामान्य रही तथा अब भी हम दूसरे राज्यों से काफी पीछे है। लेकिन मत्स्य उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आज हम मत्स्य उत्पादन में अन्य राज्यों से काफी अच्छे हालात में है। मगर आध्रप्रदेश, केरल, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों से हम काफी पिछड़े हुए है।

कृषि क्षेत्र में नवीन संसाधनों का उपयोग

भारत में हरित क्रांति लाने में रासायनिक खाद, बीजों की नई किस्मों, तथा सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका हैं। मशीनीकरण

तथा कृषि रसायनों का उपयोग भी सहयोगी भूमिका निभा रही है। बिहार में खाद का उपयोग 1990 में महज 22 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से बढ़कर सदी के अंत में 90 कि0 ग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गया है। साथ ही साथ विभिन्न क्षेत्रों में तथा जिलों में इनके उपयोग के स्तर में काफी असमानता है। बिहार में 1990 में कुल फसल क्षेत्र का 50 प्रतिशत भाग सिंचित था। यह प्रतिशत 2004-05 तक बढ़कर 58 प्रतिशत हो गया है। यहाँ यह बताना आवश्यक होगा कि कुल सिंचित भूमि लगभग स्थिर है तथा सिंचाई के उपयोग की सधनता भी स्थिर है। अधिक उपजाऊ किस्मों का प्रयोग बढ़ा है, धान, गेहूँ एवं मक्का में अधिक उपजाऊ बीजों का उपयोग लगभग 70 प्रतिशत भूमि पर हो रहा है। ट्रेक्टर तथा पंपसेट की उपलब्धता भी पिछले दो दशकों में दुगुनी हुई है। प्रति हजार शस्य भूमि में ट्रेक्टर की उपलब्धता भी 20 थी अब यह संख्या 50 के आसपास हैं। कीटनाशकों एवं खरपतवार नाशकों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

समस्याएँ

राज्य में कृषि का विकास कुछ मूलभूत समस्याओं जैसे–शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण संस्था एवं बुनियादी ढाँचे की जर्जर स्थिति से भी प्रभावित हुआ है। इन क्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिकता कृषि के विकास को प्रभावित करने में मुख्य भूमिका निभाएगी। सीधे तौर पर कृषि के विकास में आ रही समस्याओं का विवरण निम्नलिखित प्रकरणों में दिया गया है।

1. **भूमि संसाधनः**- राज्य की 41 प्रतिशत से अधिक भूमि बाढ़ संभावित क्षेत्र है। जलग्रहण भी काफी अधिक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। दियारा, चौर तथा टाल क्षेत्र में इन कारणों से खरीफ मौसम में परती रहते है। इन क्षेत्रों के समन्वित विकास के लिए एक उपयुक्त रणनीति बनानी चाहिए। इसी प्रकार करीब 40 प्रतिशत क्षेत्रों में सूखे की आशंका बनी रहती है। इस तरह की अनिश्चिता उत्पादन-क्षमता तथा उत्पादकता को ऋणात्मक ढंग से प्रभावित करती है। इन मूलभूत समस्याओं के निदान के लिए काफी पूँजी-व्यय की आवश्यकता होगी इसके अतिरिक्त कुछ और समस्याएँ है।
2. **जल संसाधनः**- बाढ़-सूखा तथा पानी एवं पानी के निकास का अकुशल एवं अपर्याप्त प्रबंधन पानी की बहुतायत के बावजूद एक समस्या के रूप में कृषि को प्रभावित कर रहा है। इसे ठीक करने के लिए सुचारू एवं समयबद्ध योजना की जरूरत है। सतही सिंचाई व्यवस्था की स्थिति काफी दयनीय है। भूमिगत जल संसाधनों के शोषण ने राज्य में सिंचाई के विकास में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य में भूमिगत जल संसाधन के विकास की काफी संभावनाएँ है। अतः भूमिगत जल संसाधनों के वैज्ञानिक आधार पर विकास को वरीयता दी जानी चाहिए।
3. **बीज व खाद का उपयोगः**- नई किस्मों का उपयोग काफी हो रहा है, लेकिन इनकी विस्थापन दर बहुत ही कम है। राज्य बीज निगम तथा दूसरी सार्वजनिक इकाईयां बीजों की मांग को पूरा करने में असमर्थ रही है। कृषि विस्तार पद्धति भी इन समस्याओं को दूर करने में असफल रही है। लेकिन कृषि विकास के लिए इस क्षेत्र का पूनर्जीवन आवश्यक है। राज्य में प्रति हेक्टेयर खाद का उपयोग बढ़ा है। लेकिन 90 के दशक में खाद का उपयोग काफी असंतुलित हुआ है, जो कि कृषि की सत्ता के लिए एक चुनौती है। बिहार में कृषि अन्य कृषि उन्नत राज्यों की तुलना में अस्थिर है।
4. **संस्थान तथा प्रशासनिक व्यवस्थाः**- कृषि एवं ग्रामीण विकास से संबंधित सभी संस्थान, चाहे सरकारी हों या स्वायत्त, व्यावहारिक रूप से ठप हो गए है। इन संस्थानों को सुचारू रूप से चलानेवाले नियम-कानून अपनी महत्ता खो चुके हैं। विशेषतया सिंचाई, सहकारिता कृषि विपणन, मत्स्य, मृदा-क्षरण, पशुधन, भूमि-राजस्व आदि विभागों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हैं। कानून व्यवस्था के अतिरिक्त सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वयता एवं समग्रता के अभाव तथा मंत्रालय कृषि एवं ग्रामीण विकास के कार्यो में संलग्न है। अपने अस्तित्व को बरकार रखने के लिए सभी को संसाधनों की आवश्यकता होती है।

प्राथमिकताएँः निवेश व नीतियाँ

बिहार के समग्र विकास के मूलभूत सामाजिक तथा भौतिक (सड़क,उर्जा,संचार) बुनियादी ढ़ाँचा का विकास सर्वोपरि है। दसवीं योजना में शेष निवेश इन बुनियादी ढाँचे के मजबूत करने के पश्चात ही किया जाना है। हलाँकि यह सर्वथा तर्क संगत है, लेकिन लीक से हटकर है। इस तरह के कार्यान्वयन में कठिनाई आ सकती है अतः निम्नलिखित प्रकारणों में हम कुछ कृषि से संबंधित निवेश की प्राथमिकताओं को निर्दिष्ट कर सकते है।

- कृषि से संबंधित निवेश में बाजार के विकास को उच्च प्राथमिकता दिया जाना चाहिए। विशेषतया उच्च मूल्य वाले फलों सब्जियों, जलीय पदार्थो जूट आदि के विपणन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
- कृषि अनुसंधान एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ संसाधनों की नितांत कमी है। कृषि अनुसंधान में निवेश कम-से-कम वर्तमान स्तर से दुगुनी करने की आवश्यकता है। संसाधनों की उपलब्धता के साथ-साथ कार्य-संस्कृति को बढ़ावा दने की भी समान आवश्यकता है।

दृष्टिकोण

- जैसा कि विदित है, राज्य में कृषि विस्तार सेवा की हालत चिंताजनक है। राज्य में कृषि के विस्तार को नई प्रेरणा नए कार्यक्रम नए चेहरे तथा नई व्यवस्था की जरूरत है।
- सिंचाई की प्राथमिकता सदैव उच्च रहेगी बड़े तथा मध्य सिंचाई के क्षेत्रों में पहले से उपलब्ध क्षमता का पुनर्जीवन तथा क्षमता के अनुसार समुचित उपयोग पर निवेश करना चाहिए। लधु सिंचाई के क्षेत्र में नई क्षमताओं का विकास तथा उसकी देखभाल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।
- राज्य में कृषि की विविधता को प्रोत्साहित करने पर विशेष बदल दिया जाना चाहिए। कृषि क बहुमूल्य अवयवों-पशुधन, मत्स्य, फल व सब्जी के उत्पादन एवं विपणन पर निवेश को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।
- विभिन्न फसलों एवं पदार्थो के विकास के लिए अनुकूल क्षेत्रों की पहचान कर इन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पशु के स्वास्थ्य पर भी निवेश की नितांत आवश्यकता है।
- राज्यों कृषि की सांख्यिकीय पद्धति व व्यवस्था बिलकुल ठप पड़ गई है। जिसके कारण उचित एवं तर्कसंगत निर्णय लेने मे असीम कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अतः इनका पुर्नविकास एवं पुर्नजीवन आवश्यक है।

नीतियाँ

भूमि एवं जल से संबंधित नीतियों व्यवहारीकरण आवश्यक है। भूमि की बटाई, भूमि तथा जल संसाधनों के दोहन तथा प्रयोग के लिए नियम पक्रिया, सामूहिक संसाधनों का प्रबंधन इत्यादि के लिए उचित मार्ग-दर्शिका जरूरी है।

- ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-ऋण की व्यवस्था भी लगभग क्रियाहीन ही है, व्यवस्था के दोष सर्वज्ञात है, निराकरण को अमल में लाने की आवश्यकता है।
- कृषि-विपणन से संबंधित कानून भी पुराने एवं अप्रासंगिक हो गए है। बहुत सारे क्षेत्रों के लिए कोई नियम-प्रावधान अस्तित्व में है ही नहीं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य तथा क्षेत्रों में बदलाव को ध्यान में रखते हुए समुचित विपणन-प्रावधान बनाने की आवश्यकता है।
- गैर कृषि क्षेत्रों, कृषि परिसंस्करण तथा मूल्य संवर्द्धन की कोई समग्र नीति नहीं है, भविष्य में इन क्षेत्रों का विशेष महत्व है।
- कृषि तथा ग्रामीण विकास की योजनाएँ क्षेत्रीय आधार पर तैयार करने की आवश्यकता दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं। हमें अपनी पुरानी पद्धति 'सब कुछ सबके लिए' की नीति का परित्याग करना होगा।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समस्त तथ्यों के अवलोकनोपंरात हम कह सकते है कि बिहार में कृषि उन्नति की असीम सम्भावनाएँ है। हमें हरित क्रांति का क्षेत्र रहे इस बिहार की क्षेत्रों में क्रांति की स्वार्णिक स्थिति को बरकरार रखने की कोशिश करनी चाहिए। यहाँ मिऋी को लवणीकरण, भूजल स्तर में गिरावठ, खर-पतवारों की अधिकता, कीटनाशकों का अतयधिक उपयोग जैसे समस्या व्यापक पैमाने पर है। हमें यहाँ पर्यावरणीय दशाओं के अनुकूल खेती को संरक्षण देना होगा। अनाज के नये किस्मों को आर्गेनिक खेती से जोड़ना होगा। हमारे प्रयास यह भी होना चाहिए कि हम खेती की तकनीकों का प्रसार बिहार के हर क्षेत्रों में समान रूप से करें। बिहार के दर्जनों विभाग एवं मंत्रालय व्यर्थ में कृषि के विकास में संलग्न है इनके एकीकरण की आवश्यकता है ताकि सीमित साघनों का समुचित प्रयोग हो सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा एवं विरसा कृषि विश्वविद्यालय राँची द्वारा प्रकाशित सर्वेक्षण रिपोर्ट।
2. चेंजिंग एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन इंडिया-जी.एस. भल्ला।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था- रूद्रदन्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली।
4. बिहार की अर्थव्यवस्था-डॉ. पी.सी.वर्मा, तिरूपति उर्मिला पल्लवी प्रकाशन पटना।
5. बिहार का वृहत्त भूगोल-डॉ. ए. के. गौतम।
6. सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, बिहार सरकार की प्रमुख पत्रिकाएँ।
7. प्रतियोगिता दर्पण जून-2006 एवं जून-2008।
8. योजना जनवरी-2007 तथा फरवरी-2008।
9. कुरूक्षेत्र एवं भारत -2007।
10. विभिन्न समाचार पत्र, जैसे-दैनिक हिन्दुस्तान, प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण आदि।

शोधार्थी (भूगोल विभाग)

पटना वि. वि. पटना एवं व्याख्याता (भूगोल) +2 उच्च विद्यालय दयालपुर, हाजीपुर, वैशाली

पर्यावरण सरंक्षण के वैधानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास: एक विवेचन

डॉ. अर्चना

परिचय

पर्यावरण सरंक्षण का केन्द्रीय विषय प्राकृतिक एवं पारिस्थितिक पर्यावरण पर मानव कार्यकलाप का दबाब घटाना अथवा न्यूनतम करना है। यह पर्यावरण में निहित संसाधनों का अत्यधिक उपयोग, अवांछित उपभोग तथा दुरूपयोग न करने का प्रयास है। पर्यावरण सरंक्षण का मूल मंत्र है स्वस्थ पर्यावरण में स्वस्थ मानव, स्वस्थ मानव का स्वस्थ दिमाग, तात्पर्य यह है कि पूर्ण स्वस्थ बर्धक वातावरण बनाना, पर्यावरण सरंक्षण की नीति विशेषरूप से तीन स्तरीय बनाती है, (i) विश्व स्तरीय (ii) राष्ट्र स्तरीय (iii) स्थानीय स्तरीय। भारत में पर्यावरण के रख रखाव की एक लम्बी सामाजिक परंपरा है जिसका प्रमाण असंख्य पक्षियों और बंदरों के बिना भय के इधर-उधर घूमने तथा पूरे देश में पीपल और वरगद जैसे वृक्षों की मौजूदगी से मिलता है। परम्परागत रूप से प्रशासनिक प्रणाली में पर्यावरण के रख रखाव की जिम्मेदारी नागरिक सुविधाओं हेतु उत्तरदायी अभिकरणों पर थी।

उद्धेश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्धेश्य यह बताना है कि शुद्ध पर्यावरण के मानक कौन-कौन से है। पर्यावरण के सरंक्षण के वैधानिक प्रयास क्या क्या किए गए? तो दूसरी ओर इस शोध-पत्र में यह भी दर्शाया गया है कि पर्यावरण की सुरक्षा हेतु अन्तराष्ट्रीय प्रयास कौन-कौन से किए गए है। इस शोध-पत्र में पर्यावरण सरंक्षण हेतु महत्वपूर्ण सुझाव देने का प्रयास किया गया है।

विश्लेषण

'परि' उपसर्गपूर्वक 'आवरण' के योग से निष्पन्न 'पर्यावरण' का शब्दकोशीय अर्थ होता है– आस पास, पड़ोस, मानव, जन्तुओं या पेड़-पौधों की वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाली बाह्य दशाएँ, कार्य-प्रणाली तथा जीवनयापन की दशाएं। सविन्द्र सिंह एवं ए. दूबे ने पर्यावरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि पर्यावरण एक अविभाज्य समष्टि है तथा भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तत्वों वाले पारस्परिक क्रियाशील तंत्रों से इसकी रचना होती है। अपने तात्विक विशेषताओं के आधार पर दो भागों अजैविक या भौतिक तथा जैविक में विभक्त पर्यावरण के तत्व अपार शक्ति के भण्डार होते है। पर्यावरण के जैविक तत्वों पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु में मानव की क्रियाशीलता सर्वाधिक है। पंचभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन व समीर) निर्मित मानव अपने जनन, पोषण तथा कर्म अर्थात जीवन संचरण के प्रत्येक क्षेत्र के लिए पर्यावरणीय उपागमों पर निर्भर होता है। संतुलित पर्यावरणीय दशाओं में ही व्यक्ति संतुलित तथा चिर स्थायी विकास कर सकता है, जबकि पर्यावरण की अतिक्रम्यता के बदले विकास का सौदा भविष्यगत भयावह परिणाम का सूचक होता है।

पर्यावरण सरंक्षण का केन्द्रीय विषय प्राकृतिक एवं पारिस्थितिक पर्यावरण पर मानव कार्यकलाप का दबाव घटाना अथवा न्यूनतम करना है। पर्यावरण सरंक्षण के दो सिद्धांत हैं।

i. परिरक्षात्मक (Preservationist)

ii. सरंक्षात्मक (Conservationist)

प्रथम में प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ पर पूर्ण प्रतिबंध होता है। द्वितीय में प्रकृति एवं मानव के मध्य सहजीवन व संस्थागत समायोजन बनाया जाता है। इसमें दो उप-विभाजन होते हैं। (i) पर्यावरण संसाधनों का सांघ्रत (Sustainable) उपयोग

(ii) सहमित्र तकनीक का विकास। पर्यावरण सरंक्षण को पुनः दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (क) भौतिक संसाधनों का सरंक्षण (ख) जैविक संसाधनों का सरंक्षण।

पर्यावरण सरंक्षण के वैधानिक प्रावधान

पर्यावरण समस्या विश्व स्तरीय है पर्यावरण प्रदूषण का प्रभाव विश्व के समस्त क्षेत्रों पर पड़ता है। इसलिए विश्व पर्यावरण दिवस मनाने की कल्पना की गई। इसके लिए 1972 में स्टॅकहोम (स्वीडन) में विश्व स्तरीय शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ का पर्यावरण कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम में जून पर्यावरण दिवस निश्चित कर दिया गया। इससे सम्बंधित कार्यक्रम निम्न है:

i) UNEP - United Nation Environment Programme (1972).
ii) IBP - International Biological Programme (1970).
iii) GEFS - Global Environmental Monitoring System.
iv) SCIBP - Special Comittee on International Biological Programme.
v) SCOPE - Scientific Committee on Problems of Environment.
vi) COWAR - Committee on Water Research.
vii) UNCED - United Nations Council for Environment.

प्रथम पृथ्वी सम्मेलन 1992 जून में ब्राजील की पुरानी राजधानी रियोडीजेनरो शहर में आयोजित हुआ। पर्यावरण सरंक्षण के लिए द्वितीय पृथ्वी सम्मेलन जून 1997 न्यूयार्क में आयोजित हुआ। इसमें विस्तार से पर्यावरण सरंक्षण पर चर्चा हुई। एजेण्डा 21 में 800 पृष्ठों का दस्तावेज में पर्यावरण को सुरक्षित करने के लिए 04 भाग 26 धाराओं का दस्तावेज है। प्रथम-निर्धारण, जनसंख्या नीति, स्वास्थ्य, शिक्षा, महिला, युवाओं का विकास अधिकार, द्वितीय-भोजन, सुरक्षा, स्वच्छ जल, तृतीय-शुद्ध जलश्रोतों की सुरक्षा, विषाक्त रसायनों का सुरक्षित प्रयोग, चतुर्थ-पर्यावरण, धूल स्प्रे पर रोक, वन सरंक्षण।

हरित गृह प्रभाव वाली गैसों के उत्सर्जन पर नियंत्रण। कारण तापमान में वृद्धि को कम करना। CO_2 व अन्य गैसों के उत्सर्जन पर कमी के उपाय का प्रयास किया जाए यह वैज्ञानिक स्तर पर बाध्यकारी संधि है। अन्तराष्ट्रीय रेडक्रॉस की तर्ज पर ग्रीनक्रॉस की स्थापना की गई है। जो पर्यावरण के विभिन्न क्षतिग्रस्त जैविक संसाधनों की सुरक्षा की देखभाल करेगी। यह पृथ्वी सम्मेलन में मूलरूप में रूसी राष्ट्रपति मिखाइल गोर्वाच्योव की अध्यक्षता में बना। पृथ्वी रक्षा कोष का प्रस्ताव अन्तराष्ट्रीय स्तर पर पूर्व भारतीय प्रधानमंत्री स्व0 राजीव गाँधी ने 1989 में बेलग्रेड में 09वें निर्गुट सम्मलेन में किया था। इस कोष निर्माण के उद्वेश्य उन देशों की सहायता करना था, जो पर्यावरण के दृष्टिकोण से उचित प्रौधोगिकी खरीदना चाहेंगे।

तापमान वृद्धि, ओजोनछिद्र, वन्य सरंक्षण, हरित गृह प्रभाव, ग्लेशियरों का पिघलना इन समस्याओं से निपटने के लिए 'जेफ' संस्था की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की गई है। इसके कार्यक्रम विश्व बैंक तथा UNDP संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा संचालित होंगे। वनस्पति वन्य जीवन और मानव जीवन के मध्य प्राकृतिक संतुलन हेतु 1983 में ड्यूक एडिनवरा के अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गई। ॅथ की स्थापना का उद्वेश्य प्राकृतिक सरंक्षण है।

पर्यावरण सरंक्षण के राष्ट्रीय प्रावधान

i. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 48A एवं 51A में राज्य के लिए वनस्पति सम्पदा एवं वन्यजीव सम्पति की सुरक्षा अनिवार्य है। भारतीय नागरिकों के लिए इसकी नैतिक जिम्मेदारी दी गई है।
ii. भारतीय दण्ड विधान की धाराएँ 268, 269, 272, 277, 278, 284, 290, 298 तथा 426 में प्रदूषण के लिए दण्डात्मक प्रावधान है।
iii. भारतीय दण्ड प्रक्रिया की संहिता की धारा 133 में प्रदूषण को रोकने के व्यापक प्रावधान है।
iv. वन्य जीव सरंक्षण अधिनियम-1972 में जीवों के सरंक्षण के प्रावधान है।
v. इण्डियन फॉरेस्ट एक्ट 1927 वनों की सुरक्षा के लिए प्रभावी नियम बनाए है। इस एक्ट में वनों को निम्न तीन वर्गों में रखा गया है।
vi. A) आरक्षित वन B) सुरक्षित वन C) पंचायती वन

vii. जल प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम-1974 के अन्तर्गत केन्द्रीय एवं प्रांतीय सरकारों से जल प्रदूषण के नियंत्रण के प्रावधान है।

viii. वायु प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम-1981 में केन्द्रीय एवं प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण बोर्ड को वायु प्रदूषण के विरूद्ध कार्यवाही करने के अधिकार दिए है। प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड किसी भी निजी एवं सरकारी परिसरों में जाकर वायु के नमूने एकत्र कर सकते है एवं मानक के अनुसार न होने पर इनके विरूद्ध कानूनी कार्यवाही कर सकते है।

पर्यावरण सरंक्षण अधिनियम-1986 प्रदूषण नियंत्रण व पर्यावरण सरंक्षण के लिए व्यापक एवं प्रभावी अधिनियम है। इसमें 04 अध्याय व 26 धाराएँ है। धारा 01 में पर्यावरण पद की व्याख्या एवं परिभाषाएं है। धारा 02 B, C, D, E में विभिन्न प्रकार के प्रदूषण एवं प्रदूषकों को बताया गया है। धारा 03 में कानून बनाने की शक्तियाँ वर्णित है। धारा 8, 9 में औधोगिक क्रियाकलापों में प्रदूषण एवं नियंत्रण। धारा 10 में औधोगिक परिसर में अधिकारियों के प्रवेश, निरीक्षण की शक्तियाँ। धारा 11 में अधिकारियों को प्रदूषण के नमूने लेने की शक्ति। धारा 12, 13, 14 में नमूनो के विश्लेषण एवं व्याख्या। धारा 15, 16 में औधोगिक कम्पनियों के इसके विरूद्ध कार्य करने पर 5 से 7 वर्ष के सश्रम कारावास का प्रावधान तथा अर्थ दण्ड का प्रावधान है। धारा 19 में अपराध का संज्ञान लेने एवं न्यायालय की जानकारी है।

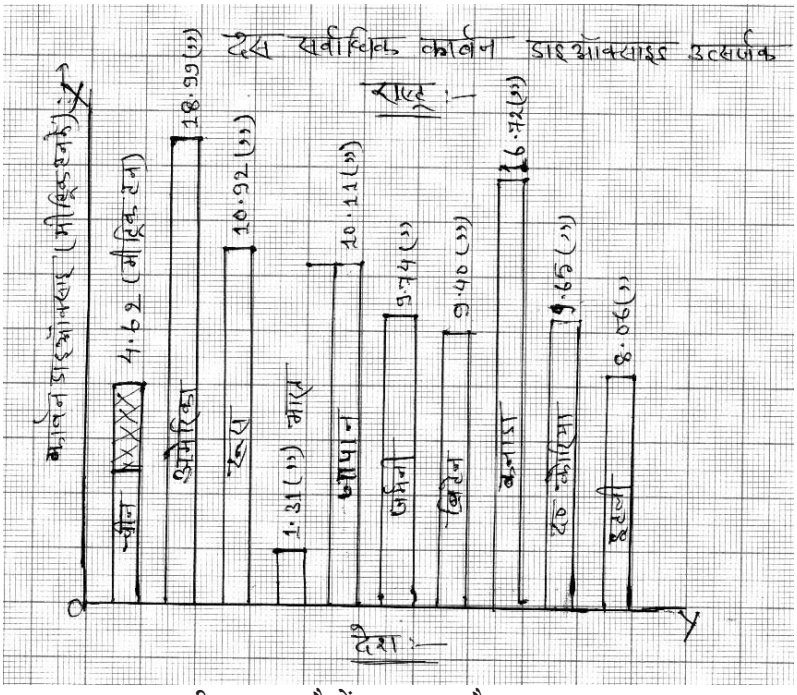

ग्रीण हाउस गैसों का स्तर और तापमान -

आधार मानक	1750	2005	2030	2100
ग्रीन-हाउस गैसें (पीपीएस)	300	425	477-490	550-600
तापमान	-	01	2.0-2.8	4.0-5.1

भारत पर कितना खतरा

जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र की अन्तराष्ट्रीय समिति (IPCC) की रिपोर्ट का एक प्रारूप कुछ समय पहले लीक हुआ था। इसमें भारत और पूरे दक्षिण एशिया पर जलवायु परिवर्तन के असर की बेहद गंभीर तस्वीर पेश की गई थी। हलॉकि बाद में इन खतरों को कम करके बताया गया, लेकिन लीक रिपोर्ट में जो बातें सामने आई, वे दिल दहला देने वाली है। इसकी खास बातें इस प्रकार थी।

सन् 2100 तक दक्षिण एशिया में समुद्र का जल स्तर कम से कम 40 सेंटीमीटर बढ़ जाएगा। इससे दूर-दूर तक तटीय इलाके डूब जाएंगे और कुछ सबसे घनी आबादी वाले शहरों के लोग कहीं और जाकर बसने को मजबूर हो जाएंगे। लाखों लोगों की जमीन और घरों में पानी भर जाएगा। एशिया की 88 प्रतिशत मूंगा चट्टानें खत्म हो जाएगी।

आइपीसीसी का कहना है कि हिमालय के ग्लेशियरों का पिघलना जारी रहेगा। इस की रिपोर्ट में कहा गया कि 2035 तक ग्लेशियर बिल्कुल खत्म हो सकते है। हलांकि इस पर विवाद खड़ा हो गया है और अब आइपीसीसी ने मान लिया है कि 2035 की समय सीमा सही नहीं है। बहरहाल इसके पिघलने की वजह से गंगा, ब्रह्मपुत्र और सिंधु जैसी नदियां मौसमी नदियां वन जाएंगी यानि ये गर्मियों में सूख जाएंगी। इनके असर से भारत में प्रति व्यक्ति जल की उपलब्धता 2050 में एक तिहाई तक घट जाएगी।

- ❖ तापमान बढ़ने की वजह से फसलों की उत्पादकता घटेगी।
- ❖ गर्मी और लू की वजह से मौतों की संख्या में भारी वृद्धि होगी।

भारत में विभिन्न क्षेत्रों का जी एच सी0 उत्सर्जन

क्षेत्र	कुल उत्सर्जन	वृद्धि प्रतिशत (प्रतिवर्ष)
उर्जा	61	4.4
कृषि	28	–
उद्योग	08	21.3
कचरा	02	7.3
स्न्न्ब्ब	01	–

पर्यावरण सरंक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

पर्यावरण सरंक्षण की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास की शुरूआत अंशत: संयुक्त राष्ट्र मानवीय पर्यावरण सम्मेलन 1972 (स्टॉकहोम) के पूर्व 'पर्यावरण सरंक्षण का हल' के रूप में था। संयुक्त राष्ट्र मानवीय पर्यावरण पर स्टॉकहोम में सम्मेलन 05 से 16 जून 1972 तक हुआ। मानवीय पर्यावरण सरंक्षण व नियंत्रण के दृष्टिकोण से यह प्रथम सबसे बड़ा प्रयास था। इस सम्मेलन के मुख्य योगदान थे– मानवीय पर्यावरण पर घोषणा, मानवीय पर्यावरण पर कार्य योजना, संस्थागत तथा वित्तीय व्यवस्थाओं पर प्रस्ताव, विश्व पर्यावरण दिवस की घोषणा पर प्रस्ताव, आण्विक शस्त्रों के परीक्षण पर प्रस्ताव, द्वितीय सम्मेलन बुलाए जाने का प्रस्ताव आदि।

स्टॉकहोम में 1972 में हुए पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन की 10वीं वर्षगाँठ मनाने के लिए विश्व के 105 देश नौरोबी में 10 मई से 18 मई 1982 को एकत्रित हुए तथा उन्होंने एक विशेष घोषणा अंगीकार किया, जिसे 'नौरोबी घोषणा-पत्र' नाम दिया गया। सम्मेलन के दौरान अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए। इनमें से एक वर्ष 2000 तथा उसके परे पोषणीय विकास के लिए दीर्घकालिक पर्यावरणीय रचना कौशल प्रस्तावित किया। 1992 के पृथ्वी शिखर सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन अभिसमय किया गया था। जिसके अनुसार यह गैसें (निवस ऑक्साइड, मीथेन, क्लोरोफ्लोरो कार्बन, CO_2 तथा अन्य औधोगिक गैसें) जिनके विसर्जन से हरित गृह प्रभाव होता है तथा पृथ्वी की उष्णता में वृद्धि होती है, उनके विसर्जन में कमी की जाएगी। इसी उद्देश्य से 01 दिसम्बर 1997 को एक सम्मेलन क्योटो में बुलाया गया। इसमें 150 देशों ने हिस्सा लिया। सम्मेलन के अन्तर्गत यह निर्णय लिया गया कि वर्ष 1990 को आधार वर्ष मानकर हरित गृह गैसों के विसर्जन में यूरोपीय संघ 8 प्रतिशत अमेरिका 7 प्रतिशत तथा जापान 6 प्रतिशत की कमी करेगा।

16 फरवरी 2005 से ग्लोबल वार्मिंग का मुकाबला करने के लिए दुनिया के 141 देशों के बीच हुआ क्योटो समझौता वर्षों से टालें जाने के बाद अन्तत: लागू हो गया। जहाँ 53 बड़े औधोगिक देशों ने इस प्रोटोकाल के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताई, वहीं दुनिया के सबसे बड़े प्रदूषणकर्ता संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया में इसे लागू करने से इनकार कर दिया। दोनों देश दुनिया के कुल प्रदूषण के एक चौथाई से ज्यादा के लिए जिम्मेदार है। अभी हाल में 12 नवम्वर 2007 को पारा (मर्करी) प्रदूषण पर वैश्विक सहमति हेतु नौरोबी में बैठक हुई। इसमें यूएनइपी के प्रशासनिक निदेशक एचिम स्टीनियर ने पारा (मर्करी) प्रदूषण से होने वाली हानियों पर अपनी चिंता जताई तथा लोगों को इसके लिए आगाह किया।

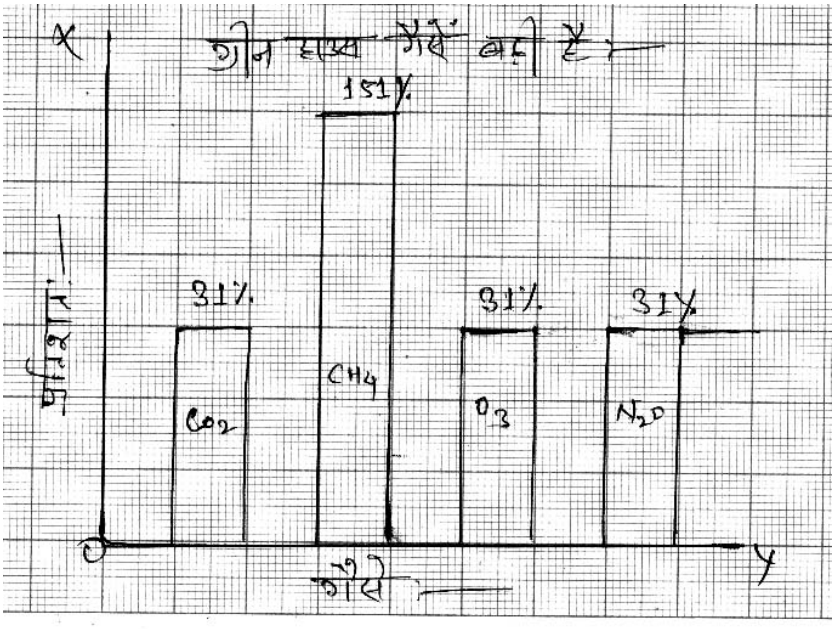

निष्कर्ष एवं सुझावः

जलवायु परिवर्तन को यकीनन गंभीरता से लेना चाहिए लेकिन अगर इसे बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है तो ऐसा देखना होगा कि कहीं ऐसा कोई अपने हित में तो नहीं कर रहा। जिस तरह से जलवायु परिवर्तन को लेकर विश्व के देश अलग-अलग खानों में बंटे है और विकसित, अविकसित और विकासशील देशों के हित टकरा रहे है उसमें ऐसी स्थिति का बनना कोई आश्चर्य नहीं। हां यह जरूर है कि हम अपने पर्यावरण को लेकर सजगता और बढ़ाएं। आखिर एक 'संस्टेनेवल हिमालयन इकोसिस्टम' हमारी जरूरत है इसलिए ऐसे वातावरण के निर्माण के प्रति कोई कोताही नहीं बरतनी होगी। फिर भी यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण सरंक्षण में ही विश्व मानव का कल्याण निहित है। हमें अपने स्वस्थ मनोशारीरिक विकास के लिए पर्यावरण सरंक्षण को अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर के सुझावों का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि पर्यावरण सरंक्षण से ही मानव जीवन संरक्षित रह सकता है। दूसरी ओर पूरा पर्यावरण गहरी साजिश का शिकार है। जहाँ स्वच्छ पर्यावरण आम आदमी की आवश्यकता है, अमेरिका और बेसिक देशों ने मिलकर विश्व मंच पर दुनिया के धनी लोगों की जीत सुनिश्चित कर दी है।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

i) J. Chaudhri - An Introduction to Development & Regional Planning.
ii) UNDP : The Role of PRIS & NGO in Disaster Management – 2002.
iii) JTPI : Insitute of Twon Planners of India — Vol2, No. 2, 2005.
iv) Arun Saxena - Perspective in Industrial Geography.
v) इंडियन इनीशियल नेशलन कम्यूनिकेशन — 2009.
vi) सविन्द्र सिंह – पर्यावरण भूगोल।
vii) श्रीवास्तव एवं राव - पर्यावरण एवं परिस्थैतिकी।
viii) कुरूक्षेत्र, योजना तथा इण्डिया टूडे।
ix) प्रतियोगिता दर्पण, हिन्दी मासिक।
x) भारत – 2010.
xi) दैनिक हिन्दुस्तान, प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहारा, द हिन्दू, दैनिक जागरण आदि समाचार पत्र का संकलन।

पी. एच. डी. (भूगोल विभाग) पटना वि. वि. पटना।

विकास के साथ पर्यावरण की सुध का रास्ता

संजय कुमार

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के उत्तरार्द्ध में आज मनुष्य और पृथ्वी के सहअस्तित्व की संभावना संदिग्ध लगने लगी है। लगता है इस ग्रह के स्वघोषित मनीषासम्पन्न किरायेदार अपने आवास को अब किसी और के लिए रहने लायक नहीं छोड़ने वाले। हाल ही में पर्यावरण से जुड़े काम के लिए अलगोर और इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज के अध्यक्ष के रूप में आर. के. पचौरी के संगठन को मिला नोबल शांति पुरस्कार दरअसल इस ग्रह के भविष्य से जुड़े सरोकारों के हल ढूंढ़ने के लिए लगाई गयी पुकार है। हम जिस राह पर चल रहे हैं, वह पृथ्वी के भविष्य को खतरे में डालेगी। हमने समय रहते राह न बदली, तो हम और हमारी भावी पीढ़ियां भी गहरे संकट से जूझेंगी। तरक्की व विकास की बाध्यताओं और पर्यावरण के प्रति सम्मान के बीच अंर्तसंबंध स्थापित किये बिना विकास अर्थहीन सिद्ध होगा। टिकाऊ विकास आज एक आकर्षक नारा भर नहीं, ऐतिहासिक आवश्यकता है। पूरी दुनिया में हो रही तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन के परिणाम हमारे सामने आने लगे हैं। पूर्वी भारत के बड़े हिस्सों में अभूतपूर्व बरसात और बाढ़, बढ़ते तापमान और गड़बड़ मौसम और घटता कृषि उत्पादन इसके कुछ लक्षण हैं। हाल ही में गठित जलवायु परिवर्तन परिषद को जटिल घरेलू और वैश्विक मुद्दों से जूझना होगा। अब इस बात के पर्याप्त वैज्ञानिक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि वैश्विक तापमान वृद्धि दीर्घावधि कुदरत की हर कुछ समय बाद होने वाली परिघटना नहीं, बल्कि मनुष्यों की गतिविधियों का परिणाम है। जलवायु और पर्यावरण परिवर्तन के मुद्दों से दो-दो हाथ करने को अब और नहीं टाला जा सकता।

इस मामले में हमारी चिन्ता छह क्षेत्रों को लेकर होनी चाहिए: पहला, पिछले दो बरस में ऊर्जा मूल्यनिर्धारण बद से बदतर हुआ है। जब तक परंपरागत स्रोतों से प्राप्त होनेवाली ऊर्जा वाजिब दाम पर मिलती रहेगी, वैकल्पिक अक्ष्य ईंधनों में निवेश टलता रहेगा। यह बात सभी समझ रहे हैं कि सस्ते तेल के जमाने लद चुके, कम्पनियां आधार मूल्य 27 डॉलर प्रति बैरल से बढ़ा कर लगभग सौ डॉलर प्रति बैरल कर चुकी हैं, लेकिन हम यही मानने पर तुले हैं कि तेल के दाम बढ़ने की प्रवृत्ति अस्थायी है, यह बदलेगी। संचयित ऑयल बांड और कच्चे तेल की वैश्विक कीमतों के बावजूद कम वसूली के परिणामस्वरूप इस बरस जारी होनेवाले बांड में निवेश भारी घाटे का सौदा होंगे। मुरली देवड़ा शायद भांप चुके हैं कि यह तेल कम्पनियों के लिए तो हानिकर होगा ही, वित्तीय औचित्य और जलवायु परिवर्तन से जुड़े सरोकारों के संदर्भ में भी गैरजिम्मेदारी होगी। पेट्रोलियम उत्पादों के लगभग रोज बदलते मूल्यनिर्धारणों की सिरदर्दी तो खैर देवड़ा जी को विरासत में मिली है, लेकिन पिछले कुछ बरसों में स्थिति बिगड़ती ही चली गयी हैं। शुल्कदर और पेट्रोलियम मूल्य को राजनीतिक दबावों से मुक्त रखना कसी भी ऊर्जा रणनीति का अरिहार्य अंग है। दूसरे, मांग में कमी लाने के अलावा वैकल्पिक ईंधन के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। इस मामले में सौर ऊर्जा आदि की बात की जाती है, लेकिन सौर ऊर्जा के कुशल उपयोग, और उसके हिसाब से पूरी तकनीक विकसित करना एक बहुत बड़ी चुनौती है। कई दूसरे विकल्प भी सामने आए हैं, लेकिन वे बाजार की जरूरतों के हिसाब से अपनी अपनी कार्यकुशलता अभी तक प्रमाणित नहीं कर सके।

तीसरा, अक्षय ऊर्जा मंत्रालय का अधिभार परम्परागत रूप से राजनीतिक स्तर पर हल्के-फुल्के मंत्रियों के पास रहा है। लेकिन अक्षय ऊर्जा संबंधी शोध और अनुसंधान, और जगह हो रहे प्रौद्योगिकी संबंधी बदलावों से दो कदम आगे रहना, कृषि अपशिष्ट-बायोगैस-सौर ऊर्जा जैसे कई अक्षय स्रोतों के मामले में हमारी अपेक्षाकृत बढ़त का दोहन जैसे मुद्दों का हमारी मुख्यधारा ऊर्जा नीतियों के अंग के तौर पर समेकन जिस स्तर के राजनीतिक अधिकार और इच्छाशक्ति की मांग कर करता है, वह अब तक तो कभी दिख नहीं पाई।

चौथा, भारत के अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों के मुद्दों पर-प्रदूषण के दोषी हर्जाने की भरपाई करें और विकासशील देशों को परिमाणात्मक नियंत्रण और आर्थिक गतिविधि के उनके प्रतिमान में परिवर्तनों को स्वीकार करने से मुक्त रखा जाये, इस सिंद्धान्त पर आधारित हमारी पारंपरिक स्थिति से अब तक हमारा काम बखूबी चला है। यह भी सच है कि प्रदूषण का कुल संग्रह (प्रवाह

नहीं) प्राथमिक रूप से विकसित देशों की देन है और शमन का आधारभूत भारत उन्हें ही झेलना चाहिए। फिर भी, जैसे-जैसे उभरते बाजार आर्थिक गतिविधि की रफ्तार तेज करेंगे, प्रदूषकों के प्रवाह में उनका योगदान अधिकाधिक बढ़ेगा और भारत और चीन जैसे जनबहुल देशों की भूमिका भी बढ़ेगी।

तब अमेरिका और अन्य देशों को इस बात पर राजी करना कठिन हो जायेगा कि हमें ऐसे दायित्वों से पूरी तरह मुक्त बना रहने दिया जाये। संक्षेप में कहा जाये तो दायित्वपूर्ति की छूट तो हमें अवश्य मिलनी चाहिए, लेकिन जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर हमें नेतृत्व सम्हालना है, तो दायित्वों से पूरी तरह मुक्त रखे जाने का दबाव बनाए रखना कठिन हो जायेगा। पांचवां, भारत के प्रदूषण के सबसे बड़े स्रोतों में से एक ग्रामीणों द्वारा खाना पकाने के लिए गोबर-लकड़ी जैसे ईंधन का उपयोग है। इस प्रक्रिया में पैदा होनेवाले कज्जल, धुंए और अन्य अपशिष्टों में भारी मात्रा में कार्बन होता है। ग्रामीणों की ईंधन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों के दोहन, गैस का इस्तेमाल बढ़ाने या अक्षय ऊर्जा ईंधनों को प्राथमिकता सूची पर सर्वोच्च स्थान दिया जाना जरूरी है।

छठा, ऊर्जा नीति के मुद्दे पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस, वन और पर्यावरण, कोयला, बिजली, गैर-परम्परागत ऊर्जा, विदेश मंत्रालय जैसे मंत्रालयों और संगठनों के बीच छितरे हैं। राजनीतिक मजबूरियों के चलते शायद किसी भी साझा सरकार के प्रधानमंत्री एक सचमुच अलग, स्वतंत्र ऊर्जा मंत्रालय का गठन न कर पायें। समेकित ऊर्जा नीति पर कई समझदारी भरी सिफारिशें प्रस्तुत करनेवाली किरीट पारेख की रिपोर्ट में क्रियान्वयन रणनीति का उल्लेख तक नहीं दिता। इन स्थितियों में एक ऐसे समन्वयक निकाय की जरूरत दिखती है, जो ऊर्जा मुद्दों से जुड़े मंत्रालयों और संगठनों को एक सूत्र में बांध पाये। जरूरी यह भी है कि प्रधामनंत्री कार्यालय के अंतर्गत एक राष्ट्रीय ऊर्जा आयोग का गठन किया जाये। और अंत में हमें विकास तो करना है, लेकिन विकास का टिकाऊ होना आवश्यक है। इसके लिए जलवायु परिवर्तन और विकास बाध्यताओं से निपटना जरूरी होगा। अगर समय रहते शुरुआत न की गयी तो पृथ्वी और इसके साथ ही हमारी भावी पीढ़ियों का अस्तित्व भी संकट में पड़ जायेगा। हमें अपनी नीतियों के आधार की व्यापक समीक्षा करनी ही होगी।

विकास के नाम पर पर्यावरण का बंटाधार

खबर है कि उद्योगपति रतन टाटा ने बड़ी परियोजनाओं के कार्यान्वयन में हो रही देरी के लिए प्रधानमंत्री को लिखा है। सरकार के पूंजी निवेश कमिशन के अध्यक्ष के नाते, उनका आकलन है कि भूमि व अन्य संसाधनों के आबंटन में हो रही देरी के कारण लगभग 50 बिलियन अमेरिकी डॉलर से अधिक का निवेश अटका पड़ा है। अटके निवेश की इस सूची में दक्षिण कोरियाई कॉरपोरेट पॉसको, यूनाइटेड किंग्डम के लक्ष्मी मित्तल और भारत के एस्सार, रिलायन्स और जिंदल जैसी बड़ी कंपनियों की बड़ी-बड़ी स्टील, थर्मल, ऊर्जा, खनन और अल्यूमिनियम परियोजनाएं शामिल हैं। जाहिर है, इस सूची में खुद टाटा भी शामिल हैं।

अब यहां प्रश्न यह है कि प्रधानमंत्री और कर क्या सकते हैं? पिछले कुछ वर्षों में, लगभग सभी सरकारों ने रतन टाटा की सूची में शामिल परियोजनाओं को अमलीजामा पहनाने का काम किया है। रुकावट समझे जा रहे कानूनों (जैसे पर्यावरण संबंधी) की हवा निकाली है। करों में छूट मुहैया कराई है और औने-पौने दाम पर भूमि व अन्य संसाधनों पर मालिकाना हक सौंपा है। यही नहीं, सारी राजनीतिक-प्रशासनिक ताकत इस तरक्की के पीछे लगा दी है। परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभाव के आकलन की प्रक्रिया को 'चाक-चौबंद' बनाने के लिए सरकारों ने काफी मेहनत की है। आजकल प्रयुक्त हो रहे जुमलों में बात करें तो सरकार उद्योग जगत की 'श्रेष्ठता' के आगे नतमस्तक है। परियोजना रिपोर्टों के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण चरण होता है, सरकार द्वारा जन-सुनवाई का आयोजन। यानी प्रभावित समुदाय के विचारों-समस्याओं को सुनने-समझने और उनके समाधान की कोशिश। ये प्रक्रिया तो पहले से ही कमजोर थी, क्योंकि यहां लोगों को सुना भर जाता है। जन-सुनवाई में निकली बातों पर किसी ने कभी कान भी नहीं धरा है, इसलिए जरूरत इस बात की थी कि इसकी प्रक्रिया, और भी सक्षम बनाई जाये जिससे लोगों के केवल विचार ही न जाने जायें, बल्कि उन पर आवश्यक कार्यवाही भी हो। लेकिन ऐसा किया नहीं गया। पर्यावरण और वन मंत्रालय ने नियम-कायदे ही बदल डाले। बदलाव मनचाहे लोगों के भाग लेने का मार्ग प्रशस्त करने की नीयत से किया गया। लोगों के हक की लड़ाई लड़ने वाले 'उपद्रवियों', जो जन समुदाय को बड़ी परियोजनाओं का विरोध करने के लिए भड़काते हैं, को इनमें भाग लेने के अयोग्य ठहरा दिया गया।

एस्सार स्टील प्रोजेक्ट का मामला ही लेते हैं। गरीब जंगलवासी उस बहुमूल्य खनिज का उपभोग करते हैं, जिसे एस्सार कंपनी चाहती है। जन-सुनवाई यहां भी लगी। 'डाउन-टू-अर्थ' की संवाददाता भी यहां गयी थी। भारी पुलिस-बंदोबस्त के बीच

ये कर्मकांड संपन्न हुआ। पुलिस-बंदोबस्त का कारण ये बताया गया कि ये पूरा क्षेत्र नक्सल प्रभावित है। लेकिन इसी बहाने ग्रामीण नेताओं को जेल में डालने का अवसर भी सरकार को मिला। हमारी सहयोगी को 'बाहरी' करार देकर इसमें भाग लेने से रोक दिया गया। लेकिन छत्तीसगढ़ में एस्सार के डायरेक्टर एच.एस. सेठी मीटिंग में शामिल थे। जन-सुनवाई से बाहर आते आदिवासियों ने आरोप लगाया कि परियोजना के लिए सहमति के कागजात पर उनसे जबरन दस्तखत कराए गये हैं।

परियोजना-दर-परियोजना दिखाए गये सपनों पर से स्थानीय लोगों का यकीन उठता जा रहा है। लौह अयस्क, बॉक्साइट और इनसे संबंधित स्टील और अल्यूमिनियम परियोजनाओं जैसी खान परियोजनाओं के लिए मंजूरी की प्रक्रिया सरकार ने तेज कर दी है, लेकिन लोग संतुष्ट नहीं हैं। और उन्हें होना भी क्यों चाहिए? भारत के निर्धनतम लोग इस भू-संपदा के आस-पास रहते हैं। उन्हें चिंता है कि इन संसाधनों का दोहन, उन्हें और निर्धन बनाएगा क्योंकि इससे उनकी जल-जंगल-जमीन छिन जायेगी और पर्यावरण का बंटाधार होगा, सो अलग। आखिर यही तो उनकी उत्तरजीविता का आधार है।

इन परियोजनाओं को पारित करते वक्त उनकी दुश्चिंताओं पर ध्यान भी दिया जाता है, उन्हें यकीन नहीं है। चूंकि आश्वस्त नहीं हैं, इसीलिए रुकावट डालते हैं, बात अदालत तक ले जाते हैं, या फिर विरोध-प्रदर्शनों पर उतर आते हैं। यही कारण है कि परियोजनाएं पास भले हो जाये, उनके पूरे होने में विलंब हो जाता है। विश्वास के इस संकट के दरम्यान सरकार को क्या करना चाहिए? आप यही तो कहेंगे कि नियम-कायदों को और दुरुस्त करना चाहिए, ताकि विश्वसनीयता बहाल हो।

सरकार ने किया ठीक उल्टा है। पर्यावरण संबंधी अनुमति की प्रक्रिया में एक बड़ी खामी है। परियोजना-रिपोर्ट तैयार करने के लिए सलाहकार, परियोजना के पैरोकार नियुक्त करते हैं। इसे बदलने के बजाये, सरकार ने बस इतना किया है कि उसने इन सलाहकारों को स्वैच्छिक पंजीकरण की सलाहभर दी है। और इस पंजीकरण के काम को भी उद्योग जगत की एक संस्था को सौंप दिया है। यहीं पे खड़ी होती है, परस्पर विरोधी हित-चिंता की बात। हमें आश्चर्य हुआ जब पांडिचेरी के निकट बंदरगाह के निर्माण की परियोजना रिपोर्ट में डीटीई ने गड़बड़ी ढूंढ निकाली? इसके लिए एक ग्लोबल सलाहकार कंपनी द्वारा किये गये आकलन में तमाम बातों पर पर्दा डाल दिया गया है। अन्य बातों के साथ, कटाव और प्रदूषण में वृद्धि के कारण पांडिचेरी नगर के वास्तविक खतरों को भी छुपा दिया गया है। अपने जांच निष्कर्षों के साथ हमने इस सलाहकार संस्था से सम्पर्क किया। जवाब यह मिला कि बंदरगाह के प्रमोटरों द्वारा तय किये विचारणीय विषयों के अनुसार उन्होंने काम किया है। प्रमोटर कंपनी सुभाष प्रोजेक्ट्स एंड मार्केटिंग लिमिटेड से संपर्क करने पर बताया गया कि परियोजना रिपोर्ट वास्तव में एक तात्कालिक आकलन भर है, विस्तृत आकलन जल्द शुरू किया जा रहा है। अब यहां ये अलग विषय है कि बगैर व्यापक आकलन के किस प्रकार, कई एक करोड़ रूपए की इस परियोजना को अनुमोदित कर दिया गया।

इन परिस्थितियों में, इस परियोजना को बचाने के लिए प्रधानमंत्री क्या करेंगे? क्या पूरी आकलन प्रक्रिया की समाप्ति के लिए कहेंगे? या फिर ये जानना चाहेंगे कि प्रक्रिया की अनदेखी कर परियोजना का अनुमोदन कैसे किया गया और नियामक संस्थाओं की मजबूती के लिए काम करेंगे? क्या वे मांग करेंगे कि ऐसे आकलनों के लिए, परियोजना के पक्षधरों के स्थान पर एक वैधानिक संस्थान पैसे खर्च करे? ऐसे प्रत्येक आकलन के लिए उद्योग जगत से एक तरह का कर वसूला जाये, तभी इनकी विश्वसनीयता बढ़ेगी। आशा है कि वे ये कहेंगे कि इस प्रक्रिया को बेहतर बनाना उद्योग जगत के व्यापक हित में है। यहां हमें स्पष्ट समझना चाहिए कि लोकतंत्र और दक्षता की इस लड़ाई में दक्षता ही विजयी होगी। सैन्य बल लगाए जा सकते हैं, प्रक्रियाओं पर मिट्टी डाली जा सकती है। लेकिन तब देश, देश नहीं होगा, भ्रष्टाचार का बोलबाला होगा। मान जाइए, लोकतंत्र को एक मौका तो दीजिए।

संदर्भ सूची:

- Achieving Broad-Based Sustainable Development : Governance, Environment, and Growth with Equity/James H. Weaver, Michael T. Rock and Kenneth Kusterer.
- Environment Crisis and Sustainable Development/Sunderlal Bahuguna, Vandana Shiva and MN Buch.
- Environment and Development/edited by G.S. Monga
- Environment and Sustainable Development/K.A. Rasure

शोध छात्र, नेट

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

पर्यावरण की राजनीति

डॉ. बबलू कुमार

बावजूद इसके कि उम्मीदें बहुत ज्यादा नहीं थीं, बाली में 14 दिन तक चले संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सम्मेलन ने अंत में बहुत निराश नहीं किया। डर यही था कि बाली में भी क्योटो का इतिहास दोहराया जायेगा। सम्मेलन के तेरहवें दिन तक सहमति के आसार नहीं थे। ग्लोबल वार्मिंग में सबसे ज्यादा योगदान देने वाला अमेरिका अड़ा हुआ था कि कौन-सा देश कितना कार्बन उत्सर्जन कम करेगा इसे उस देश पर ही छोड़ देना चाहिए। यूरोपीय संघ के देशों की आपत्ति भारत और जी-77 देशों के रुख को लेकर थी, उसे लगता था कि इस देशों के दबाव के चलते समझौते के मसौदे में विकासशील देशों के प्रति अपेक्षित सख्ती नहीं दिखाई जा रही थी। भारत व चीन की दिक्कत यह थी कि सोच इतनी सख्त नहीं होनी चाहिए कि वह उनके विकास को ही रोक दे। और यह भी, कि विकसित देश कम कार्बन उत्सर्जन देने वाली तकनीक विकासशील देशों को देने को राजी हो जायें। लेकिन आखिरी दिन सभी देशों ने लचीला रुख अपनाया और एक मसौदे पर सहमति बन गयी। यह सहमति इतना तो बताती ही है कि ग्लोबल वार्मिंग की दहशत अब उस हद तक तो पहुंच ही गयी है कि इसकी वजह से पुरानी जिद की बर्फ पिघलने लगे। गौर से देखें तो बाली में सबकी रजामंदी से बना मसौदा इससे ज्यादा कुछ है भी नहीं। बाली में तो आगे की बातचीत का रोडमैप भर तैयार हुआ है। कई दौर की यह बातचीत अगर ठीक से चली, तो दो साल में किसी संधि के सामने आने की उम्मीद है। लेकिन मसला जितना डेढ़ा है उसमें शायद बातचीत से ज्यादा बाधाओं के दौर आएंगे।

ग्लोबल वार्मिंग को जब हम मानव सभ्यता के लिए खतरा मानते हैं, तो उम्मीद यही बांधते हैं कि दुनिया के सारे देश अपने मतभेद और अपने निजी हित भूलकर सामने आएंगे और इस संकट से निपटने का रास्ता तैयार करेंगे। लेकिन समस्या एक साथ आने की मंजिल और दुनिया के मौजूदा राजनीति के बीच एक पुल बनाने की है। यह काम कठिन इसलिए है कि दुनिया की राजनीति के मौजूदा समीकरण कई तरह की असमानताओं, भेद-मतभेद, विश्वास अविश्वास पर खड़े हैं, जो हमें जितना एक दूसरे से जोड़ते हैं उतना ही तोड़ते हैं। मसलन विकसित देशों को लगता है कि अगर विकासशील देश विकास के रास्ते पर आगे बढ़ेंगे तो कार्बन उत्सर्जन और बढ़ाएंगे, यानी खतरा और बढ़ेगा, जबकि विकासशील देशों का तर्क है कि ग्लोबल वार्मिंग के बहाने उनके विकास को क्यों रोका जाये? लेकिन हमें रास्ता भी ऐसी ही ढेर सारी उलझनों के बीच से निकालना है। इसलिए बाली सम्मेलन की पूरी बहस और नतीजों से बहुत निराश होने की जरूरत नहीं है। यह रास्ता रातोरात तैयार होने वाला नहीं है। बस इतना ध्यान जरूर रखना होगा कि पर्यावरण की यह राजनीति कहीं ग्लोबल वार्मिंग की रफ्तार के मुकाबले बहुत सुस्त न पड़े।

पर्यावरण की सुध

मौसम के बिगड़ते मिजाज और बढ़ते वैश्विक ताप को लेकर पिछले कुछ सालों में विकसित देशों की चिंता बढ़ी है। इस पर काबू पाने के लिए समूह आठ के सदस्य देश लगातार विचार- विमर्श करते रहे हैं। ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन कम करने के मकसद से करीब दस साल पहले क्योटो समझौता हुआ था। मगर अमेरिका अब तक इस पर हस्ताक्षर करने से कन्नी काटता रहा है। जर्मनी के बर्लिन में चल रही समूह आठ की बैठक में इस बार फिर ग्रीन हाउस गैसों की वजह से जलवायु परिवर्तन के बढ़ते खतरे को लेकर चिंता जताई गयी है। सभी सदस्य देशों ने सन दो हजार पचास तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में पचास प्रतिशत कमी लाने का संकल्प लिया है। अमेरिका ने भी हामी भरी है। मगर उसका कहना है कि इसमें भारत और चीन जैसे देशों का सहयोग भी जरूरी है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत, चीन, ब्राजील दुनिया के बड़े प्रदूषणकारी देशों में शुमार हो गये है, इसीलिए इन्हें किसी भी दलील के आधार पर रियायात नहीं मिलनी चाहिए। मगर अमेरिका अब भी प्रति व्यक्ति के हिसाब से ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में सबसे आगे है। ऐसे में इससे पर्यावरणीय खतरों से निजात पाने के उपायों पर अमल की अधिक अपेक्षा की जाती है।

पर्यावरणविद् काफी समय से इस बात के लिए आगाह करते रहे हैं कि विकास के नाम पर प्रकृति का अंधाधुंध दोहन नहीं रोका गया तो इसका नतीजा विनाशकारी हो सकता है। मगर विकास और पारिस्थितिकी के द्वंद्व को सुलझाने के बजाय

हमेशा पर्यावरण की बलि चढ़ाई जाती रही है। इसी का नतीजा है कि ग्लेशियर और ध्रुवीय क्षेत्रों के लगातार पिघलने से समुद्र का स्तर ऊंचा उठता गया है। इससे तटीय इलाकों में तबाही की आशंका बढ़ी है। हाल के कुछ सालों में सुनामी और कैटरीना जैसी प्राकृतिक आपदाओं के नतीजे हम देख चुके हैं। वनों के कटने, ऊर्जा और विकास दर ऊंची रखने के मकसद से औद्योगिक इकाइयों को अंधाधुंध प्रोत्साहन दिये जाने की वजह से ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन काफी तेजी से बढ़ा है। पिछले दो महीनों में विश्व बैंक और संयुक्त राष्ट्र भी यह बात स्वीकार कर चुके है कि कई देशों को अपने विकास की कीमत कुदरती संपदा के भारी नुकसान के रूप में उठानी पड़ रही है। संयुक्त राष्ट्र ने चेतावनी दी थी कि अगर ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कटौती पर तत्काल अमल नहीं किया गया तो समुद्रों बढ़ते जल स्तर और शक्तिशाली तूफानों से भारी तबाही की आशंका लगातार बनी रहेगी। इस समस्या से पार पाने के उपायों पर विचार-विमर्श के लिए संयुक्त राष्ट्र ने बीस देशों के चार सौ पर्यावरणविदों और विशेषज्ञों की एक समीति बनाई थी। इस समिति ने पारिस्थितिकी असंतुलन के चलते पैदा होने वाले खतरों के विभिन्न पहलुओं का व्यापक अध्ययन करने के बाद पिछले महीने कुछ उपाय सुझाए थे। इनमें जीवाश्म ईंधन की जगह लकड़ी और जैव ईंधन, ऊर्जा के लिए पवन और सूर्य जैसे अक्षय स्रोतों के इस्तेमाल, कृषि में कार्बन उत्सर्जन को अधिक से अधिक अवशोषित करने की क्षमता और कम पानी की खपत वाली फसलों को बढ़ावा देने की जरूरत पर बल दिया गया था। इन उपायों पर अमल से शुरू में कुछ दिक्कतों का सामना करना पड़ सकता है, मगर विकास की रफ्तार का बुरा असर नहीं पड़ेगा। देशों को अपने सकल घरेलू उत्पाद में हर साल महज 0.2 प्रतिशत का नुकसान उठाना पड़ेगा। दुनिया के सामने खड़े सबसे भयावह मानवीय संकट से उबरने के लिए इतने-से त्याग पर शायद ही किसी देश को परेशानी होनी चाहिए।.

पर्यावरण बचाने के वास्ते, कुछ आसान से रास्ते

यह मौका है जबकि हम गंभीर होकर हवा, पानी, जमीन जैसी जीवन की बुनियादी जरूरतों की रक्षा के लिए अपने योगदान पर विचार कर सकते हैं। रोजमर्रा के जीवन में छोटी-छोटी सावधानियों से हम अपनी धरती और उसकी प्राकृतिक संपदा को बचाने में बेशकीमती भूमिका निभा सकते हैं। क्या हो सकती हैं वे सावधानियां, यह जानने के लिए हमने पर्यावरणविद अनुपम मिश्र, वंदना शिवा और सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट में सहायक निदेशक अनुनिता रॉय चौधरी से बातचीत की। इन विशेषज्ञों से बातचीत के आधार पर हम आपको कुछ सुझाव दे रहे हैं। अगर हर नागरिक इन पर अमल करे, तो दिल्ली भी स्वच्छ, सुंदर और स्वस्थ शहर में तब्दील हो सकती है आइये, एनवायरनमेंट डे पर हम अपनी छोटी पहल से बड़ा मकसद हासिल करें।

पानी: यह बहुत कीमती है, घर में रोजमर्रा की हर गतिविधि में पानी की बचत करें। नहाने के लिए शावर की जगह बाल्टी का इस्तेमाल करें। घर में इस्तेमाल पानी को नाली में बर्बाद न करें। उसका प्रयोग गमलों में या आंगन में पेड़-पौधों को सींचने के लिए करें।

पेड़: कागज पेड़ से बनता है। कागज बचाएं, पेड़ बचाएं। पेड़ जीवनरक्षक हैं, ज्यादा से ज्यादा पेड़ लगाएं। जागरूक नागरिक बनें। आसपास पेड़ काटे जाने जैसी घटनाओं का विरोध करें।

कचरा: नियत स्थानों पर ही कचरा डालें। उसे इधर-उधर न फैलाएं। पॉलिथीन की जगह जूट या कागज के थैलों का इस्तेमाल करें। पैकेज्ड फूड की जगह फ्रेश फूड खरीदें। समारोहों के लिए प्लास्टिक के ग्लास और प्लेटों का इस्तेमाल न करें।

वाहन: प्राइवेट वाहनों के बजाय पब्लिक ट्रांसपोर्ट का ज्यादा इस्तेमाल करें। डीजल ज्यादा प्रदूषण फैलाता है, इससे चलने वाले वाहनों का कम उपयोग करें। छोटी दूरियों के लिए हो सके तो पैदल जायें या साइकल/रिक्शे का उपयोग करें। निजी वाहनों की सर्विसिंग, प्रदूषण जांच कराते रहें। रेड लाइट पर इंजन बंद कर दें। ऑफिस के लिए कार पूल करें।

बिजली: दिन में प्राकृतिक रोशनी से काम चलाएं। जरूरत न होने पर लाइट बंद कर दें। एसी/गीजर का सीमित उपयोग करें। ऊर्जा की कम खपत वाले उपकरणों का प्रयोग करें। पानी गर्म करने के लिए सोलर सिस्टम लगाए।

उपरोक्त बातों को लेकर आस- पड़ोस में भी जागरूकता फैलाएं।

संदर्भ सूची:

- Environmental Movements in India : Politics of Dynamism and Transformations/Padam Nepal.
- Nature as value: ecological politics in India/Smitu Kothari and Imtiaz Ahmad.

पताही, मुजफ्फरपुर (बिहार)